हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि

डॉ॰ आदर्श सक्सेना

एम॰ ए॰ (इंगलिश, हिन्दी) पी एच॰ डी॰



सूर्य प्रकाशन मन्दिर
बीकानेर

हिन्दी के

डॉ॰ आदर्श सक

और उनक

शिल्पविधि

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

•

प्रकाशक
सूर्य प्रकाशन मंदिर
बिस्सों का चौक
बीकानेर

•

आवरण तूलीका
संस्करण जुलाई, १९७१

मूल्य [illegible]

प्राक्कथन ६–१४
भूमिका १७–६०

(क) 'अचल' एव आचलिकता स्वरूप विवेचन

'अचल' शब्द—व्युत्पत्ति एव परिभाषा, अर्थ—अभिधामूलक, लक्षणा-मूलक, व्यजनामूलक, प्रयोग।

अचल एव आचलिकता, अर्थ प्रयोग, निर्माणक तत्त्व, शहरी और ग्राम्य अचल की समस्या, मत-वैभिन्य, कारण, निष्कर्ष।

आचलिकता—प्रादेशिकता—स्थानीय-रग—आचलिक सस्पर्श—परस्पर सबध, अतर, भारतवर्ष की विशेष स्थिति, निष्कर्ष।

(ख) कथा-साहित्य एव औपन्यासिक शिल्प

कथा-साहित्य के नाना रूप, सामान्य आवश्यकताए, शिल्प विधियो का अतर—उपन्यास और कहानी, उपन्यास और नाटक, उपन्यास और महाकाव्य, औपन्यासिक शिल्प-विधि की विशिष्टता एव महत्त्व।

शिल्प-तत्त्व, शिल्प-विधि एव शैली, औपन्यासिक शिल्प विधि, परिवेश एव वातावरण का स्थान, आचलिकता की अवतारणा की दृष्टि से महत्त्व, निष्कर्ष।

(ग) आचलिक उपन्यास : स्वरूप एव विशेषताए

आचलिक उपन्यास—परिभाषा एव स्वरूप, विशिष्टताए, महत्त्व।

प्रथम अध्याय ६१–८७

हिन्दी उपन्यासो मे आंचलिकता का विकास

प्रस्तावना, आचलिकता—प्रारभिक स्थिति, सभ्यता का विकास एव अचलो पर उसका प्रभाव, रोमाण्टिक आन्दोलन, विभिन्न दिशाए, साहित्य पर प्रभाव, रोमाण्टीसिज्म, प्रादेशिकता एव आचलिकता।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का काल विभाजन—

(क) प्रेमचन्द-पूर्व युग मे आचलिकता—सामान्य प्रवृत्तिया, आचलिकता का स्थान, विशिष्टताए, निष्कर्ष।

(ख) प्रेमचन्द-युग मे आचलिकता—युगीन जीवन की विशिष्टता, साहित्य पर प्रभाव, नवीन प्रवृत्तिया, यथार्थवाद के विभिन्न रूप, आचलिकता का स्थान, निष्कर्ष।

(ग) प्रेमचन्दोत्तर युग मे आचलिकता—युगीन जीवन एव समस्याए, नवीन प्रभाव, औपन्यासिक प्रवृत्तिया, स्वातन्त्र्योत्तर जीवन, साहित्यकार की दायित्वानुभूति, प्रयोगवाद और उपन्यास, आचलिक प्रयोग—आवश्यकता एव महत्त्व, निष्कर्ष।

द्वितीय अध्याय ८८–१२७

हिन्दी आंचलिक उपन्यासो का वर्गीकरण

प्रस्तावना वर्गीकरण की कठिनाइया, विभिन्न विद्वानो के मतो का अध्ययन, मत-वैभिन्य, कारण, निष्कर्ष।

वर्गीकरण—अनाचलिक तथा आचलिक, अनाचलिक उपन्यास, अनाचलिकता के कारण, निष्कर्ष।

आचलिक उपन्यासो का वर्गीकरण—शुद्ध आचलिक, अर्द्ध आचलिक, वर्गीकरण का आधार, आचलिक तत्त्वो का सचेतन अथवा अवचेतन प्रयोग, कृतियो की प्रवृत्ति म अतर, परिणाम।

शुद्ध आचलिक के भेद—जन-जीवन मे सबधित, जन-जातियो से सबधित।

जन-जीवन मे सबधित—

मैला आचल, परती परिकथा, जुलूस, रतिनाथ की चाची, नई पौध, दु खमोचन, लोक परलोक, काका, हौलदार, चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी, ब्रह्मपुत्र, पानी के प्राचीर, हिरना सावरी, अलग-अलग वैतरणी, आठवी भावर।

जन-जातियो से सबधित—

रथ के पहिये, सागर लहरें और मनुष्य, वरुण के बेटे, कब तक पुकारू, सूरज किरन की छाह जगल के फूल, वन के मन मे, कोहरे मे खोए चादी के पहाड।

अर्द्ध आंचलिक—आंचलिक उपन्यासों में अन्तर, सामान्य उपन्यासों से अन्तर, आंचलिक तत्त्वों की संयोजना की विशिष्टता, औपन्यासिक तत्त्वों का रूप, उदाहरण—

मुक्तावती, नेपाल की वो बेटी, आदित्यनाथ, सती मैया का चौरा, लोहे के पंख नदी फिर बह चली, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, सेठ बांके मल, बहती गंगा, लोक लाज खोई, मोरझाल, गगास के तट पर।

वर्गीकरण के अन्य आधारों पर विचार, आंचलिक उपन्यासों के संबंध में उनकी अनुपयुक्तता, प्रस्तुत वर्गीकरण का महत्त्व, निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय १२८–१७२

वस्तु-शिल्प

औपन्यासिक कथा वस्तु की सामान्य प्रवृत्ति, आंचलिक कथा-वस्तु की विशिष्ट प्रवृत्ति, बिखराव, बिखराव के कारण, कथागत बिखराव, जीवनगत बिखराव।

कथा वस्तु की विशिष्टता—क्षेत्रीय जीवन की अभिव्यक्ति, क्षेत्रीय जीवन के रूप, स्थान विशेष का जीवन, वर्ग-विशेष का जीवन, समस्याएं, जीवन प्रणाली की विशिष्टता।

यथार्थ जीवन का आधार, कल्पना का स्थान, काल्पनिक यथार्थ की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठा, भावनात्मक पृष्ठ-भूमि के तत्त्व।

कथा की योजना—कथा का व्यापक कलेवर एवं विभिन्न दिशाएं, बिखराव की प्रवृत्ति, आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं का स्थान, आवश्यकता, परिणाम।

कथा वस्तु और प्रेम-तत्त्व—प्रेम तत्त्व का स्थान, विशिष्टता, मुख्य कथा से संबंध, कथानक में माधुर्य की अवतारणा, नीरस यथार्थ में सरसता का समावेश, तत्त्व के नाना रूप।

कथा-वस्तु और आंचलिक जीवन की समस्याएं—समस्याओं का व्यापक कलेवर एवं नाना दिशाएं प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश, उद्देश्य, नवीन जागृति एवं अंचल, परिणाम।

समाहार की विशिष्टता—(क) अपूर्णता का आभास, सुन्दर भविष्य की ओर संकेत (ख) निश्चित अन्त, पूर्णता का आभास, आदर्श की प्राप्ति (ग) अपवाद, निष्कर्ष।

चतुर्थ अध्याय १७३–२०२

पात्र एवं चरित्र-चित्रणगत शिल्प

प्रस्तावना।

(क) पात्र-कल्पना—पात्रों की विशिष्टता, वर्ग विभाजन के आधार, उच्च वर्ग—प्रवृत्तियां, विशिष्टताएं। मध्यवर्ग—विभाजन के आधार, विभिन्न स्तर, प्रवृत्तियां। निम्नवर्ग—पात्रों की विशिष्टता, महत्त्व।

(ख) सामान्य विशिष्टताएं—प्रतिनिधि पात्रों का बाहुल्य, व्यक्तिगत गुणों का स्थान, सामान्य पात्रों की स्थिति, विकसित एवं अविकसित पात्र, क्षेत्रीय विशेषताओं की पात्रों में अभिव्यक्ति, उपन्यासकार का जीवन-दर्शन और पात्र, प्रगतिशील पात्र और सामाजिक पुनर्निर्माण, निष्कर्ष।

(ग) चरित्र-कल्पना—हल्के-गहरे रंग, परिणाम, बाह्य सौन्दर्य, रूपाकृति, वेश-भूषा एवं वस्त्राभरण, आंतरिक सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, गुण-सौन्दर्य, व्यापार-सौन्दर्य, उपदेश-सौन्दर्य, विशद चित्रण की आवश्यकता एवं महत्त्व, निष्कर्ष।

पंचम अध्याय २०३–२३२

देश-काल एवं वातावरणगत शिल्प

प्रस्तावना, देश-काल के तत्त्व, भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक परिवेश, समाज से संबंध, विशिष्ट परिवेश की आवश्यकता एवं महत्त्व, काल से संबंध।

भौगोलिक परिवेश—परिवेश को प्रभावशाली बनाने वाले तत्त्व, और उनका प्रभाव, प्रकृति के नाना रूपों का निरूपण, पृष्ठ-भूमि का निर्माण, महत्त्व, भौगोलिक स्थिति से संबंध, परिणाम।

प्राकृतिक वातावरण—प्राकृतिक वातावरण के उपादान एवं रूप, मानवीय संवेदनाओं का आरोप परिणाम।

सामाजिक परिवेश एवं सामाजिक वातावरण—निर्मायक तत्त्व, सामाजिक समस्याएं, धार्मिक एवं नैतिक मानदण्ड, लोक-जीवन के उपादान—त्योहार, उत्सव, मान्यताएं, अंधविश्वास, रहन-सहन, रीति-रिवाज, लोक-कथाएं, लोक-गीत, लोक-संस्कृति, निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय २३३—२५९

जीवन-दर्शनगत उपलब्धियां एवं तद्विषयक शिल्प

'दर्शन' शब्द, व्युत्पत्ति, अर्थ एवं परिभाषा।

दर्शन और जीवन-दर्शन, जीवन-दर्शन की आवश्यकता एवं महत्त्व।

जीवन दर्शन की उपन्यास में संयोजना के रूप—सोद्देश्य निरुद्देश्य, संयोजना की पद्धतियां—नाटकीय, विश्लेषणात्मक।

आंचलिक उपन्यास और जीवन-दर्शन—आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्ति और जीवन दर्शन-निरूपण की कठिनाइयां, जीवन-दर्शन का स्वरूप, विशिष्टताएं—मानवतावाद, प्रगतिवाद, आशावाद, आदर्शवाद, परिणाम।

देशी-विदेशी आंचलिक उपन्यासों में अभिव्यक्त जीवन दर्शन से तुलना, विशिष्टता, निष्कर्ष।

सप्तम अध्याय २६०—२९७

भाषा-शिल्प

प्रस्तावना, भाषा के भिन्न रूप—विश्लेषण की भाषा, वार्तालाप की भाषा।

आंचलिक उपन्यास और भाषा संबंधी विशिष्टता, भाषा के हल्के-गहरे रंग, कारण, निहित उद्देश्य, कलाकार की भाषा—काव्यत्व एवं भावत्व।

हल्के-गहरे रंग प्राप्त करने के साधन, शब्दों के लोक-प्रचलित रूप, विकृत शब्द-रूप, मुहावरे एवं लोकोक्तियां, परिणाम—प्रभाव-प्रवणता, स्वाभाविकता, प्रवाहात्मकता, दुरूहता, निष्कर्ष।

भाषा की सामान्य प्रवृत्ति, यथार्थवाद का आग्रह, परिणाम, भाषा-दोष, निष्कर्ष।

अष्टम अध्याय २९८—३१९

शैली-शिल्प

प्रस्तावना—'शैली' शब्द, अर्थ, लेखक के व्यक्तित्व से संबंध, महत्त्व।
शैली और शिल्प-विधि, बाह्य शैली, अंतरंग शैली—विचारात्मक एवं भावात्मक रूप, महत्त्व।

आचलिक शैली और औप यासिक तत्व—कथा वस्तु पर प्रभाव चरित्र चित्रण पर प्रभाव वार्तालाप पर प्रभाव—वार्तालाप की अभिनव पद्धतिया महत्व ।

सामा य विशेषताए एव सीमाए विस्तत विवरण एव वणन भावना का गहरा पुट लोक-कथाओ लोक गीता की सयोजना ध्वनि चित्रण आवश्यकता परिणाम—दुरूहता विस्तार शिथिलता प्रभाव प्रवणता का ह्रास नवीन उद्भावनाए निष्कप ।

नवम अध्याय ३२०–३४५

साहित्यिक महत्त्व

प्रस्तावना ।

उपन्यास के रूप म—पूव के उपन्यासो की बौद्धिकता एव मनोवैज्ञानिक आग्रह द्वारा उत्पन्न गति रोध मे मुक्ति प्रदान करन वाल यथाथ जीवन का गहन अध्ययन प्रस्तुत करने वाल स्वाभाविकता की प्रभाव पूण अभिव्यक्ति द्वारा मनोरजन के साधक प्रगति के नवीन चरणा के प्रदशक आशावाद के सदेश वाहक आदश विधाता ।

कलाकृति के रूप म—नर्सगिक जीवन को कला मक रूप प्रदान करने वाल विचार भाव एव व्यापार सौदय द्वारा सत्य शिव एव सुदर के सष्टिकर्ता ।

लोक साहित्य क रूप मे—लोक जीवन एव लोक सस्कृति के तत्वो के उदघाटनकर्ता भाषा एव शैली मे लोक साहित्यिक विशिष्ट प्रकृति द्वारा जन मानस को प्रभावित करने के अनुपम साधन महत्व ।

देशी भाषाओ के उपन्यास और आचलिकता विदेशी उपन्यास और आचलिकता समानताए विशिष्टताए महत्त्व निष्कप ।

उपसहार ३४६–३५८

पूव अध्ययन का सिंहावलोकन उपन्यास साहित्य की प्रगति की नवीन दिशा के द्योतक प्रभाव की विशिष्टता साहित्य एव कला के आदर्शो के समन्वयकर्ता उपन्यास साहित्य एव शिल्प को देन ।

आचलिक उपन्यासा एव शिल्प विधि पर लगाए जाने वाल प्रमुख आरोप उत्तर ।

वस्तुगत एव शिल्पगत उपलब्धिया महत्व भविष्य एव आशाए ।

परिशिष्ट

प्राक्कथन

हिन्दी उपन्यास-साहित्य ने पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में आशातीत प्रगति की है। समर्थ कथाकारों ने न केवल उसके अंतरंग और बहिरंग को ही सवारा है प्रत्युत अपने अभिनव प्रयोगों द्वारा उसके भण्डार को अनुपम रत्नों से भरा भी है। इन रत्नों की विशेषता यह है कि इनमें से प्रत्येक अपनी विशिष्ट विधा का प्रतिनिधित्व करता है और इसीलिए जब इनमें से किसी एक का नाम लिया जाता है तब उससे संबंधित विधा का स्वत ही स्मरण हो आता है। इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि वह विशिष्ट विधा उस उपन्यास विशेष द्वारा ही प्रारंभ हुई अथवा वह उपन्यास उस विधा की चरम उपलब्धि है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि उस उपन्यास विशेष ने अपनी अनुपम शक्ति द्वारा विद्वानों को अचानक ही उस विधा की उपस्थिति का ज्ञान करा दिया। जब साहित्य क्षेत्र में इस प्रकार प्रभावशाली एक नई विधा की उपस्थिति का पता चलता है तब सदा ही दो कार्य एक साथ चल पड़ते हैं—उसके साहित्य की अभिवृद्धि और उसके प्रारंभ तथा इतिहास के अन्वेषण एव मूल्यांकन का। प्रथम कार्य कलाकार करते हैं और द्वितीय विचारक अथवा समीक्षक। यद्यपि साहित्य जगत में ये दोनों धाराएं सतत प्रवाहमान रहती हैं और साहित्य-सर्जन और मूल्यांकन दोनों कार्य सदा ही साथ-साथ चलते रहते हैं तथापि प्रत्येक नई खोज दोनों को नई दृष्टि प्रदान कर जाती है। इन दोनों कार्यों की दिशा का विकास इस रूप में दिखाई देता है कि जहां कलाकार उस विधा की नई नई दिशाओं की ओर उन्मुख होते हैं वहां आलोचक एक ओर खोद-खोद कर उसके मूल तत्व का अन्वेषण कर आते हैं और दूसरी ओर प्रत्येक डाली-डाली और फुनगी-फुनगी पर पहुंच कर उसकी प्रगति के विभिन्न पक्षों का मूल्यांकन भी कर डालते हैं। उत्साह के इस आवेग में अनुचित खींच-तान हो जाती है और सीमाओं का अतिक्रमण भी हो जाता है। इसके प्रमाण न केवल आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में वरन् सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य के संदर्भ में उपलब्ध हो जाते हैं। जब हिन्दी में औपन्यासिक विधा का अस्तित्व सिद्ध हो गया तब आलोचक उसके मूल की खोज के उत्साह में 'कादम्बरी' एवं 'दशकुमार-चरित' तक पहुंच गये और कलाकारों ने उत्साह की झोंक में विषय और अविषय की चिन्ता किये बिना उपन्यास लिख डाले। आंचलिक उपन्यासों के संबंध में भी यही हुआ। जब 'मैला आंचल' प्रकाशित हुआ (१९५४) और आंचलिक विधा का नामकरण हुआ तब विद्वान इसकी परम्परा श्री शिवपूजन सहाय, प्रेमचन्द, प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा उपन्यासों से जोड़ने लगे।

दूसरी ओर कलाकारो ने स्थान विशेष को आधार बनाकर उपन्यास लिखने प्रारभ कर दिये तथा देश अथवा प्रदेश का चित्रण करने वाली प्रत्येक कृति को आंचलिक कहा जाने लगा जबकि इसके पूर्व उन्ही कृतियो को यथार्थवादी अथवा समाजवादी कह कर काम चला लिया जाता था। आचलिक उपन्यासो का अध्ययन करते समय सबसे अधिक कठिनाई उनके ऐतिहासिक विकास के अध्ययन की आती है। इस सबध मे एक और बात द्रष्टव्य है—जब कोई विधा अपनी विकास की स्थिति स गुजर रही होती है तब उसका रूप-निर्धारण व सीमा-निर्धारण कठिन भी होता है। आखो मे सटाकर रखी गई वस्तु के रूप-सौन्दर्य को परखना जिस प्रकार कठिन हो जाता है उसी प्रकार प्रचलित विधा का महत्त्वाकन भी सरल नही होता। समय का अन्तराल उत्साह एव लगाव की अति को समाप्त कर उसे सीमाबद्ध कर देता है और मन अपनी सामान्य अवस्था मे आ जाता है। ऐसी मन स्थिति म तथा विकास की इसी अवस्था मे अधिक तथ्यपूर्ण एव वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना सभव होता है। यद्यपि आचलिक उपन्यासो का काल अभी बीता नही है (कोई भी विधा एक बार प्रचलित हो जाने के बाद पूर्णत समाप्त नही होती) तथापि आचलिक कृतियो के विकास की सभी दिशाए स्पष्ट हो चुकी है और उन पर विचार-विमर्श की प्रारभिक स्थिति भी समाप्त हो गई है। अत हमारा मत है कि आचलिक उपन्यासो के विकास म अब वह स्थिति आ गई है जब अनुचित आवेश, उत्साह एव लगाव शात हो चुके है, आचलिक उपन्यास का स्वरूप स्थिर हो गया है और इस औपन्यासिक विधा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन सभव है।

आचलिक उपन्यासो को हमने वर्तमान काल—विशेष रूप से पिछले लगभग पद्रह-बीस वर्षों की उपलब्धि माना है। इसका कारण, जैसा प्रथम अध्याय मे स्पष्ट किया गया है, यह है कि विधा के रूप मे सभी तत्त्व इसी काल मे आकर उपन्यास के कलेवर म सम्मिलित हो पाये। आचलिक उपन्यास का नवीन रूप इस प्रकार इसी काल विशेष म स्थिर हो सका है। इसीलिए प्रेमचन्द एव वृन्दावनलाल वर्मा जैसे उपन्यासकारो की कृतियो को आचलिक उपन्यासो के अतर्गत परिगणित करना न समीचीन है और न वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से आवश्यक हो। अत इस शोध प्रबध म हमने अपनी सीमा वास्तविक आचलिक उपन्यासो तक ही रखी है।

आचलिक उपन्यासो के अध्ययन के सबध म एक और कठिनाई यह आती है कि उनके अतर्गत परिगणित की जाने वाली कृतियो के विषय मे विद्वानो मे समन्वय नही है। कतिपय विद्वान तो उन्हे सामाजिक एव यथार्थवादी उपन्यास मानकर ही सतोष कर लेते हैं और कतिपय इस विशिष्ट विधा को ही स्वीकार नही

लाभ नही होता। यह स्वीकार करते हुए भी कि आचलिक उपन्यास अत म उपन्यास ही होता है, हम यह विनम्र निवेदन कर देना चाहते है कि केवल उपन्यास कह कर ही औपन्यासिक कृति के महत्व को स्पष्ट नही किया जा सकता। सभी उपन्यास एक जैसे होते भी नही। लेखक के दृष्टिकोण अथवा विषय क निरूपण के आधार पर उनके नाना-रूप प्रकट होते हैं। अत उनका मूल्याकन करते समय उनकी प्रवृत्ति विशेष को अनदेखा नही किया जा सकता। कहने को इलाचद्र जी यथार्थवादी हैं और अज्ञेय जी भी, उग्र जी अपने यथार्थ को छाती ठोक कर कहते हैं तो यशपालजी भी चुप नही रह जाते। एक यथार्थ प्रेमचन्द जी का था और एक यथार्थ कुशवाहाकान्त, प्यारेलाल 'आवारा' और 'घेरे के बाहर' (१९४७) के रचयिता द्वारिकाप्रसाद का भी है। जब सभी यथार्थ हैं तब मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, प्रकृतवादी, आदर्शवादी और अतियथार्थवादी (सर-रियलिस्टिक), आदि नामो के अतर्गत उनका वर्गीकरण करने की आवश्यकता क्या है ? परन्तु ऐसा वर्गीकरण किया जाता है और वह आवश्यक भी है। यही बात इन्हे सामाजिक उपन्यास मानने के सबध मे भी है। जब हम सामाजिक उपन्यास की बात करते हैं तो तुरत प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, कौशिक आदि के उपन्यासो का ध्यान आ जाता है और वेश्या-समस्या, विधवा समस्या, अछूत-समस्या जैसी कोई समस्या ध्यान मे आ जाती है। परन्तु आचलिक उपन्यासों का नाम लेने पर ऐसी कोई समस्या ध्यान मे नही आती फिर भी आचलिक उपन्यास सामाजिक जीवन का ही उपन्यास होता है। अत यह मानना पडता है कि आचलिक उपन्यास समाज से सबधित होते हुए भी प्रचलित अर्थ म सामाजिक नही होता और न यथार्थ-चित्रण के उपरात ही प्रचलित अर्थ मे यथार्थवादी होता है। आचलिक उपन्यास का इस प्रकार अपना विशिष्ट वर्ग होता है जो अपनी शिल्पगत विशेषताओ के कारण अन्य यथार्थवादी उपन्यासो से स्वत ही भिन्न हो जाता है। यदि इस विशिष्टता को हृदयगम कर लिया जाये तो आचलिक उपन्यासो के सबध मे प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। किन्तु इसके लिए आवश्यकता है आचलिक उपन्यासो और उनकी शिल्प-विधि के गभीर अध्ययन की।

आचलिक उपन्यासो तथा उनके शिल्प एव प्रवृत्त्यादि विषयक अध्ययन अब तक एक प्रकार से पत्र पत्रिकाओं के लेखो तक ही सीमित रह है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षो से उपन्यास-साहित्य पर निकलने वाले आलोचनात्मक ग्रथो मे पृथक् रूप से उन पर विचार करने की प्रवृत्ति भी चल पडी है तथापि उनसे उनके सर्वांगीण अध्ययन की आवश्यकता की पूर्ति नही होती। आचलिक उपन्यासों पर स्वतत्र रूप से अब तक कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है। हा, दो पुस्तिकाए अवश्य देखने मे आई है। एक, श्री राधेश्याम कौशिक 'अधीर' की 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास' (१९६२) और दूसरी, श्री प्रकाश वाजपेयी की 'हिन्दी के

आचलिक उपन्यास' (१९६४)। प्रथम सौ पृष्ठो की एक परिचयात्मक पुस्तक है और द्वितीय एम० ए० के लघु-प्रबध का परिवर्तित एव परिवर्द्धित रूप। डॉ० (श्रीमती) कैलाश प्रकाश के निर्देशन मे एम० ए० के लघु-प्रबध के रूप मे दिल्ली विश्व विद्यालय मे भी इस विषय पर कार्य हुआ है परतु वह लघु-प्रबध अप्रकाशित ही है। सक्षेप मे, आचलिक उपन्यासो पर व्यापक अध्ययन की आवश्यकता की पूर्ति ये पुस्तिकाए नही कर पाती।

आज जब एक ओर प्रवृत्तियों के अध्ययन के रूप मे ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी आदि विभिन्न प्रवृत्तियो के उपन्यासो पर पृथक्-पृथक् ग्रथ निकल रहे है और दूसरी ओर कथा शिल्प का विकास, नायक-नायिका की परिकल्पना, चरित्र चित्रण का विकास, जैसे शिल्प सबधी अवयवो पर विस्तृत अध्ययन हो रहे है, तब आचलिक उपन्यासो पर कोई गभीर प्रयत्न न होना एक खटकने वाला अभाव ही लगता था। प्रस्तुत शोध-प्रबध इसी अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक विनम्र प्रयास है।

प्रबध को वैज्ञानिक अध्ययन के उद्देश्य मे 'भूमिका' तथा 'उपसहार' के अतिरिक्त नौ अध्यायो मे विभक्त कर दिया गया है। 'भूमिका' मे 'अचल' शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा, आचलिकता के निर्माणक तत्त्व तथा अचल से सबधित विभिन्न समस्याओ पर तो विचार किया ही गया है, उपन्यास के तत्त्वों तथा उसकी शिल्प विधि पर भी सम्यक् प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय में आचलिकता के विकास पर विस्तार से विचार करने के साथ-साथ आचलिक उपन्यासो के प्रस्फुरण की नाना दिशाओ को भी स्पष्ट किया गया है। इसके उपरात उनका वर्गीकरण आवश्यक था। यह कार्य दूसरे अध्याय मे सम्पन्न किया गया है। वर्गीकरण के साथ ही आचलिक उपन्यासो का परिचय भी प्रस्तुत कर दिया गया है जिससे शिल्प-गत अध्ययन के लिए ठोस आधार का निर्माण हो सके। इस प्रकार हिन्दी के आचलिक उपन्यासो का विस्तृत परिचय प्राप्त हो जाने के उपरात उनके शिल्प-गत अध्ययन का कार्य सरल हो गया है।

उपन्यास-शिल्प के अतर्गत तृतीय अध्याय मे वस्तु-शिल्प, चतुर्थ मे पात्र-निर्माण एव चरित्राकनगत शिल्प, पचम मे देश काल एव वातावरणगत शिल्प, षष्ठ मे जीवन दर्शनगत शिल्प तथा सप्तम व अष्टम अध्यायो मे क्रमश भाषा व शैली शिल्प पर विचार किया गया है। उपन्यास के तत्त्वो में वार्तालाप अथवा कथोपकथन को भी परिगणित किया जाता है परन्तु इस तत्त्व पर अलग से विचार करना इस प्रबध मे आवश्यक नही समझा गया क्योंकि वार्तालाप नाटक की अनिवार्य आवश्यकता है उपन्यास की नही। उपन्यासो मे उनकी सयोजना नाटकीयता लाने के निमित्त ही की जाती है। उनकी सयोजना के अन्य उद्देश्य होते हैं—कथा-प्रवाह मे योग देना, चरित्र-चित्रण, तथा लेखक के जीवन-दर्शन की अभि-

व्यक्ति। वार्तालाप की शैली भी उपन्यासकार की योग्यता व क्षमता की परिचायक होती है और उनकी भाषा उपन्यास को अधिक रोचक व स्वाभाविक बनाती है। इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाये तो उसके कार्य अन्य सभी तत्वो से सबधित ही होते हैं। यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है कि वार्तालाप की कला दिखाने के लिये अलग अध्याय बन सकता था परन्तु वह निम्न कारणो से आवश्यक नही समझा गया प्रथम, जिन विशिष्टताओ को कथा-शिल्प, पात्र एव चरित्रागनगत शिल्प, जीवन-दर्शनगत शिल्प, भाषा शिल्प एव शैली शिल्प के अतर्गत स्पष्ट कर दिया गया था उन्ही की पृथक् अध्याय मे पुनरावृत्ति होती। द्वितीय, अनेक उपन्यासो मे वार्तालाप को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला ही नही है, विशेष रूप से नागार्जुन के उपन्यासो मे। अचलो के निरूपण मे भाषा का महत्त्व तो समझ मे आता है, वार्तालाप का नही। तीसरी बात यह है कि आचलिक उपन्यासो के वार्तालाप अन्य उपन्यासो के वार्तालाप के समान ही होते है। उनकी वही विशेषताए भी होती है जो अच्छे वार्तालाप की होनी चाहिए अर्थात् वार्तालाप की दृष्टि से आचलिक उपन्यास की अपनी कोई विशिष्ट उपलब्धि नही होती, जो होनी है वह उनके भाषा रूपो मे निहित होती है जिस पर भाषा-शिल्प के अतर्गत पृथक् रूप से विचार कर लिया गया है।

इस प्रकार वार्तालाप पर पृथक् रूप से विचार न करने का उद्देश्य प्रबध को अनावश्यक विस्तार से बचाना ही था। परन्तु जहा आवश्यक समझा गया वहा विस्तार मे सकोच नही किया गया है। इसीलिए भाषा और शैली पर अलग से दो भिन्न अध्यायो मे विचार करना उचित समझा गया अन्यथा भाषा शैली को एक ही तत्त्व मान लिया जाता है और उन पर एक साथ विचार करने की प्रवृत्ति ही अधिक पाई जाती है। परन्तु आचलिक उपन्यासो की विशिष्टता इन दोनो तत्त्वो मे भी उतनी ही तीव्रता से अभिव्यक्त होती है जितनी की अन्य तत्त्वो मे। इस प्रकार भाषा और शैली को दो भिन्न अध्यायो का विषय बनाने का उद्देश्य अनिवार्य विस्तार को अभीष्ट स्थान देना था।

आचलिक उपन्यासो का अध्ययन तब तक पूर्ण नही हो सकता था जब तक उनके साहित्यिक महत्त्व पर भी विचार न कर लिया जाता। आज जब एक ओर साहित्य एव असाहित्य मे अतर करना कठिन होता जा रहा है और जब आचलिक विधा को एक भिन्न साहित्यिक विधा स्वीकार करने मे कतिपय विद्वानो को सकोच भी होता है तब आचलिक उपन्यासो के साहित्यिक महत्त्व पर विस्तार से विचार करना आवश्यक था। उपन्यास के रूप मे, कलाकृति के रूप मे, लोक-साहित्य के रूप मे आचलिक उपन्यासो पर विचार कर लेने के उपरात देशी-विदेशी आचलिक उपन्यासो का भी सक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत कर दिया गया है जिससे यह भी स्पष्ट किया जा सके कि आचलिकता की प्रवृत्ति अत्यत स्वाभा-

त्रिक एवं स्वस्थ प्रवृत्ति है और उसे स्वीकार करना व उसके महत्व को अंगीकार करना स्वस्थ आलोचना की दृष्टि से आवश्यक है। इस प्रकार प्रबंध में आंचलिक उपन्यासों का विस्तृत वैज्ञानिक एवं पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

शोध प्रबन्ध का विषय अत्यंत विस्तृत था और आधारभूत सामग्री की विरलता के कारण कठिन भी परन्तु मेरे विद्वान निर्देशक डॉ० कामताप्रसाद सक्सेना डी० लिट्० (रीडर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर) के कुशल निर्देशन से सभी कठिनाइयां सरलता से दूर हो गईं। उनकी मुझ पर जो महती कृपा रही है उसके प्रति आभार व्यक्त करने में भी मुझे संकोच होता है। इस संबंध में हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० सत्येंद्र एवं प्रोफेसर डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' का भी मैं अत्यंत ऋणी हूं क्योंकि समय-समय पर उनके द्वारा मिलने वाले सत्परामर्श ने न केवल मेरा उत्साहवर्द्धन किया वरन् मार्ग-दर्शन भी किया। 'सूर्य प्रकाशन मन्दिर' के व्यवस्थापक श्री सूर्यप्रकाश बिस्सा का भी मैं हृदय से आभारी हूं क्योंकि मुद्रण एवं प्रकाशन के गुरु भार को वहन कर उन्होंने ही इस ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत किया।

शोध-प्रबन्ध के वर्तमान रूप में इतना ही परिवर्तन किया गया है कि पाण्डुलिपि के प्रस्तुतीकरण की तिथि के उपरान्त प्रकाशित प्रमुख आंचलिक उपन्यासों को भी इसकी परिधि में सम्मिलित कर लिया गया है। अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। आशा है कि [illegible] इस नवीन रूप में यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

बीकानेर

आदर्श सक्सेना

भूमिका

(क)

अंचल एवं आंचलिकता : स्वरूप विवेचन

हिन्दी भाषा मे देश के एक प्रान्त-भाग के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला 'अचल' शब्द मूलत सस्कृत शब्द 'अञ्चल' है जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'अञ्च' धातु मे 'अलच्' प्रत्यय के योग से निर्मित हुआ है तथा व्याकरण की दृष्टि से योगरूढ है।

'अञ्च' धातु पाणिनीय धातु के प्रसिद्ध दस गणो मे से प्रथम 'भ्वादि' गण मे प्रयुक्त है तथा उभय-पदी है। 'अलच्' प्रत्यय 'कृदन्त प्रत्यय' के एक भाग 'उणादि' प्रत्ययो मे उपलब्ध होता है। यद्यपि सपूर्ण 'उणादि' प्रकरण मे कही भी इस प्रकार का विशेष विधान नही है जिसके आधार पर 'अञ्च' धातु मे 'अलच्' प्रत्यय का योग कर 'अञ्चल' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सके तथापि इस प्रकार व्युत्पत्ति प्रस्तुत करने के तीन आधार अवश्य है

(१) यह शब्द सस्कृत भाषा मे प्रयुक्त होता रहा है।

(२) पाणिनीय व्याकरण मे एक सूत्र है—'मङ्गेरलच्'[1]। यहा 'मङ्ग' धातु मे 'अलच्' प्रत्यय का योग कर 'मङ्गल' शब्द का निर्माण किया गया है। इसी शब्द के साम्य पर 'अञ्चल', 'चञ्चल' आदि शब्द निर्मित हुए है।

(३) महर्षि पाणिनि ने उणादि-प्रकरण के अत मे इस प्रकार शब्द निर्माण के लिये आधार प्रस्तुत कर रखा है

सज्ञासु धातु रूपाणि प्रत्ययाश्चतत परे।
कार्यात् विद्यात् अनूबन्ध मेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

(अर्थात्—किसी सज्ञा का बनाने के लिए अर्थ के अनुसार धातु रख कर किसी उणादि प्रत्यय के द्वारा कर्मानुसार अनुबध-लोप कर सफल प्रत्यय किया जा सकता है।)

---

१ सिद्धान्त कौमुदी, उणादि प्रकरण (अन्तिम सूत्र), सख्या ७५६।

अचल शब्द के अर्थ का आधार भी इसी व्युत्पत्ति में निहित है। संस्कृत भाषा मे प्रत्येक शब्द एक साथ पाच अर्थ प्रस्तुत करता है—फल, व्यापार, कारक, सख्या और काल। प्रथम दो अर्थ धातु के होते हैं और शेष तीन प्रत्यय के। अञ्चल शब्द में 'अञ्च' धातु के दो अर्थ है—गति और पूजा, यथा—

'अञ्चु गति पूजार्थकयौ ।'[1]

गति और पूजा के फल और व्यापार अर्थात् गमन करने का फल और गमन करने के लिये की जाने वाली चेष्टा-रूप व्यापार (एक पाव उठा कर रखना फिर एक पाव उठा कर रखना)।

'अलच्' प्रत्यय इस सबध मे कर्ता-कारक, एक वचन, तथा वर्तमान काल का बोध कराता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'अचल' शब्द 'अञ्च' धातु मे 'अलच्' प्रत्यय के योग से बना है जिसमे नियमानुसार 'अलच्' के 'च्' का लोप हो गया है।

कोशो मे इस शब्द के कतिपय अर्थ दिये गये है उन पर भी किंचित दृष्टिक्षेप करना आवश्यक है

'हलायुध कोश'[2] मे कोशकार ने अञ्चल शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार की है—

'अञ्चल पु० (अञ्चति प्रात भाग गच्छति। अञ्च+अलच्)
वस्त्र प्रात भाग । आचल इति भाषा।'
'ऊरू कुरङग का दृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति'
इति साहित्य दर्पणे ।
'कर्पास बादर प्रोक्त वस्त्रयान्तोमतेऽञ्चल ।'

'पद्मचन्द्र कोश'[3] मे भी कोशकार न 'अचल' शब्द का अर्थ वस्त्र का छोर, कोन का भाग, कपडे का कोना, पल्ला ही लिया है।

'द प्रेक्टिकल सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[4] मे भी 'अञ्चल शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही दिया गया है। यहा उद्भट से दो उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये है—

'क्षीणाञ्चलमिव पीनस्तनजघनाय ' (उद्भट—२)

द्वितीय उदाहरण मे कोशकार ने नवीन उद्भावना की है और शब्द के लाक्षणिक अर्थ की ओर सकेत भी किया है। 'अञ्चल' का अर्थ वस्त्र के छोर के साथ आख के छोर से भी लिया गया है यथा—

---

१ पाणिनीय सिद्धान्त कौमुदी, धातु सख्या १८८, पृष्ठ ३५८।
२ 'हलायुध कोश', सम्पादक जयशकर जोशी, पृष्ठ १११।
३ 'पद्मचन्द्र कोश', सम्पादक महामहोपाध्याय प० गणेशदत्त शास्त्री, पृष्ठ ८।
४ 'द प्रैक्टिकल सस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', सम्पादक वी० एम० आप्टे, पृष्ठ २४।

'दृगचलै-पश्यति कैवल मनाक्'—(उद्भट—२)
कोशकार ने 'महावीर चरित' से उदाहरण भी दिया है—

'यदि चलाञ्चलै लोचने' (महावीर चरित ६०९)

'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी'[1] में भी 'अंचल' शब्द का अर्थ वस्त्र के (विशेष कर स्त्रियों के) छोर से ही लिया गया है, यहां भी शब्द के लाक्षणिक अर्थ की ओर संकेत है।

'आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोश'[2] में अंचल शब्द का संस्कृत में अर्थ देते हुए कोशकार ने बताया है कि यह शब्द पुंलिंग व नपुंसक लिंग दोनों में प्रयुक्त होता है, यथा—

'अंचल (पुं) व अंचलम् (नपुंसक लिंग) पटान्त वस्त्रापान्त, प्रान्त भाग।'

'हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश'[3] में अंचल शब्द का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'अंचल—संज्ञा, पुंलिंग (संस्कृत), आंचल, पल्ला, साड़ी का छोर, देश का वह भाग या प्रांत जो सीमा के पास हो, नदी के किनारे की भूमि, तट या किनारा, क्षेत्र।'

(इस कोश में हिन्दी के विकृत शब्द 'अंचरा' का भी आंचल के अर्थ में प्रयोग किया गया है और इसे संस्कृत के 'अंचल' शब्द का विकृत रूप आँचल के समान माना गया है)।

'भाषा शब्द कोश'[4] में भी अंचल का अर्थ है—'साड़ी का छोर जो सामने रहता है, पल्ला, आंचर या अंचरा, किनारा एवं सीमा का समीपवर्ती भाग।'

मुहावरों में इस शब्द का प्रयोग कर विभिन्न अर्थों को स्पष्ट किया गया है।

हिन्दी के अन्य शब्द-कोशों में भी उपर्युक्त अर्थ ही दिये गये हैं। इस प्रकार दोनों भाषाओं में इस शब्द के अर्थों में साम्य है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अंचल' शब्द के सभी अर्थ अभिधेय नहीं है। 'अञ्च' धातु का अर्थ है 'गति' या 'पूजा' और 'अलच्' उणादि प्रत्यय है अतः इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। परन्तु पूर्ण शब्द 'अंचल' का अर्थ होता है—जो गमन करता है, जिसमें गति है। इस आधार पर साड़ी का छोर या प्रांत-भाग, अंचल कहलाने लगा। यद्यपि यह शब्द 'योग-रूढ़' है परन्तु योग-रूढ़ होने पर भी इसका लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इसी आधार पर यह शब्द केवल वस्त्र के प्रांत-भाग ही के लिए प्रयुक्त न

१ 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', सम्पादक सर मोनियर विलियम, पृष्ठ ११।
२ 'आदर्श हिन्दी कोश', सम्पादक रामस्वरूप शास्त्री, पृष्ठ ४१।
३ 'हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश', सम्पादक श्रीवास्तव एवं चतुर्वेदी, पृष्ठ १२६।
४ 'भाषा शब्द कोश', सम्पादक प० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ ८।

होकर अन्य वस्तुओ के प्रात-भाग या छोर के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है—

(१) दृगचलं पश्यति केवल मनाक।[१]

(२) आचल मे है दूध और आखों मे पानी।[२]

आंचलिक और आचलिकता

'अचल' शब्द से 'आचलिक' विशेषण 'अचल' शब्द मे तद्धित 'ठञ्' प्रत्यय के योग से बनता है। पाणिनीय सूत्र[३] 'ग्रामजनपदैकदेशात् अञाठञौ'।४।३।७ के अनुसार इस प्रकार निर्मित होने वाले शब्द का अर्थ होता है—'किसी देश या प्रात-भाग मे सबधित वस्तुविशेष।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य मे जब हम 'अचल' या 'आचलिक' शब्द का प्रयोग करते है तब हमारा प्रयोजन इन शब्दो के अभिधा-मूलक अर्थ से नही प्रत्युत लक्षणा-मूलक से होता है। परन्तु लक्ष्यार्थ मे तीन मुख्य बातें होती है—(१) मुख्यार्थ मे बाधा (२) मुख्यार्थ से सबधित अन्य अर्थ का बोध (३) इस अर्थ का रूढि या प्रयोजन से लगाया जाना तथा इसका मुख्य-अर्थ से सबध होना। इस दृष्टि से देखने पर भी 'आचलिक' शब्द का अर्थ इस कसौटी पर खरा उतरता है। अचल का अभिधार्थ होता है—'वस्त्र का प्रात-भाग' जब उससे देश के प्रात-भाग का अर्थ लिया जाता है तब मुख्यार्थ मे बाधा पडती है। परन्तु देश को वस्त्र के सबध मे रख प्रयोजनानुसार सबधित अर्थ प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार 'आचलिक' विशेषण का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है—आचलिक अर्थात् अचल (देश के प्रान्त-भाग) से सबधित। परन्तु केवल देश के प्रान्त-भाग (देश के छोर) से ही यह अर्थ नही निकलता। कोई भी विशेष भाग जिसकी अपनी एक सस्कृति हो, अपनी एक भाषा हो, अपनी समस्याए हो, सक्षेप मे, सामान्य देश भी जहा किसी विशिष्टता का आभास दे, अचल कहा जा सकता है। इसका कारण भी लक्ष्यार्थ ही है। देश के प्रात-भाग या सीमान-भाग का सबध सीमा-पार के देश से रहता ही है। परिणामस्वरूप वहा अपने देश व अन्य देश की सभ्यताए एव सस्कृतिया मिलजुल जाती है। किसी भी सीमान्त भाग की सभ्यता एव सस्कृति की देश के अन्य भाग की सभ्यता एव सस्कृति से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार देश के विभिन्न प्रान्तों के सीमाता म प्रमुख रूप मे तथा विभिन्न प्रान्तो म उनकी भिन्न भौगोलिक स्थिति के कारण सामान्य रूप मे, विशिष्ट जीवन-यापन एव रहन सहन का ढग विकसित हो जाता है जो अन्य प्रान्तो के ढग से भिन्न होता है। इसी कारण

१. उद्भट—२

२ श्री मैथिलीशरण गुप्त 'यशोधरा'।

३ 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' (चौखम्बा सीरीज), तद्धित प्रकरण, सूत्र १३७६।

मलावार, बगाल आदि मे मछुओ, मछली, समुद्र, नदी, आदि का जीवन पर प्रभाव रहता है जबकि उत्तर प्रदेश, पजाब आदि मे कृषक, खेती आदि का।

इस सबध मे एक और बात द्रष्टव्य है। अचलो की बात सभी देशो के सबध मे क्यो नही की जाती ? जिस प्रकार के आचलिक उपन्यास भारत आदि देशो मे लिखे गये क्या वैसे ही यूरोप के कई छोटे-छोटे देशो मे लिखे गये हैं या लिखे जा सकते है ? उत्तर नकारात्मक ही होगा। सकीर्ण भौगोलिक सीमा वाले देश जिस आचलिकता को ग्रहण किये हुए होते हैं वह वास्तव मे उनकी राष्ट्रीयता होती है क्योकि सपूर्ण देश मे एक ही प्रकार की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए यदि हम प्राचीन यूनान पर दृष्टिपात करें तो मन्तव्य तुरन्त स्पष्ट हो जायेगा। यूनान एक ऐसा देश है जो अनेक द्वीपो से मिल कर बना है। प्रत्येक द्वीप एक निश्चित इकाई बनने की स्थिति मे है। इसी कारण वहा प्राचीन काल मे नगर-राज्यो का विकास हुआ था। इस प्रकार सपूर्ण यूनान के एक देश होने पर भी वहा अपनी विशिष्टताए लिए हुए अनेक स्वतत्र राज्य थे जिनमे आपस मे प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती थी। इन राज्यो के आपसी युद्ध भी प्रसिद्ध है। एथेन्स और स्पार्टा की प्रतिद्वंद्विता भयकर अशाति का कारण रही थी। प्रत्येक राज्य अपनी सस्कृति को अन्य राज्यो की सस्कृतियो से श्रेष्ठ समझ कर उस पर गर्व करता था। भारत के समान विस्तीर्ण देश मे जहा विभिन्न भागो की परिस्थितिया एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, जहा एकता मे अनेकता प्राप्त होती है, वहा इस प्रकार के अनेक अचलो का निर्माण एक साधारण बात है। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर जब हम अचल की बात करते है तो उसका तात्पर्य देश के भाग विशेष (वह सीमान्त भाग ही हो यह आवश्यक नही) से स्वत ही लग जाता है क्योकि प्रत्येक भाग अपनी विशिष्टता लिये हुए होता है जो छोटे-छोटे राष्ट्रो की राष्ट्रीयता के समकक्ष ही होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अचल' शब्द का जो अर्थ अपने विशिष्ट प्रयोजन मे रूढ हो गया है वह वस्त्र के प्रान्त-भाग के आधार पर लाक्षणिक अर्थ ही है। परन्तु लक्षणा का चमत्कार व्यजना से खिलता है। इस दृष्टि से अचल का लाक्षणिक अर्थ भी नये रूप मे व्यजित होता है और हम देश के छोटे-छोटे अचलो की बात करने लगते है जिनकी अपनी सभ्यता व अपनी सस्कृति होती है। इनका अपना व्यक्तित्व व अस्तित्व होता है इसीलिये इन्हे एक विशिष्ट इकाई के रूप मे चित्रित किया जा सकता है। किसी पर्वत-शृखला के सहारे बसे, किसी नदी के कूल पर स्थित, किसी सागर के तट पर फैले ग्रामो को, जिनकी बोली, उत्सव-त्योहार, रहन-सहन, सस्कार, लोक-कथाए, लोकगीत आदि एक से होते है, जो एक सी समस्याओ से ग्रस्त होते हैं, तथा एक सी जीवन व्यवस्था से बधे होते हैं, अचल की सज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से

ब्रह्मपुत्र, कोसी अथवा गंगा के कूलों पर बसे सबई की नागरी चहल-पहल से दूर बरसोवा के समुद्री तट पर स्थित, बस्तर या छोटा नागपुर के जंगलों में अथवा पठार पर बसे ग्रामों के क्षेत्र, आंचलिक क्षेत्र कहलावेंगे। 'रेणु' ने पूर्णिया जिले को या कोसी मैया के साये में बसे ग्रामों को वस्तुस्थिति चित्रण के लिये चुना तो नागार्जुन ने मिथिला के ग्रामीण जीवन को। हार्डी ने वेसेक्स-प्रदेश को लिया तो एरनाल्ड बेनट ने पाटरीयटाउन्स के क्षेत्र को। 'प्रत्येक भू-भाग की मिट्टी की एक खास महक होती है और उस मिट्टी मे पनपी हुई वनस्पतियो के पत्ते-पत्ते और फूल-फल मे एक विशेष गंध होती है। उसी के अनुरूप वहां के समस्त जीव-धारियों, मानव-प्राणियो मे भी अपनी एक अलग मन स्थिति या गंध होती है जो किसी अन्य भू-भाग मे उगे हुए फूल-पत्तों और प्राणियो की गंध से भिन्न होने के कारण अपनी एक विशिष्टता रखती है।" इस दृष्टि से अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि अंचल को आंचलिकता प्रदान करने वाले कुछ विशेष तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों पर किंचित विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रथम तत्त्व है, अंचल की विशेष भौगोलिक स्थिति। ये अंचल प्रकृति की गोद मे, वैज्ञानिक सभ्यता के प्रभाव से दूर, बसे जनपद होते हैं। इनका क्षेत्र अवश्य सीमित होता है परन्तु विस्तार मे, गहराई मे नहीं। प्रकृति जिसकी गोद मे ये बसे होते हैं, इनके लिए देवता भी होती है और सहचर भी। एक ओर उनके लिए श्रद्धा का कारण होती है तो दूसरी ओर भय का भी। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' मे ब्रह्मपुत्र इन दोनो का अपने मे सुन्दर समन्वय लिए हुए है। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' का भी अपना एक विशिष्ट भौगोलिक व प्राकृतिक परिवेश है। इसी प्रकार का परिवेश 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) और 'जगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित') मे भी मिलता है। इस भौगोलिक परिवेश मे समुद्रतट (सागर लहरें और मनुष्य), जगल (जगल के फूल), नदी का तट (ब्रह्मपुत्र), पहाडी शृंखला आदि सब इतने मूर्त-रूप मे चित्रित किये जाते हैं कि अनजाने ही पाठक के सम्मुख एक चित्र सा खिच जाता है। इस भौगोलिक परिवेश मे एक ऐसी विशिष्टता होती है जो अन्यत्र प्राप्त नही होती।

दूसरा तत्त्व इन्हीं भौगोलिक परिस्थितयो का परिणाम होता है—समस्याएं। ये समस्याएं सम्पूर्ण जीवन को अनुप्राणित किये रहती हैं। आंचलिक समाज पर इनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। 'ब्रह्मपुत्र' मे भूमि के कटाव की समस्या है तो 'जगल के फूल' मे स्वतन्त्रता की और 'बाबा बटेसरनाथ' एव 'बलचनमा' मे ज़मीदारी-शोषण की। इन समस्याओ की पीठिका मे सम्पूर्ण लोक-जीवन का भावनापूर्ण चित्रण किया जाता है।

१. प० राजनाथ पाण्डेय, 'पूर्णिमा', अप्रैल १९६०, पृष्ठ ९।

तीसरा तत्त्व होता है, इन्ही समस्याओ के कारण उत्पन्न—पिछड़ापन। इस पिछडेपन के भी अपने कारण होते है जैसे स्थानो की अगम्यता, शहरो से दूरी, अस्वास्थ्यप्रद वातावरण आदि। वैसे पिछड़ापन भारत की एक राष्ट्रीय समस्या है अत कृषको से आबाद गाव स्वत ही अचल की परिधि मे आ जाते है।

चौथा तत्त्व इसी पिछड़ेपन का परिणाम है—विशिष्ट प्रकार का जन-जीवन, मान्यताए, अध विश्वास, रीति-रिवाज, सस्कार—समग्र रूप मे, एक विशिष्ट सस्कृति, लोक-सस्कृति। यह सत्य है कि अग्रणी जनपदो एव नगरो की भी अपनी सस्कृति होती है परन्तु उसमे कृत्रिमता होती है तथा सरलता का अभाव होता है। वह उनकी अपनी नही होती, क्योकि वह अन्यान्य बाह्य प्रभावो से ग्रस्त होती है। इसके विपरीत आचलिक सस्कृति अपनी परिस्थितियो का ही परिणाम होती है अतः कृत्रिमता एव बाह्य प्रभावो से रहित होती है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि नवीन चेतना का आचलिक क्षेत्र मे प्रवेश नही होता। यह प्रवेश अवश्य होता है परन्तु किस रूप मे होता है और अचलो को वह किस प्रकार प्रभावित करता है, यह आगे के पृष्ठो के विवेचन का विषय है।

शहरी और ग्राम्य अचल की समस्या

जिस प्रकार 'ग्राम्य अचल' की बात की जाती है उसी प्रकार कुछ विद्वान शहरी अचल की भी बात करने लगे हैं। उनका तर्क है कि शहर की भी अपनी स्थिति होती है, उसकी भी अपनी समस्याए होती है और वह भी एक विशिष्ट सस्कृति को जन्म देता है। इसमे सदेह नही कि कुछ शहरो के बारे मे यह बात मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ, लखनऊ का अपना वातावरण था और अपने तौर-तरीके, अपने रहन-सहन, खान-पान एव मनोरजन के ढग थे। इसी प्रकार बनारस जैसे धार्मिक स्थान का अपना एक विशिष्ट वातावरण होता था। परन्तु यह विशिष्टता तभी तक रहती है जब तक वे स्थान बाह्य प्रभावो से सर्वथा मुक्त रहते हैं। जैसे-जैसे बाह्य प्रभाव इन सास्कृतिक स्थानो पर बढता है वैसे-वैसे इनकी विशिष्टता व सस्कृति के तत्त्व भी समाप्त होते जाते हैं। वाजिदअली शाह के लखनऊ और 'बहती गगा' के बनारस को क्या आज भी हम उन रूपो मे देख सकते हैं ? लखनऊ के नाम पर हज़रतगज और बनारस के नाम पर वहा का विश्वविद्यालय या घाट, नज़ाकत, नफासत और धार्मिकता से आगे बढ गये हैं। वो जमाने लद गये जब पसीना गुलाब हुआ करता था, जब चादनी रात मे शबनम के भय से चदोवे ताने जाते थे, तब तीतर-बटेर व पतग-बाज़ी का इश्क अपनी चरम सीमा पर था। लखनऊ की वह जीवनचर्या वहा की सस्कृति थी

जिसे किसी अर्थ में आंचलिक कहा जा सकता था (यद्यपि लेखक उसे किसी अर्थ में आंचलिक स्वीकार करने को तत्पर नहीं) परन्तु वह भी सामन्ती संस्कृति। मध्यवर्ग का तब उदय भी नहीं हुआ था। हां, यह अवश्य सत्य है कि यह एक ऐसी संस्कृति थी जो पूर्ण रूप से अपनी थी और इसी नाम से आज भी प्रसिद्ध है। किन्तु नवीन (पाश्चात्य या औद्योगीकरण के) प्रभावों से ग्रस्त लखनऊ की संस्कृति की बात समझ में नहीं आती। नवीन लखनऊ के एक मोहल्ले, चौक, के मध्यमवर्गीय समाज से सम्बन्धित उपन्यास 'बूंद और समुद्र' को आंचलिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया गया है और उसी के आधार पर शहरी अंचल की बात भी की जाती है। परन्तु आंचलिकता एक ऐसा गुण है जो स्वयं उद्भूत होता है, उत्पन्न नहीं किया जाता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भी शहरी अंचल की बात स्वीकार नहीं करते—

> "उपन्यास के ऐतिहासिक विकास को देखते हुए और आंचलिक उपन्यास के सीमित और पारिभाषिक अर्थ का ध्यान रखते हुए नगर से सम्बन्धित उपन्यासों को आंचलिक नहीं कहा जा सकता। वह वैचित्र्य, वह स्वच्छन्द व्यवहार सभ्यता के दोषों से रहित वह आदिम मानव-प्रकृति जो आंचलिक उपन्यासों की केन्द्र-वस्तु है, नागरिक चित्रण में नहीं आ सकती।"[1]

इसका यह मतलब नहीं कि आंचलिक कथा ग्राम-कथा ही हो।

> 'अक्सर सम्पूर्ण ग्राम-कथा-साहित्य को आंचलिक मानने का भ्रम हिन्दी में फैला हुआ है। ग्राम-कथा ज्यादा व्यापक भाव-भूमि की वस्तु होती है, ग्राम-जीवन सभी साहित्यों की परिचित वस्तु होता है, जबकि आंचलिकता एक खास प्रकार के विशिष्ट क्षेत्र के जीवन से अपने को सम्पूर्णतः सम्बद्ध कर देती है। उस जीवन को उपेक्षित और अछूता समझ कर उसके समग्र रूप का, छोटी से छोटी विशेषताओं के साथ पुनः प्रस्तुतीकरण आंचलिकता का लक्ष्य होता है—प्रत्येक ग्राम-कथा आंचलिक नहीं होती जबकि प्रत्येक आंचलिक कथा ग्राम-कथा हो सकती है।"[2]

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी का मत भी द्रष्टव्य है—

> "आंचलिक उपन्यास की वर्ण्य-वस्तु विशुद्ध रूप से ग्रामीण हो यह अनिवार्य नहीं है। किसी उप-नगर को भी कथाक्षेत्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है—यह भी हो सकता है कि कथांचल का एक छोर गांव की ओर हो और दूसरा शहर की। हिन्दी में पहले प्रकार का उदाहरण 'सागर लहरें और मनुष्य' है और दूसरे प्रकार का 'कथा का घामला और

---

१ सारिका मासिक, अक्तूबर १६६१।

२ श्री शिवप्रसाद सिंह 'आंचलिकता और आधुनिक परिवेश', 'कल्पना' मार्च ६५, पृष्ठ ३२।

> साप' है। किन्तु फिर भी ये कृतियां अपवाद स्वरूप ही है। आचलिक उपन्यास की भावी समृद्धियो की ओर इगित करने वाली कृतिया वे ही है जिन्होने गाव को कथाधार के रूप मे ग्रहण किया है।'[1]

इस सबध मे सुप्रसिद्ध आचलिक उपन्यासकार श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के मत पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। आचलिक उपन्यासो पर आयोजित 'सारिका' मासिक मे एक परिचर्चा (अक्टूबर १९६१) मे उन्होने जो विचार व्यक्त किये हैं वे आचलिक उपन्यासो मे उनकी सफलता देखते हुए अधिक सगत नही लगते। वे लिखते हैं—

> "इधर आचलिक शब्द मे एक नया भ्रम पैदा हो रहा है। कदाचित् यह समझा जाने लगा है कि आचलिक उपन्यास वही है जो केवल ग्रामीण-जीवन पर आधारित हो और वहा की सस्कृति का चित्रण करे। इस तरह का विचार निराधार नही है। इसी बीच हिन्दी मे जो कुछ लिखा गया है उसमे अधिकाश कथाकारो ने ग्रामो को ही अपनी लेखनी का सम्बल बनाया है। नागरी जीवन को लेकर कुछ छुट पुट प्रयत्न हुए है पर उनमे विशेष सफलता नही मिल पाई। वास्तविकता यह है कि अचल एक देहात हो सकता है, एक भारी शहर भी, शहर का एक मोहल्ला भी और इन सबसे दूर सघन वनो की उपत्यकाए भी।"

डा० कान्ति वर्मा ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है—

> "आचलिक शब्द का तात्विक अर्थ यह नही है कि केवल ग्रामीण कथाए ही इसके क्षेत्र मे आयें बल्कि किसी छोटे शहर की विशेषता को उभारने वाला साहित्य भी आचलिकता की सीमा मे आ जाता है। हिन्दी मे कितने ही उपन्यास इस प्रकार के लिखे गये हैं जिनमे छोटे शहरो की सास्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियो का चित्रण हुआ है और उनमे आचलिकता के अन्य सब तत्त्व भी पाये जाते है।"[2]

परन्तु यह तो हुई सिद्धान्त की बातें जिनकी दुर्बलता दोनो ही विद्वानो को आगे चलकर भासित हुई। परिणामस्वरूप अपने ग्रन्थ मे जब आचलिक उपन्यासो की सूची देने की बात आई तब डा० कान्ति वर्मा ने केवल छ उपन्यासकारो के तेरह उपन्यासो की सूची दी जिसमे केवल वे ही उपन्यास हैं जो हमारे मतानुसार भी आचलिक हैं।[3] श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने अपने उसी लेख मे अपनी पूर्व-मत स्थापना से भिन्न ही बात कही है—"हमारे देश के विभिन्न अचल ही हमारी सस्कृति के प्रतीक हैं। शहरो ने हमारी सस्कृति को कभी प्रभावित नही किया

१ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण', पृष्ठ २०७ २०८।
२ डा० कान्ति वर्मा, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' (१९६६), पृष्ठ १८४।
३ वही, पृष्ठ १९९।

और न उनके बल-बूते पर एक विराट् सांस्कृतिक धारा बन पाई। हां, गांवों की सहज और उन्मुक्त प्रवृत्तियों की भोंडी नकल अवश्य ही शहरों में हुई, लेकिन उससे सांस्कृतिक विकास की दिशा में किसी तरह का बल नहीं मिल सका। सघन वनों में रहने वाली जातियों के लोक नृत्यों को सजे-सजाये स्टेजों पर, जब कालेज की लड़कियां उपस्थित करती हैं तो इससे उन्हें भले ही सन्तोष मिल जाय जिन्होंने कभी गांव नहीं देखे, वहां का वह सहज भोलापन और उल्लास नहीं देखा, लेकिन जिन्होंने यह सब स्वयं देखा है, वे आंसू बहाकर ही रह जाते हैं। इन नृत्य-गीतों में न तो थिरकन है, न वह मस्ती और न अटपटापन जो उनकी आत्मा है। 'रोज' और 'पाउडर'—पुती पुतलियां पलाश, आम और महुआ के झाड़ों के नीचे उन्मुक्त खेलती ग्राम-बालाओं की हवा तक नहीं हो पाती। शहर नकली संस्कृति के केन्द्र हो सकते हैं, संस्कृतियों का उद्गम वहां नहीं होता है। इसलिए ये आंचलिक उपन्यास हमारे सांस्कृतिक उपादान हैं और यदि विभिन्न अंचलों पर किसी तरह का सामूहिक प्रयास किया जाये, तो उससे हमारी बिखरी संस्कृति का एकीकरण और उनमें उपलब्ध समान तत्वों, समान विचारों और समान प्रश्नों को खोजा जा सकता है जो किसी भी स्वाधीन देश की अमानत हो सकते हैं।''[1]

श्री 'तृषित' जी के समान ही दोहरा मत श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी ने भी व्यक्त किया है—

> ''आंचलिक उपन्यासों का कथांचल गांव ही हो ऐसा अनिवार्य नहीं। किसी बड़े शहर के 'सबर्ब' को अपना कथा-क्षेत्र बनाने वाले उपन्यास भी आंचलिक हो सकते हैं।'[2]

परन्तु आगे वे स्वीकार करते हैं—

> ' फिर भी हिन्दी आंचलिक जीवन पर आधारित कला का व्यापक तथा संभावनापूर्ण रूप हमें ऐसे उपन्यासों में ही मिलता है जो विशुद्ध रूप से ग्रामीण हैं।''[3]

श्री बृजविलास शर्मा ने अपरिचित प्रदेश की बात भी स्वीकार कर ली है—

> ''मेरे विचार से वह आंचलिक उपन्यास अधिक सफल हो सकता है जिसमें कथा बुनने के लिये किसी अंचल को चुना गया हो जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों। साथ ही उपन्यासकार का उस प्रदेश के लोक-जीवन से घनिष्ठ परिचय भी आवश्यक है।''[4]

---

१ श्री राजेन्द्र अवस्थी, तृषित, कहानी आज की', गद्यदीप ६३, पृष्ठ २४६।
२ श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी आंचलिक उपन्यास, ग्रामीण मध्यम वर्ग, कल्पना', मई १९५८ पृष्ठ ५६।
३ वही।
४ श्री बृजविलास शर्मा, हिन्दी उपन्यास में नये प्रयोग, 'आलोचना', जनवरी १९५६, पृष्ठ ४६।

शहरी अचल (?) पर लिखे गये उपन्यासो मे सफलता क्यो नही मिली, ग्राम्य अचलो से सबधित उपन्यासो मे क्यो मिली ? इसलिए कि ग्राम्य अचल मे प्रमुख रूप से असभ्य और पिछडे हुए लोगों का निवास होता है। इन तथाकथित असभ्य और पिछडे हुए लोगो के जीवन मे नैसर्गिक प्राण शक्ति का बाहुल्य होता है। नागरिक जीवन की कृत्रिमता की तुलना मे यह जीवन अधिक स्वच्छन्द, ग्रंथि-विहीन, और सशक्त होता है। उपन्यास का इतिहास साक्षी है कि जब यूरोप मे नागरिक जीवन का चित्रण अपनी चरमसीमा पर पहुच गया तब पाठको को उसमे बासीपन दिखाई देने लगा। परिणामस्वरूप एशिया और अफ्रीका की जातियो को लेकर उपन्यास लिखे गये। ऐसे उपन्यास यूरोपीय पाठको को अवरुद्ध वातावरण मे आने वाली ताजी हवा के झोके के समान प्रतीत हुए। यूरोप के नागरिक जीवन की शिष्टता और फैशन-परस्ती की तुलना मे यह जीवन अधिक स्वच्छन्द और अबाध था। शहरी जीवन सदा से ऐसा ही रहा है और भविष्य मे भी रहेगा, इसी कारण शहरी अचल को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यास ग्रामीण अचलो पर आधारित उपन्यासों की तुलना मे सफल नही हो सकते। शहरी सभ्यता कृत्रिम होती है, उसमे नवीनता के नाम पर विकृति होती है, वह सभ्यता कहलाने की अधिक अधिकारिणी होती है, संस्कृति कहलाने की नही। आचलिक सभ्यता को संस्कृति कहा जाना ही अधिक उपयुक्त है क्योकि वह शताब्दियो से निर्मित एक जीवन-प्रणाली होती है जिसका आधार उसकी नैसर्गिकता व स्वाभाविकता होती है। उसमे प्राचीनता का आरोप होता है परन्तु नवीनता की औपचारिकता नही। यह नही कि नवीन स्थितिया, नवीन विचार, नवीन समस्याए उन्हे प्रभावित नही करती—अवश्य करती हैं (किसी भी आचलिक उपन्यास मे प्रगतिशील जीवन के सुन्दर रूप मिल जायेंगे) परन्तु उनकी प्राचीनता को ही अधिक मुखरित करने के लिए। अचलो की अपनी एक विशिष्ट सृष्टि होती है जिसमे भूत प्रेत होते हैं, ईर्ष्या-प्रतिहिसा होती है, अन्याय-पाप होते हैं, कसक होती है, पीडा होती है, परन्तु वही पर मीठापन अवश्य छिपा होता है। उन्हे पढते हुए हम भूत-प्रेतो को भगाना नहीं चाहते, मीठी कसक का आस्वादन करते हुए उसे सह जाने मे ही सुख व सन्तोष का अनुभव करते हैं।

नागरिक जीवन पर आधारित उपन्यास इन सभी विशेषताओ से रहित होते हैं और इसीलिए आचलिक चित्रण की दृष्टि से असफल होते हैं, उदाहरण के लिये 'बूद और समुद्र', 'बोरीवली से बोरीबन्दर', 'दीर्घतपा'। आचलिकता का नागरीय परिवेश से उतना ही अन्तर है जितना अचल का साडी के छोर से। अचल वह होता है जिसमे प्यार, दुलार, जीवन और बलिदान छिपा होता है, वह उन भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है जो नारी-हृदय की शाश्वत निधि होती हैं। यह अचल रमणी की साडी का छोर नही जो नायलोन पर कलात्मक अभिव्यक्ति के

प्रदर्शन को ही महत्त्व देता है, उसे स्वच्छ और सलवट रहित रखने मे ही अपनी योग्यता व व्यस्तता की पूर्णता समझता है परन्तु जिसकी छाया मे प्रेम, दया, सहानुभूति और वात्सल्य का लेश-मात्र भी नही पाया जाता। छोर मात्र होने मे साडी का छोर अचल नही बन जाता, उसके साथ भावनाओं का सहयोग आवश्यक है। उस छोर को अचल कहलाने का अधिकार नही जिसकी छाया मे सतान तक नही पलती, सतान को नौकरो और आयाओ की देख-भाल मे छोडकर जिसे केवल प्रदर्शन की वस्तु बनाकर सन्तोष किया जाता है। अचल मे पवित्रता व त्याग छिपा होता है, उसमे कृत्रिमता एव प्रदर्शन का आभास मात्र भी नही होता। रमणी की कलापूर्ण साडी का मूल्य मा के आचल की तुलना मे नगण्य होता है। एक शाति, सन्तोष एव आश्रय प्रदान करती है तो दूसरी केवल दुर्वासना ही उभाडती है। यही अन्तर है ग्राम्य एव शहरी अचल मे। कहने को शहरी परिवेश को भले ही अचल कह दिया जाये परन्तु उसम वह पवित्रता, सरलता एव प्रेम उपलब्ध नही होता जो वस्तुत ग्राम्य अचल की ही विशेषता है।

आचलिकता, प्रादेशिकता, स्थानीय रग एव आचलिक सस्पर्श

आचलिकता का प्रादेशिकता स भी अन्तर समझ लेना आवश्यक है। 'आक्स-फोर्ड इग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार 'रीजन' या प्रदेश अपने प्राचीन (और अब अप्रयुक्त) अर्थ मे राज्य के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु अब उसका अर्थ है भूमि का एक बडा टुकडा, देश, किसी सीमा तक पारिभाषित पृथ्वी की सतह का भाग जो कुछ विशेष प्राकृतिक रूपो, जलवायु सबधी दशाओ, जीव, वनस्पति आदि के कारण विशिष्टता रखता है।[1]

अन्य अग्रेज़ी कोशो मे भी प्रदेश की इससे मिलती-जुलती परिभाषा दी गई है। 'द अमेरिकन कॉलेज इनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी' मे अर्थ को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। इस ग्रथ मे 'रीजन' का यह अर्थ भी दिया गया है—

"शहर या राज्य का एक प्रशासनिक विभाग।"[2]

---

1. REGION—(a) A realm or kingdom obs. (b) A large tract of l ... d portion of ear- ... certain natural ... una or flora, or the like.
—THE OXFORD ENGLISH DICTIONARY Vol VIII, page 371

2. REGION—Any more or less extensive, continuous part of a surface or space , an administrative division of a city or territory
—THE AMERICAN COLLEGE ENCYCLOPEDIC DICTIONARY Vol VII p 1020.

हिन्दी शब्दकोशों में भी प्रदेश का अर्थ इसी रूप में प्राप्त होता है। यद्यपि आंचलिकता व प्रादेशिकता का अन्तर कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है तथापि दोनों शब्दों के अर्थों में गंभीर अन्तर है। प्रदेश एक भौगोलिक या राजनीतिक इकाई होता है, अंचल एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक इकाई। प्रदेश बहुत उन्नत या पिछड़ा हुआ हो सकता है परन्तु अंचल नवीन बाह्य-प्रभावों की तुलना में पिछड़ा हुआ ही होता है। यह पिछड़ापन केवल नवीन प्रभावों के अनुपात में ही होना है, वास्तविकता में स्थिति भिन्न भी हो सकती है। मानवता के अनेक गुण जो संस्कृति व सभ्यता की विशेषता समझे जाते हैं, बहुधा पिछड़ी हुई जातियों में अधिक मुखर होते हैं। नवीन प्रभावों के परिणामस्वरूप अपने को उन्नत एवं सभ्य समझनेवाला आधुनिक अक्सर स्वार्थी, लोलुप एवं पाखण्डी देखा गया है। प्रत्येक अंचल एक प्रदेश तो हो सकता है परन्तु प्रत्येक प्रदेश अंचल हो यह आवश्यक नहीं। प्रादेशिकता एक नहीं, अनेक कारणों से आ सकती है और प्राकृतिक विशेषताओं का परिणाम भी हो सकती है। कोई प्रदेश अपने पहाड़ों, नदियों, जलवायु, भूमि, खनिज, वन अथवा फसलों के कारण प्रमुखता प्राप्त कर सकता है। एक आर्थिक प्रदेश, सम्पूर्ण प्राकृतिक प्रदेश अथवा उसके भाग मात्र से भी निर्मित हो सकता है। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक या राजनीतिक प्रदेश भी भिन्न आधारों पर बांटे जा सकते हैं। रुचि और उद्देश्य भी उनके विभाजन का आधार बन सकते हैं। इस प्रकार हर प्रदेश के निर्माण में विरोधी अथवा सहयोगी रुचियों का सहयोग रहता है।[1] परन्तु अंचल का निर्माण स्वतः ही होता है। सहयोगी या असहयोगी रुचियां, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा ऐतिहासिक विचार, उसके विस्तार का निर्णय नहीं करते। उसमें तो स्वतः ही इन सभी आधारों का समन्वित परिणाम प्रकट हो जाता है और अपने रूप का वह स्वयं ही विज्ञापन बन जाता है। यह भी संभव है कि एक विशाल देश में जो अंचल हो, वह अपेक्षाकृत छोटे देश में प्रदेश बन जाय और उसमें भी छोटे भू-खण्ड में राष्ट्र बन जाय

1. 'A region generally has no distinct geographical or political boundaries Its identity is usually one of character. For example, a region may have natural characteristics It may be known for its mountains, rivers climate, soil, minerals, forests or crops An economic region includes all or part of a natural region Cultural, historical or political regions are also divided along their particular lines, or according to their interests and purposes. Each region has conflicting as well as unifying interests".
—THE WORLD BOOK ENCYCLOPEDIA Vol. XV, page 198

क्योंकि राष्ट्र तो अपने आप में एक सम्पूर्ण इकाई होता ही है, प्रदेश भी किसी दृष्टि से पूर्ण इकाई के रूप में जाना जाता है और अंचल तो एक विशिष्ट और निश्चित इकाई होती ही है।

'अंचल' शब्द के अर्थ की सही सीमाएं स्पष्ट करते हुए श्री शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है—

> 'जैसा इस शब्द से स्पष्ट है, यह भाव-संज्ञा किसी क्षेत्र या अंचल से सबद्ध है। क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों के रहन-सहन प्रथाएं उत्सवादि, आदर्श और आस्थाएं, नैतिक मान्यताएं तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएं परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर यह क्षेत्र या अंचल विशेष इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो। इस प्रकार के अंचल या क्षेत्र के जीवन को अभिव्यक्त करने वाली रचना को हम आंचलिक कह सकते हैं।'[1]

इस प्रकार यदि प्रदेश का शाब्दिक अर्थ-मात्र ही लिया जाए तो अंचल अवश्य उसकी परिधि में आ जायगा क्योंकि अंचल भी एक प्रदेश ही होता है। परन्तु प्रदेश का एक अर्थ अपने विशिष्ट प्रयोग के कारण रूढ़ हो गया है और उसकी परिभाषा अंचल से भिन्न है। इसी कारण आचार्य श्री नंददुलारे वाजपेयी ने आंचलिक उपन्यास के संबंध में कहा है—

> आंचलिक शब्द का प्रयोग एक सीमित और किसी हद तक पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है। आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जन जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन में पाई जाती है।[2]

अंग्रेजी उपन्यासकार टामस हार्डी एवं अरनाल्ड बेनेट के उपन्यासों में प्रदेश का चित्रण मिलता है एक में वैसेक्स का दूसरे में फाइव-टाउन्स के क्षेत्र का। आंचलिकता के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व उनमें प्राप्त होते हैं—उदाहरणार्थ भावात्मक पृष्ठभूमि, विशिष्ट समस्याएं विशिष्ट संस्कृति, आदि। परन्तु चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यासों को इसी संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता है यद्यपि उसने भी अपने उपन्यासों में निश्चित प्रदेश ही लिया है तथा उन प्रदेशों से संबंधित समस्याओं का चित्रण भी किया है। इसके दो कारण है। प्रथम, उसने अपने उपन्यासों में

---

१ श्री शिवप्रसाद सिंह 'आंचलिकता और आधुनिक परिवेश', कल्पना', मार्च १९६५, पृष्ठ २६।

२ श्री नंददुलारे वाजपेयी 'सारिका' मासिक, अक्तूबर १९६१।

बुराइयो की ओर ही इगित किया है, उसके उपन्यास निराशा, दु ख व पीडा से परिपूर्ण है, उनमे सस्कृति के नाम पर कुसस्कृति का ही चित्रण है लोक-जीवन के पूर्ण चित्र भी उनमे उपलब्ध नही हैं। द्वितीय, डिकेंस एक व्यग्यकार (ह्यू मरिस्ट) था, अत उसका उद्देश्य ही भिन्न था।

इस प्रकार साहित्य मे प्रादेशिकता के दो रूप स्पष्ट दिखाई देते है। एक तो वह जो आचलिक रूप का ही परिवर्तित रूप होता है और दूसरा वह जो आचलिक नही व्यग्यात्मक होता है। परन्तु प्रादेशिकता का एक विस्तृत अर्थ भी है। अपने विस्तृत अर्थ मे प्रादेशिकता जब साहित्य के साथ सयुक्त हो जाती है तब उसके अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक गतिविधिया आ जाती है जो मनुष्य के भाग्य पर परिवेश के निर्माणकारी प्रभाव को स्वीकार करती है तथा एक निश्चित स्थान के भौगोलिक एव सास्कृतिक इतिहास के कारण वहा के निवासियो म प्राप्त होने वाले असामान्य गुणो को सत्यता से प्रकट करती है।[1] इस प्रकार की प्रादेशिकता का जब साहित्य से सम्बन्ध जोड दिया जाता है तब ऐसे साहित्य का निर्माण हो जाता है जो प्रभाव प्रवणता म आचलिक उपन्यास के समकक्ष ही जा बैठता है। ऐसी प्रादेशिकता की प्रशसा हेनरी जेम्स न स्वय की है। दक्षिणी अमरीकी उपन्यास लेखिका कान्सन्स फेनीमोर वूलसन (१८४०-१८९४) की कला पर टिप्पणी करत हुए उसने लेखिका का इस कारण सराहा है कि वह उस स्थान के अतरग से परिचित थी। वह हर पौधे, पुष्प, अस्पष्ट सुगन्धि ध्वनि, सगीत तथा प्रत्येक पक्षी के कलरव से परिचित थी, आकाश के प्रत्येक रग का उसे ज्ञान था तथा जगल की प्रत्येक मरमराहट को वह पहचानती थी। उसने वहा के निवासियो की बोली का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया था।[2]

---

1 "The term REGIONAL LITERATURE applies to a variety of literary works and movements which acknowledge the shaping power of environment on human fortunes and which try to render with exactitude the unique qualities that the geographical & cultural history of a given locality have imparted to the lives of the inhabitants"

—THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA Vol XVII, page 572

2. ". she knows every plant and flower, every vague odor and sound, the song and flight of every bird, every tint of sky and murmur of the forest, and she has noted scientifically the dialect of the freedman".

—IBID—page 572.

डेनियल हाफमैन ने प्रादेशिकता के परिवर्तित होते हुए रूपों की बात भी स्वीकार की है। इसी कारण उनकी राय मे प्रादेशिकता की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। ये रूप युग युग मे, देश-देश मे और प्रदेश-प्रदेश मे परिवर्तित होते रहते है। सामाजिक भौगोलिक या भाषा-सबधी कोई भी मानदण्ड साहित्य की प्रादेशिकता को पूर्णता से परिभाषित नही कर सकते क्योंकि निरीक्षण करने पर यह लेखक की चुने हुए प्रदेश की विषयगत सयोजना ही सिद्ध होते है।[1]

यही प्रादेशिकता सयुक्त राज्य सघ मे स्थानीय रग आन्दोलन (लोकल कलर मूवमेंट) का रूप लेकर आई। वहा इसका जन्म विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ। गृह-युद्ध के पूर्व तक सभी राज्यों के साहित्य को समग्र रूप म राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता था परन्तु विजय के उपरान्त साहित्यिक भावना ने नई करवट ली। एक ओर तो प्रादेशिकता को सदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा था दूसरी ओर यह भी अनुभव किया जाने लगा था कि नव-सगठित राष्ट्र बहुत विस्तृत था जिसमे सास्कृतिक असमानताए थी। इस धारणा ने छोटे परन्तु राजनीतिक दृष्टि मे महत्वहीन समाजो के साहित्यिक अध्ययन के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया और गृह-युद्ध म पूर्व के पतनोन्मुखी पूर्व-औद्योगिक जीवन पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रेरणा दी। प्रादेशिकता का यह नवीन रूप 'स्थानीय रग' देने की प्रवृत्ति कहलाता है। इसमे प्राकृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि की विस्तृत सूचना देना कलाकार का उद्देश्य होता है। श्रीनारायण अग्निहोत्री ने भी लगभग यही बात कही है। वे लिखते है—

> किसी भी कथात्मक रचना मे जब कथा-वस्तु की पृष्ठ-भूमि के विषय मे भरपूर सूचना दी जाती है और वहा के वातावरण का निर्देशन स्थानगत, भौगोलिक सामाजिक एव सांस्कृतिक परिस्थितिया की समष्टि के

---

1 "The term 'regionalism' itself has had no stable definition, and the definition of regional literature accordingly varies from decade to decade, from country to country, even from region to region Neither sociological, geographical, nor linguistic criteria can define literary regionalism with exactitude, for it proves on examination to be the subjective identification made by an author to his chosen locality "

—THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA Vol. XVII, page 572

समन्वय के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तब उसे स्थानीय रग देना कहते है।"[1]

यह स्थानीय रग प्रादेशिकता से पर्याप्त भिन्न होता है। प्रादेशिकता मे गहराई होती है और स्थानीय रग म विस्तार। इन दोना का अन्तर श्री शिपले ने कुशलता से स्पष्ट किया है—"प्रादेशिक कलाकार प्रत्येक प्रदेश म उन विभिन्न स्थितिया पर ध्यान देता है जो वहा के निवासियो के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती है और इस प्रकार सस्कृति एव प्रवृत्ति का एक भिन्न रूप विकसित करती है, स्थानीय रग सटिंग, बोली वेश भूषा, प्रथाओ के अनावश्यक तत्वो को कथा म प्रमुख तत्त्व के रूप म नही, सजावट के रूप मे प्रस्तुत करता है।[2]

'आक्सफोर्ड कम्पैनियन टु अमेरिकन लिटरेचर' के अनुसार भी स्थानीय रग शब्द-युग्म कथा साहित्य या काव्य के साथ प्रयुक्त होता है और उसके 'सेटिंग' के महत्त्व का बोधक होता है। यह सेटिंग' एक प्रदेश अथवा क्षेत्र के उन रीति रिवाजा, बोलियो, वेश-भूषा प्रकृति अथवा अन्य ऐसी विशिष्टताओ स सबद्ध हाता है जिन पर सास्कृतिक मानको का प्रभाव न पड सका हो। प्रारम्भिक अमरीकी साहित्य, जैसा कि किसी भी साहित्य के लिए स्वाभाविक है स्थानीयता प्रकट करता है। परन्तु स्थानीय रग आन्दोलन ने सयुक्त-राज्य म गृह-युद्ध के उपरात विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया, सभवत इसलिए कि वह विगत युग की तडक-भडक को प्रतिबिंबित करना चाहता था अथवा इसलिए कि नव निर्मित सयुक्त राज्य के भिन भिन्न खण्डो का एक दूसरे की तुलना म अन्तर बताना चाहता था।[3]

---

1 श्रीनारायण अग्निहोत्री, उपन्यास तत्त्व एव रूप विधान, पृष्ठ १३४।

2 "while regionalist sees in each region different conditions that operate profoundly in the lives of its people and thus develop different pattern of culture and character Local colour, thus presents superficial elements of setting, dialect, costume, customs not as basic element of the story but as decoration"

—Joseph T Shipley, DICTIONARY OF WORLD LITERARY TERMS, page 257

3 'Local Colour term applied to fiction or verse which emphasizes its setting, being concerned with the character of a district or an area as marked by its customs, dialects, costumes, landscape or other pecularities that have escaped standardizing cultural influences The earliest American writings reflect its locale, as all literature must, but

स्थानीय रंग प्रादेशिकता से भिन्न होता है ऐसा श्री सीताराम चतुर्वेदी भी मानते हैं। उनके मतानुसार स्थानीय रंग की विशेषता यह होती है कि इसमें नये और अपरिचित दृश्य खोजे जाते हैं या किसी परिवर्तनशील या ह्रासोन्मुख स्थान रूप का विवरण सुरक्षित किया जाता है जैसे स्कॉट की कहानियों में। प्रदेशवादी तो प्रत्येक प्रदेश में ऐसी विभिन्न स्थितियाँ देखता है जो वहाँ के निवासियों के जीवन पर बहुत प्रभाव डालती हैं और तदनुसार संस्कृति तथा चरित्र के विभिन्न मान उपस्थित करती हैं किन्तु स्थानीय रंग वाले किसी साम्य दृश्य के प्रति पर्यटक का दृष्टिकोण उपस्थित करता है।—स्थानीय रंग का अर्थ हुआ किसी कथा के मूल तत्त्व के रूप में नहीं वरन् सजावट के रूप में उस कथा में किसी दृश्य, भाषा, वेश, आचार विचार और व्यवहार का सजीव किन्तु वर्णन देना।[1]

स्थानीय रंग आंचलिकता नहीं होता यद्यपि आंचलिकता एक प्रवृत्ति होती है और आंचलिक उपन्यासकार किसी विशेष अंचल (भू-भाग) की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि व्यवस्थाओं एवं परम्पराओं का जनजीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाली शक्ति के रूप में बखान करता है जिसमें वहाँ की एक विशिष्ट जीवन पद्धति मुखर हो उठती है परन्तु स्थानीय रंग में किसी गाँव या नगर या किसी स्थान के रीति रिवाज, रहन-सहन, बोली, खान पान आदि की विचित्रतापूर्ण या कृत्रिम विशिष्टता का चित्रण कथा के आधार मूल तत्त्व के रूप में न करके अलंकरण के रूप में किया जाता है।[2] वास्तव में स्थानीय रंग आंचलिकता से भी ऊपर की वस्तु है।[3]

स्थानीय रंग से मिलती जुलती एक अन्य विशेषता की ओर भी विद्वान संकेत करते हैं—आंचलिक संस्पर्श। इसके सम्बन्ध में डा० बच्चन का मत है—यह आंचलिक संस्पर्श वहाँ देखने में आता है जहाँ लेखक का मुख्य उद्देश्य कुछ दूसरा ही होता है और उसकी पूर्ति के लिए वह आंचलिक विशिष्टताओं का चित्रण

---

the local colour movement came into particular prominence in the U. S. after Civil War, perhaps as an attempt to recapture the glamour of the past era, or to portray the sections of the reunited country one to the other

THE OXFORD COMPANION TO AMERICAN LITERATURE page 630

१ पं० सीताराम चतुर्वेदी समीक्षा शास्त्र पृष्ठ ६६७।

२ श्री ज्ञानाग्नि विश्वमित्र उपन्यास कला : एक विवेचन, पृष्ठ ७६।

३ श्री शिवप्रसाद सिंह आंचलिकता और आधुनिक परिवेश, कल्पना मार्च १९६५ पृष्ठ ३२।

करता है" प्रधान उद्देश्य नवीन सामाजिक पृष्ठ-भूमि मे उठने-उभरते हुए नये मानव, आर्थिक-सामाजिक संघर्ष एव जीवन का चित्रण करना है। ऐसे उपन्यासो की सृष्टि का श्रेय नागार्जुन एव रेणु जैसे लेखको को दिया जाना चाहिए।"[१]

इस मत से ऐसा लगता है जैसे आंचलिक संस्पर्श समाजवादी मान्यताओ को आकर्षक एव मनोहर आवरण देने का साधन मात्र है। श्री जानादि विश्वमित्र इसे भिन्न ही वस्तु मानते है—"आंचलिक संस्पर्श मे आंचलिकता के समान किसी एक भू-भाग के विशिष्ट जीवन का चित्रण नही होता बल्कि इसमे लेखक अपनी रचना के भीतर आये विभिन्न स्थलो की विशिष्टताओं की थोडी झलक दे देता है, पर उसका मूल उद्देश्य किसी अंचल विशेष के जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं होता।"[२]

श्री विश्वमित्र ने टामस हार्डी के 'रिटर्न आफ द नेटिव' को आंचलिक संस्पर्श का सुन्दर उदाहरण माना है। उन्हे नागार्जुन के छहो उपन्यासो मे भी इसके अनेक स्थल मिले है। उपर्युक्त दोनो मतो मे गभीर अन्तर है। डा० बचन के मतानुसार तो आंचलिक संस्पर्श एक प्रभावशाली साधन है जिसका उपयोग विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक समझा जाता है परन्तु श्री विश्वमित्र के मत मे वह केवल उपयोगी सुसज्जा की वस्तु है। सत्य उक्त दोनो विद्वानो के मतो के बीच म है, अर्थात् आंचलिक संस्पर्श साधन तो है परन्तु सामाजिक आर्थिक-संघर्ष-चित्रण मात्र का नही, वह सुसज्जा की वस्तु भी है, परन्तु अंचल विशेष के जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली अनिवार्य सुसज्जा की। दूसरे शब्दो म यह कहा जा सकता है कि आंचलिक संस्पर्श यथार्थ-निरूपण की एक प्रणाली है जिसके द्वारा कथाकार देश काल व वातावरण का प्रभावशाली रूप उपस्थित कर कथा को अधिक अर्थपूर्ण चरित्र चित्रण को अधिक स्वाभाविक, शैली को अधिक चित्रोपम, तथा संपूर्ण ग्रन्थ को अधिक रोचक बनाता है। आंचलिक संस्पर्श आंचलिकता व स्थानीय रग देने की प्रवृत्ति के बीच की स्थिति है जिसमे यदि आंचलिकता वाली गहराई नही होती है तो स्थानीय रंग का उथलापन भी नही होता। सबसे बडी बात यह है कि आंचलिक संस्पर्श कोई प्रवृत्ति विशेष नही है। कथाकार अनजाने ही कथांचल का चित्रण कर दिया करता है। परन्तु यदि सचेतन रूप मे विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए आंचलिक संस्पर्श सप्रयास दिया जाये तो वह अवश्य एक प्रवृत्ति बन जाता है। फिर भी वह उस प्रकार की प्रवृत्ति कभी नही बन पाता जिस प्रकार की प्रवृत्तिया आंचलिकता, प्रादेशिकता एव स्थानीय रग है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अपनी विशिष्टता यह है कि उसमे एक ओर

१ डा० बेचन, 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र चित्रण', पृष्ठ १८६।
२ श्री जानादि विश्वमित्र, 'उपन्यास कला एक विवेचन', पृष्ठ ७८।

यदि पश्चिमी प्रादेशिक उपन्यासों की परम्परा मिल जाती है तो दूसरी ओर स्थानीय रंग-परम्परा के भी दर्शन हो जाते है और इनसे किंचित् भिन्न, इन दोनों का समन्वित रूप 'आंचलिक' परम्परा भी अपने अत्यन्त समृद्ध रूप में प्राप्त हो जाती है। भारतीय संस्कृति के एक प्रमुख गुण समन्वयशीलता का यह सुन्दर साहित्यिक उदाहरण है।

यही नहीं पश्चिम में जब स्थानीय रंग आन्दोलन समाप्त हो गया और नई प्रकार की प्रादेशिकता ने जन्म लिया तब साहित्य में जिन नवीन रूपों की संयोजना वहां हुई उसका प्रभाव भी भारतीय आंचलिकता अपने में समन्वित किये हुए है। १६०० तक स्थानीय रंग आन्दोलन समाप्त हो चुका था और कला की नवीन आवश्यकताओं का ध्यान में रखकर नये कलाकार स्थानीयता में सार्वभौमिकता ढूंढने लगे थे। इसी उद्देश्य का प्रतीकवादी-कल्पनावादी महाकाव्यकार विलियम कैरोल्स विलियम्स ने अपने काव्य 'पैटरसन' (१६४६-५१) में उद्घोषित भी किया। इसी सुनियोजित प्रादेशिक आन्दोलन की घोषणा बारह दक्षिणी अमरीकी लेखकों ने अपने घोषणा पत्र 'आई विल टेक माई स्टैण्ड : द साउथ एण्ड द एग्रेरियन ट्रेडीशन' (१६३०) में कर भी डाली। इन लेखकों का उद्देश्य उस कृषि परम्परा को जीवित रखना था जो दक्षिणी राज्यों का प्रमुख गुण थी तथा उस औद्योगीकरण का विरोध करना था जो कला व परिश्रम के ह्रास का कारण सिद्ध हो रहा था। उन लेखकों के मतानुसार प्रादेशिकता में स्थानीय रंग की अपेक्षा कहीं अधिक साहित्यिक शक्ति होती है।

पाश्चात्य प्रादेशिकता के परिवर्तित होते हुए रूपों पर दृष्टिपात करने के उपरांत जब हम भारतीय आंचलिकता का अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने आप में इन सभी रूपों को समन्वित किए हुए है। आंचलिकता में जहां प्रादेशिकता के तत्त्व होते हैं वहां स्थानीय रंग के भी और बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न नवीन प्रादेशिकता के भी। यह अस्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि भारतीय साहित्य में आंचलिकता उस समय आई जब पश्चिम में उसके विभिन्न रूपों का उत्थान व पतन हो चुका था और एक नवीन प्रादेशिकता जन्म ले चुकी थी। इसलिए जब भारत में आंचलिकता के विकास में पश्चिम के योग की बात स्वीकार की जाती है तो उसके लिए पर्याप्त आधार है परन्तु भारत में वह राष्ट्र के विशिष्ट रूप के कारण भी आई इसमें भी सन्देह नहीं है। औद्योगीकरण के कारण पश्चिम में अंचलों का पतन हो गया परन्तु भारत में वे अभी भी ज्वलन्त सत्य है। एकता में अनेकता प्रदर्शित करने वाला विस्तृत भारत देश अंचलों के निर्माण एवं विकास के लिए अभी भी उर्वर आधार प्रदान करता है। कुछ भी हो, साहित्य में हिन्दी का 'अंचल' शब्द पश्चिम के 'प्रदेश' का अर्थ देनेवाले शब्द 'रीजन' के पर्याय के रूप में ही प्रचलित व आवश्यकतावश स्वीकृत भी है।

(ख)

कथा-साहित्य एवं औपन्यासिक शिल्प

आधुनिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य की एक विशिष्ट विधा है और उपन्यास विस्तृत कथा-साहित्य का एक अंग है, इसलिए इनके पारस्परिक संबंध के महत्त्व पर विचार करना आवश्यक है। साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उपन्यास का विकास बहुत बाद में हुआ। सभी सभ्य एवं सुसंस्कृत देशों में महाकाव्य व नाटक उपन्यास से पूर्व पल्लवित-पुष्पित हुए। संसार के सर्व-समृद्ध अंग्रेजी साहित्य में भी उपन्यास का उदय सोलहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं माना जा सकता यद्यपि काव्य व नाटक उसके पूर्व से रचे जा रहे थे। भारतीय साहित्य का आदिकाल तो महाकाव्यों व नाटकों की दृष्टि से संभवत संसार का समृद्धतम काल माना जाता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत व अपभ्रंश में कहानी-साहित्य की कमी नहीं। कहानी के बीज तो वेदों में भी प्राप्त हैं परन्तु जिस साहित्य को हम उपन्यास की संज्ञा से अभिहित करते हैं वह १८वीं शताब्दी के पूर्व नहीं रचा गया। संस्कृत साहित्य के 'कादम्बरी' व 'दशकुमार चरित' भी नीति व चमत्कार के आधिक्य के कारण उपन्यास नहीं माने जा सकते। हिन्दी भाषा का तो जन्म ही बाद में हुआ अत उसके साहित्य में उपन्यासों का आविर्भाव भी विलम्ब से हुआ। हिन्दी साहित्य का विकास तो उपन्यास साहित्य के माध्यम से ही हुआ। इंशा-अल्लाखा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' में उपन्यास का प्रारंभिक रूप ही दिखाई देता है।

हिन्दी का 'उपन्यास' शब्द संस्कृत 'न्यास' (रखना) में 'उप' (समीप) उपसर्ग लगकर बना है। इस प्रकार उपन्यास हमारे समीप 'कुछ' रखता है। यह 'कुछ' क्या है इस संबंध में विद्वानों में मतैक्य हो चुका है। यह 'कुछ' है 'जीवन'। जीवन को ही उसके नाना रूपों में चित्रित करना कथा साहित्य का उद्देश्य है। यह चित्रण जीवन के सत्य का दिग्दर्शन कराता है इसीलिए कहानी, नाटक, महाकाव्य, उपन्यास, सभी में यही चिरंतन सत्य व्यक्त होता है। शिल्पविधियों का इनमें अन्तर अवश्य होता है जो स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक अंग की अपनी विशिष्टताएं, सीमाएं एवं आवश्यकताएं होती हैं।

कथा-साहित्य की, चाहे वह गद्य रूप में हो या पद्य-रूप में, सर्व प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें कोई कथा हो। कथा होती है घटनाओं का लेखा जोखा, उनका एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवाह। परन्तु ये घटनाएं किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्तियों के साथ घटित होती है। अपने आप में घटित होने वाली घटनाएं जिनका व्यक्तियों के जीवन में संबंध न हो, साहित्य के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। संसार प्रति-क्षण परिवर्तित होता रहता है अत घटनाएं भी प्रतिक्षण

घटित होती रहती है क्योंकि परिवर्तन ही जीवन की सबसे बड़ी घटना है और सबसे बड़ा सत्य भी, परन्तु यह परिवर्तन एक नैसर्गिक नियम के अनुसार होता है अत आकर्षण या मनोरंजन का विषय नहीं रहता। जीवन में भी आकर्षण का विषय वे घटनाएं नहीं होती जो नैसर्गिक सत्य होती है। किसी व्यक्ति के जन्म-मरण का ब्यौरा उसकी जीवनी या कहानी नहीं होती, इसके विपरीत नैसर्गिक सत्यों के बीच होने वाली व उनको सबधित करने वाली परिस्थितियां 'घटना' शब्द में अभिहित होती है भले ही वे दुर्घटनाएं हों या सयोग। जीवन और मरण ये दो ही नैसर्गिक सत्य है परन्तु ये ही दो मनुष्य का ध्यान सभवत न्यूनतम आकर्षित करते है। इसके विपरीत जो कार्य वह करता है, जो सयोग या दुर्योग उसके साथ होते है, विभिन्न समस्याओं का जैसे वह सामना करता है, समाज को जो कुछ वह प्रदान करता है, उन्हीं सबके आधार पर हम उसके जीवन का मूल्यांकन करते हैं। कथा-साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि वह नैसर्गिक सत्यों को गौण मानते हुए उन घटनाओं को अधिक महत्त्व देता है जो उन नैसर्गिक सत्यों को एक दूसरे से मिलाती है।

घटनाओं की मनुष्य पर विशिष्ट प्रतिक्रिया उसके विशिष्ट चरित्र के कारण होती है। इनका सबध एक व्यक्ति से भी नहीं होता क्योंकि समाज में मनुष्य एकाकी व स्वतत्र जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इसीलिए जिन कथाओं का साहित्य से सबध होता है उनमें कई पात्र होते हैं जो वार्तालाप आदि उपकरणों द्वारा अपनी उपस्थिति को चरितार्थ करते हैं।

इन मनुष्यों या पात्रों के साथ जो घटनाएं घटित होती है वे किसी स्थान, काल एव वातावरण में ही घटित होती हैं। अत देश, काल व वातावरण को स्वत ही महत्त्व प्राप्त हो जाता है। इन सभी का व्याख्याकार कथाकार होता है इसलिए उसकी भाषा एव शैली की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अपनी भाषा-शैली के माध्यम से कथाकार अपने दृष्टिकोण का समन्वय भी निश्चित उद्देश्य से अपनी कृति में कर देता है। इस प्रकार यदि समग्र रूप में देखा जाये तो कथा-साहित्य के छ सघटनात्मक तत्त्व दिखाई देते हैं—कथा-वस्तु, पात्र एव चरित्र-चित्रण, वार्तालाप, देश-काल एव वातावरण, उद्देश्य एव जीवन-दर्शन। विधा-विशिष्ट की अपनी आवश्यकता के अनुसार इन प्रमुख तत्त्वों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है। इस दृष्टि से उपन्यास का कहानी, नाटक एव महाकाव्य से अन्तर स्पष्ट कर देना तथा उसकी विशिष्टता का अवलोकन कर लेना आवश्यक है।

कथा-साहित्य के रूप में उपन्यास का सबसे अधिक साम्य कहानी, आख्यायिका या गल्प से होता है क्योंकि दोनों का प्रमुख उद्देश्य कथा कहना होता है। परन्तु यही दोनों का प्रमुख अन्तर भी है और इसी कारण दोनों का विकास साहित्य की भिन्न विधाओं के रूप में हुआ है।

बहुधा यह समझा जाता है कि कहानी उपन्यास का सक्षिप्त सस्करण मात्र है। परन्तु यह विचार अत्यन्त भ्रामक है। दोनो के शरीर, सस्कार तथा गठन तक मे अतर है। बैल अपने चारो पैरो पर बल देता हुआ चलता है तो मेढक चार पैरो के होते हुए भी उछल-उछल कर, बहुत सी भूमि छोड-छोड कर। दोनो के गति-क्रम मे अतर है। कहानी को जीवन की एक झलक या झाकी कहा जा सकता है। जीवन की एक झलक का अपना आकर्षण होता है वही कहानी का भी होता है, परन्तु जीवन की वह झलक जीवन की उस भिन्नता एव सश्लिष्टता को प्रस्तुत नही कर सकती जो उपन्यासकार का लक्ष्य होती है। उपन्यास का चित्र-पट विशाल होता है और कहानी का सकीर्ण। इसी कारण कहानी मे चरित्र के विकास के लिए स्थान नही रह जाता जो उपन्यास की एक महती आवश्यकता होती है। कहानी तो एक परिस्थिति व सीमित सबधो तक ही अपना क्षेत्र रखती है, अत जीवन की विभिन्नता जो कथा की प्रमुख वास्तविकता होती है उसके माध्यम से अभिव्यक्त नही हो सकती। इसमे सन्देह नही कि कहानीकार एक दृश्य पर ही सारा ध्यान केन्द्रित कर उसे अत्यन्त प्रभावशाली बना सकता है, एक धनुर्विद् की कुशलता से लक्ष्य पर ही तीर छोडकर पाठक को अन्तिम सवेदना तक शीघ्र से शीघ्र पहुचा सकता है, परन्तु उपन्यासकार जीवन की उसकी विभिन्नता तथा चरित्र को उसके विकास के सोपानो मे चित्रित करता है जो कहानीकार नही कर सकता। सभवत अपनी इसी सीमा से असन्तुष्ट हो कहानीकार यह प्रयत्न करता भी देखा गया है कि वह अपनी कहानी के नायक को विभिन्न परिस्थितिया एव सबधो मे चित्रित करने के लिए कथा-श्रृखलाओ का सर्जन करता है जैसा श्री स्टीवेन्सन ने 'न्यू अरेबियन नाइट्स' और आर्थर कानन डायल ने 'शरलाक होम्स' की कथाओ मे किया है। उपन्यास व कहानी मे केवल कलेवर की भिन्नता नही होती, अन्य अन्तर भी दिखाई देते है। कहानी मे पात्रो की सख्या कम से कम रखनी पडती है इस कारण चरित्र-चित्रण का भी पूर्ण विकास नही हो पाता। उपन्यासकार को इस दिशा मे खुली छूट होती है। उद्देश्य के सबध मे भी दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। जहा कहानी हमारी समस्याओ, चिन्तन व भावनाओं को मूर्त रूप देती है वहा वह किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करती, केवल मार्ग ही प्रदर्शित कर सकती है। शका-समाधान का कार्य तो उपन्यास के माध्यम से ही सभव है। जहा तक वार्तालाप, देश काल, वातावरण व शैली का सबध है, कहानी अवश्य ही उपन्यास का सक्षिप्त सस्करण होती है।

उपन्यास की तुलना कथा-साहित्य के अन्य अग नाटक से भी की जा सकती है यद्यपि तात्विक दृष्टि से दोनो साहित्य के दो भिन्न रूपो से सम्बन्धित है। नाटक दृश्य-काव्य है और उपन्यास श्रव्य-साहित्य। यद्यपि नाटक पुस्तकाकार मे भी पढा भी जाता है तथापि उसके लेखन का प्रमुख उद्देश्य अभिनय ही होता है।

प्राचीन काल मे सभी देशो मे नाटको को शीर्ष-स्थान प्राप्त था परन्तु नाटक की अपनी सीमाए होती है। वह उन अनेको बंधनों म बधा होता है जिनसे उपन्यास स्वतंत्र होता है। नाटक म विभिन्न तत्त्वों का एक मात्र निर्णायक रंग-मंच होता है। अमूर्त व विशालकाय वस्तुओ को रंग-मंच पर नही दिखाया जा सकता और न नगर ग्राम, पर्वत नदी पहाड़ो आदि का मनमाना प्रयोग ही किया जा सकता है। उसमे वही वस्तु सम्मिलित की जाती है जो रंग-मंच पर प्रस्तुत की जा सके। इस कारण न तो लेखक को अपना दार्शनिक चिन्तन देने की छूट होती है और न ही विवरण देने का अधिकार। यदि वह चाहे तो किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बनाकर अपने विचार व्यक्त करा सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक नही कि पात्र द्वारा अभिव्यक्त विचारों को सदा ही लेखक का विचार मान लिया जाय। नाटक के ये अभाव प्राचीन काल म भी अनुभव किये जाते थे और इन्हे दूर करने के लिये अनेको उद्भावनाए भी कर ली जाती थी। ग्रीक नाटक-कार तो इस अभाव की पूर्ति के लिए महाकाव्यकार की स्वतन्त्रता का भी उपभोग कर लिया करते थे। इस प्रकार के प्रयत्नो का एक उदाहरण है उनकी दूत (मैसिन्जर) की योजना। दूत के द्वारा विस्तृत विवरण दिलवाये जा सकते थे तथा रंग मंच के बाहर घटित होने वाली घटनाओ की सूचना भी दी जा सकती थी। एक अन्य साधन होता था 'कोरस' जो गायकों का समूह हुआ करता था। इसका प्रयोग विचार व चिन्तन की कमी को दूर करने के लिये किया जाता था। इस प्रकार साहित्य के एक अंग के रूप मे ग्रीक नाटक अपने कलेवर मे महाकाव्य एव गीति-काव्य का भी समन्वय कर लेता था। परन्तु आज विवरणात्मक व विचारात्मक दोनों अंगो को नाटक से पूर्ण रूप से निष्कासित कर दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा की योजना व उसके प्रणयन मे नाटककार को अनेक सीमाओ मे बंधा रहना पड़ता है।

पात्र सयोजना म भी उपन्यासकार अधिक स्वतंत्र होता है क्योंकि वह अपनी रुचि व आवश्यकता के अनुसार कार्य कर सकता है। नाटककार को उनकी प्रेषणीयता के सबंध मे बहुत सजग रहना पड़ता है क्योंकि पात्र-दर्शक को घूमता-फिरता व कार्य करता दिखाई देता है। उपन्यास मे तो पात्र नाम मे ही पहिचाना जाता है यद्यपि उसके व्यक्तित्व का जो वर्णन किया जाता है वह उसके इस रूप को पहिचानने म सहायता करता है।

कथोपकथन की दृष्टि से नाटक व उपन्यास पूर्ण-रूपेण भिन्न हैं क्योंकि नाटक म सभी तत्त्व कथोपकथन पर ही आधारित होते हैं। बिना वार्तालाप के तो कार्य की अवस्था तक स्पष्ट नही हो सकती। वार्तालाप द्वारा ही घटनाओ का प्रवाह व रूप समझ म आता है। चूकि नाटककार अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता

इसलिए उस अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपने पात्रो की योग्यता एवं क्षमता पर ही निर्भर रहना पडता है ।

चरित्र चित्रण भी नाटको मे व्यग्यात्मक और साकेतिक होता है । यह कार्य भी वार्तालाप द्वारा सम्पादित किया जाता है । इसके विपरीत उपन्यास मे उपन्यासकार चरित्र का निर्माता ही नही उसका प्रस्तुतकर्ता भी होता है । वातावरण का निर्माण करके तो वह चरित्र चित्रण की व्यग्यात्मक व साकेतिक पद्धतियो का भी उपयोग कर सकता है ।

भाषा शैली की दृष्टि से तो उपन्यास एव नाटक दो भिन्न साहित्याग है ही । एक श्रव्य-साहित्य है और दूसरा दृश्य साहित्य । एक मे विवरण का महत्त्व होता है दूसरे मे प्रस्तुतीकरण का । नाटक मे सरलता का होना आवश्यक है क्योकि यदि वह बोधगम्य नही हुआ तो उसके उद्देश्य का ही हनन हो जाता है । उपन्यास मे ऐसे अन्य कई साधनो का प्रयोग किया जाता है जिनसे वह पाठक की समझ मे आ ही जाता है । नाटककार की शैली मे चित्रकला सगीत आदि कलाओ का भी मिश्रण हो जाता है परन्तु उपन्यासकार की शैली मे इनके लिए स्थान नही होता । उपन्यास मे कथा वर्णित होती है और नाटक मे अभिनीत । इसी कारण नाटक को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत रखने मे आपत्ति हो सकती है । अपनी पुस्तक मे विलियम हैनरी हडसन ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है ।[1] उपन्यास इन कलाओ की अपेक्षा न रखता हुआ भी नाटक का सा प्रभाव उत्पन्न करता है इसी कारण विनोद मे मैरिअन क्राफोर्ड ने एक बार उपन्यास की परिभाषा 'जेबी रगशाला' (पॉकेट थियेटर) दी थी[2] क्योकि उसके अनुसार उपन्यास मे केवल कथानक व पात्र ही नही होते वरन वेशभूषा, प्रकृति तथा नाटचकला से सबधित अन्य उपादानो का भी समाहार हो जाता है । अपने स्वय के नियमो से बद्ध नाटक वाह्य उपकरणो पर इतना आश्रित होता है कि उसकी स्वय की स्वतत्रता समाप्त हो जाती है । इसके विपरीत उपन्यास को गति मे पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त होती है और विकास के सभी साधनो की छूट होने के कारण वह नाटक जैसे मनोरजक साहित्याग से जन प्रियता मे बाजी मार ले जाता है । अपने इन्ही गुणो के कारण, वास्तविकता, स्पष्टता एव चित्रण की दुर्बलता के अभाव की पूर्ति वह वर्णनात्मक

---

1 " drama is not pure literature It is a compound art in which the literary element is originally bound up with the elements of stage, setting and historionic, interpretation "
—Henry Hudson, "AN INTRODUCTION TO THL STUDY OF LITERATURE", page 169

2 IBID

शैली द्वारा कर लेता है। इसी कारण यदि आधुनिक उपन्यास प्राचीन नाटक का स्थानापन्न बनता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नहीं। यही नहीं मानव-जीवन की सामान्य रुचियां व अभिव्यक्तीकरण के साधनों के रूप में भी वह अन्य विधाओं को अपदस्थ करता जा रहा है। फिर भी इस संबंध में दो मत नहीं हो सकते कि जहां नाटक एक अत्यन्त परिष्कृत एवं दुःसाध्य कला है वहां उपन्यास अत्यंत सरल। नाटक के सर्जन के लिए नाट्यकला व प्रारंभिक सिद्धान्तों तथा रंगमंच की आवश्यकताओं का भी पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इसके विपरीत उपन्यास कोई भी लिख सकता है जिसे लेखन-सामग्री सुलभ हो।[1] परिणाम यह होता है कि नाटक के अध्ययन एवं मूल्यांकन के लिए सिद्धान्त बना लेना बहुत सरल होता है परन्तु उपन्यास के लिए अत्यंत कठिन।

उपन्यास और महाकाव्य में बहुत समानता होती यदि महाकाव्य निश्चित प्राचीन मानदण्डों से बंधे हुए न होते। महाकाव्य वह साहित्यिक विधा है जिसका विकास प्रागैतिहासिक काल में ही अत्यंत शक्तिशाली रूप में हो चुका था तथा प्राचीन विश्व-सभ्यताओं को जिसने उनके शैशव काल में ही अनुप्राणित कर रखा था। साहित्य की अन्य विधाएं जब अज्ञानान्धकार में पड़ी हुई थीं तब भी महाकाव्य अपने विकास की चरम अवस्था तक पहुंच चुका था। होमर का 'इलियड' और 'ओडेसी', वर्जिल का 'ईनियड', ल्यूक्रेटियस का 'डिलेथरा', दांते का 'डिवाईन कामेडी', गटे का 'फाऊस्ट', तथा भारत में 'रामायण' एवं 'महाभारत' इसी के प्रमाण हैं। महाकाव्य जीवन में सत्य, शिव एवं सुन्दर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। यह एक ऐसा वर्णनात्मक-विवरणात्मक आख्यान-काव्य होता है जिसमें महान् वीरों के पराक्रम को स्थान दिया जाता है। इसमें कवि को अपनी ओर से विचार एवं चिन्तन प्रस्तुत करने की छूट भी होती है। नाटक से यह दो बातों में अधिक स्वतंत्र होता है। प्रथम, इसमें कथा अपेक्षाकृत बहुत लम्बे काल तक चल सकती है तथा उसमें अनेक कथाओं तथा उप-कथाओं का भी सम्मिलित किया जा सकता है। द्वितीय, महाकाव्य में चमत्कार की योजना के लिए भी स्थान रहता है क्योंकि जो घटनाएं या व्यक्ति उपस्थित किये जाते हैं उनको दृष्टि के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जाता। इसी आधार पर वोर्सफील्ड ने महाकाव्य को नाटक से अधिक सफल माना है।[2] महा-

1. "Anyone can write a novel who has pen, ink and paper at his command, and a certain amount of leisure and patience"
—Henry Hudson, "AN INTRODUCTION TO THE STUDY OF LITERATURE", page 170
2. W. B Worsfield, "JUDGMENT IN LITERATURE", page 96.

काव्यकार को भी उपन्यासकार के समान ही कल्पना के प्रयोग के लिए विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध होता है। वह जहा गभीर ज्ञान एव चिन्तन को अभिव्यक्ति देता है वहा जातीय सम्मान की भी अभिवृद्धि करता है। उपन्यास के समान ही वह जीवन की सर्वांगीणता का दर्शन कराता है और उसमे भी बढकर अपनी विशद परिधि मे समस्त राष्ट्र और जाति की सस्कृति को आत्मसात् किए रहता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे महाकाव्य के स्वरूप एव आवश्यकताओ पर विस्तार से विचार किया गया था और उनके प्रणयन तथा मूल्याकन के मानदण्ड निश्चित कर दिये गये थे। पाश्चात्य महाकाव्यो के स्वरूप-निर्धारण के लिए भामह, दडी, प० विश्वनाथ जैसे विद्वानो द्वारा रचित लक्षण ग्रथ तो नही मिलते फिर भी वहा महाकाव्यो का एक निश्चित रूप रूढ हो गया था जिसका आधार परपरा से चली आ रही महाकाव्य कला ही थी। लगभग समान परिस्थितियो मे जन्म होने के कारण पाश्चात्य एव भारतीय महाकाव्यो के लक्षणो मे पर्याप्त साम्य है परन्तु आधुनिक युग के महाकाव्यो मे प्राचीन महाकाव्यो की तुलना मे बहुत अन्तर आ गया है। आज के वैज्ञानिक एव मानवतावादी युग मे जब मानव-मात्र की समानता की बात की जाती है तब प्राचीन महाकाव्य की अनेक आवश्यकताए केवल अनुचित रूढिया ही लगती है। आज मानव के दोषो एव अभावो को भी सत्य मान लिया गया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एव यथार्थ चित्रण की आवश्यकता ने महाकाव्य के नाम के चारो ओर स्वत निर्मित हो जाने वाली चमक-दमक को समाप्त कर दिया है और वह उपन्यास के इतना निकट आ गया है कि यदि काव्य की आवश्यकताओ का बधन न रहे तो दोनो मे अतर करना भी कठिन हो जाये। इसी कारण आज उपन्यास को गद्य-महाकाव्य की सज्ञा दी जाने लगी है। कविता साधारण मानव के जीवन से जितनी दूर की वस्तु होती जा रही है और गद्य जितना ही उसके निकट आता जा रहा है उसी अनुपात मे महाकाव्य का उपन्यास मे समाहार भी होता जा रहा है। आज के गद्य महाकाव्य का नायक कोई राजा या देवता हो यह न तो आवश्यक ही है और न सभव ही। पृथ्वीराज, राम, ओडेसस आदि के स्थान पर होरी (गोदान), सूरदास (रगभूमि), सुलकमाए (जगल के फूल) आदि अधिक उपयुक्त नायक लगते हैं। चमत्कार एव कल्पना की रगीन उडानो के लिए आज स्थान नही है इस कारण मानव के दु ख सुख की कथा ही मूल रूप से आधुनिक गद्य महाकाव्य (उपन्यास) की कथा होती है।[1] फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जब तक पद्य का कथा साहित्य मे प्रयोग होता रहेगा तब तक 'साकेत', 'उर्वशी', 'प्रिय-प्रवास जैसे प्रबधो का प्रणयन भी होता रहेगा। यह

1 "The novel is the epic of common life," Henry Burrowes Lathrop, 'THE ART OF THE NOVELIST', page 23

स्वाभाविक भी है। कविता जब जन साधारण की भाषा नहीं है तो उसके विषय कैसे जन-साधारण से सबधित हो सकते है ? फिर भी कतिपय प्रबधकाव्यो मे दैनिक जीवन के पात्रो को स्थान देकर जन-जीवन की समस्याओ का चित्रण किया गया है। बहुत पहिले ही लार्ड टेनिसन ने 'इनाक आर्डन' मे ऐसा प्रयोग किया था। हिन्दी साहित्य मे भी नवीन जागृति के युग मे 'पथिक' एव 'सरदार भगत सिंह' जैसे प्रबधो की रचना हुई। यह प्रवृत्ति नई दिशा एव नई चेतना की ही द्योतक है, अतएव स्वागत-योग्य है। परन्तु यह तथ्य भी विस्मृत नही किया जा सकता कि भले ही अभी भी राजा या देवोत्तम पुरुषो को महाकाव्य के नायक के रूप मे ग्रहण किया जाता हो तथापि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन की समस्याए ही चित्रित की जाती हैं। 'साकेत' मे पचवटी मे राम-सीता का वार्तालाप, 'उर्वशी' मे पुरूरवा एव उर्वशी का अन्तर्द्वन्द्व, 'प्रियप्रवास' मे राधा का समाज-सेविका का स्वरूप, इसके उदाहरण है। स्त्री को महाकाव्य की नायिका के पद पर प्रतिष्ठित कर पुरुष को गौण पात्र बना देना भी (जैसा साकेत, प्रियप्रवास आदि मे हुआ है) महाकाव्य को उपन्यास के निकटतर लाने के ही अनजाने प्रयास है। इन महाकाव्यों की भाषा, छन्द-बद्धता एव काव्यत्व की आवश्यकताए यदि मार्ग म न होती तो इनकी उपन्यासो से भिन्नता का अनुमान भी नही हो सकता था। यह निश्चित है कि आज का उपन्यास महाकाव्य की दिशा मे प्रगति कर रहा है और महाकाव्य उपन्यास की दिशा मे। एक ऐसी स्थिति की आज कल्पना की जा सकती है जहा दोनो का मेल हो सकता है। आवश्यकता भाषा की दीवार ढहने की है। परन्तु यह दीवार कभी ढह सकेगी, इसमे सदेह है। जब तक मानव हृदय अक्षुण्ण है काव्य का महत्त्व रहेगा और उसका नाना दिशाओ मे प्रस्फुरण भी होता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट हो जाता है कि कथा-साहित्य की नाना विधाओ से उपन्यास का घनिष्ठ सबध है। परन्तु साहित्य के अन्य अगो से भी वह असबद्ध नही क्योकि कथात्मक होने के साथ-साथ वह साहित्य भी होता है। साहित्य का उद्देश्य होता है मनुष्य की चित्त-वृत्तियो को जाग्रत एव निर्देशित करना तथा उनके माध्यम से मनुष्य को प्रभावित करना। यही कार्य प्रत्येक साहित्यिक विधा अपने ढग से करती है। काव्य यदि भावना को जाग्रत करता है तो गद्य विचारो को उत्तेजित करता है। काव्य मे रस होता है और गद्य मे चिन्तन। उपन्यास की कथा उस रस को उत्पन्न करती है जो काव्य का मूल आधार माना गया है। यथार्थ-अकन, जो उपन्यास की अपनी विशिष्टता है, मनुष्य के विचारो को उत्तेजित करने की क्षमता रखता ही है। इस प्रकार उपन्यास समग्र जीवन का—बाह्य तथा आतरिक दोनो का—चित्रण करता है। प्रेमचन्द जी के अनुसार भी उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझना चाहिए, क्योकि मानव-चरित्र पर

प्रकाश डालना व उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।[१] यूरोपीय विद्वान राल्फ फाक्स ने कहा है कि उपन्यास केवल गद्य मे लिखी हुई कथा ही नही प्रत्युत मानव-जीवन का गद्य भी है। उसके मतानुसार उपन्यास कला का वह प्रथम रूप है जो सम्पूर्ण मनुष्य से सबध रखते हुए उसको अभिव्यक्ति देता है।[२] क्राम ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि सामान्य रूप से उपन्यास उस गद्य-आख्यान को कहा जाता है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे।[३]

अग्रेजी मे उपन्यास शब्द के दो पर्याय है—'नावेल' तथा 'फिक्शन'। परन्तु दोनो मे अन्तर है। नावेल फिक्शन तो होती है परन्तु प्रत्येक फिक्शन नावेल हो यह आवश्यक नही। कोई भी मनगढत बात जो वास्तविकता से भिन्न हो, साधारणत. असत्य हो (अस्वाभाविक नही), काल्पनिक हो, फिक्शन के अन्तर्गत आती है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण कथा-साहित्य चाहे वह गद्य मे हो या पद्य मे, फिक्शन के अन्तर्गत आता है, परन्तु 'नावेल' केवल वह 'फिक्शन' होती है जो गद्य मे हो।

उपन्यास का उद्देश्य साहित्य के उद्देश्य से भिन्न नही। सत्य शिव एव सुन्दर की आराधना एव निर्माण उपन्यासकार का उतना ही लक्ष्य होता है जितना अन्य किसी कलाकार का। इस सदर्भ मे उपन्यास अन्य किसी साहित्याग से नीचा नही बैठता। यो तो उपन्यास की कथा-वस्तु काल्पनिक होती है परन्तु वह कल्पना वास्तविकता से कही अधिक प्रभावशाली व सत्य होती है क्योकि जीवन मे एक वास्तविकता केवल एक ही रूप मे दिखाई देती है जबकि साहित्य मे उसके विभिन्न पक्ष विभिन्न रूपो मे अधिक प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी बात को अल्डुअस हक्सले ने अपने एक पात्र जान राइवर्स के मुख से इस प्रकार कहलाया है—फिक्शन के साथ कठिनाई यह है कि वह बहुत अधिक अर्थपूर्ण होती है, वास्तविकता कभी भी अर्थपूर्ण नही होती। उपन्यास मे एकता होती है, उपन्यास मे शैली होती है, वास्तविकता मे दोनो ही नही होते

---

१. प्रेमचन्द, 'साहित्य का उद्देश्य', पृष्ठ ५४।

2. "The novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life, the first art to attempt to take the whole of man and give him expression."
—Raulf Fox "THE NOVEL AND THE PEOPLE", page 2.

3. Cross—"THE DEVELOPMENT OF ENGLISH NOVEL, page 1.

अजीब बात यह है कि वास्तविकता के सबसे अधिक निकट उपन्यास होता है जिसे सबसे कम सत्य माना जाता है।[1]

उपन्यास का सत्य विशिष्ट सत्य नहीं, चिरंतन सत्य होता है, किसी एक व्यक्ति विशेष का सत्य न होकर सम्पूर्ण मानवता का सत्य होता है। उसका क्षेत्र मनुष्य या कुछ घटनाएँ न होकर सपूर्ण मानवता एव मानवीय वृत्तियों का क्षेत्र होता है। इसी कारण वह अधिक कुशलतापूर्वक मनुष्य की चित्त-वृत्तियों का चित्रण कर प्रभावशाली ढग से उसे सुधार या कल्याण की ओर उन्मुख करता है। अरस्तू ने अपने काव्य शास्त्र में ट्रेजेडी में वृत्ति-परिष्कार (केथारसिस) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[2] वास्तव में सपूर्ण साहित्य (एव कला) विस्तृत अर्थ में वृत्ति परिष्कार की ही एक प्रक्रिया है जो चित्त-वृत्तियों को जाग्रत कर उन्हे सुधार की ओर उन्मुख करती है। जो साहित्य (या कला) ऐसा नहीं कर सकता वह कम से कम साहित्य कहलाने का तो अधिकारी नहीं है। नाटक (ट्रेजेडी) और उपन्यास मे प्रस्तुतीकरण के अतिरिक्त कोई अन्य विशेष अन्तर भी नहीं होता, इस कारण नाटक के सबध में जिस कल्याणकारी भावना को सत्य माना गया है और जो वास्तव में साहित्य के ही एक विस्तृत उद्देश्य का अग है उपन्यास के सबध में भी सत्य माना जाना चाहिए। उपन्यासों की यह कल्याणकारी मनोवृत्ति अधिक महत्त्व की वस्तु है क्योंकि उसकी पहुच सामान्याति-सामान्य व्यक्ति तक होती है। इसी कारण उपन्यास में उन समस्याओं को उठाया जाता है जो या तो मानव मात्र की सामान्य समस्याएं होती हैं या किसी विशिष्ट समाज की विशिष्ट समस्याएं, या ऐसी समस्याएं जिनका सबध मनुष्य की वृत्तियों या वासनाओं से होता है। सबसे बढ़कर, उपन्यास एक कलाकृति होता है और मनोरजन उसका प्रमुख उद्देश्य होता है, इस कारण सुन्दरम्' उपन्यास के सबध में उतना ही सत्य है जितना अन्य किसी कला-विधि के सबध में। मानव-जीवन के महाकाव्य के रूप में उपन्यास इसीलिए आधुनिक युग की सर्वप्रचलित एव सर्वप्रिय साहित्य-विधा है जो नवीन परिस्थितियों एव नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल भी है।

उपन्यास अन्य साहित्यिक विधाओं से अपने शिल्प के कारण ही भिन्न होता

---

1 "The trouble with fiction is that it makes too much sense Reality never makes any sense Fiction has unity, fiction has style Facts possess neither oddly enough the closest to reality are always fictions that are supposed to be the least true," John Rivers
—Aldous Huxley, "THE GENIUS AND THE GODDESS", Page 1

2 Aristotle, "THE POETICS".

है। शिल्प-विधि भी कलाकृतियों को उनका विशिष्ट रूप प्रदान करती है।

> "शिल्प-विधि का शाब्दिक अर्थ है किसी चीज के बनाने या रचने का ढंग अथवा तरीका। किसी वस्तु के रचने की जो-जो विधियां अथवा प्रक्रियाएं होती हैं उनके समुच्चय को शिल्प-विधि नाम से पुकारा जाता है। सरल भाषा में यदि कहा जाय तो शिल्प-विधि से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने तथा दस्तकारी से है।'[१]

वान ओ कॉनर ने शिल्प-विधि को वह साधन माना है जो लेखक को अपने अनुभव का, जो वास्तव में विषयवस्तु होती है, प्रयुक्त करने को प्रेरित करता है क्योंकि शिल्प विधि ही वह रास्ता है जिसके माध्यम से वह अपने विषय को खोज सकता है, जांच सकता है, और उसका विस्तार कर सकता है। इसी के माध्यम से वह उसमें अन्तर्हित भाव को अभिव्यक्त कर सकता है और उसका मूल्यांकन कर सकता है।[2]

शिल्प-विधि की व्याख्या करते हुए बहुधा उसे और रचना-विधि को समान मान लिया जाता है। उसके इतर पहलुओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। उदाहरणार्थ श्री जैनेन्द्रकुमार ने इन दोनों की व्याख्या इस प्रकार की है—

> "टैक्नीक उस ढांचे के नियमों का नाम है। पर ढांचे की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन के काम में आए। वैसे ही 'टैक्नीक' साहित्य सृजन में योगदान देने के लिए है।"[३]

इसी प्रकार का भाव कोम्बेल डबलडे ने भी व्यक्त किया है—

> "अच्छे टैक्नीक का अर्थ है उचित बात, उचित ढंग से उपयुक्त समय पर कहना। वही विषय चुनो जो तुम्हें रुचे और तब ऐसी शैली व टैक्नीक चुनो जिसके सहारे वह विषय पाठकों तक मार्मिक ढंग से पहुंचाया जा सके।"[४]

---

१. 'वृहत् हिन्दी कोश' (ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस), पृष्ठ १२३६, १२३४।

2. "For technique is the means by which the writer's experience which is the subject matter, compels him to attend to it. Technique is the only means he has of ... of convey- ... , page 9.

३ जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ ३७०।

4. "Sound technique means doing the right thing in the right way at the right time. Choose subject matter which appeals to you strongly, then choose a style and technique which carry that subject-matter strongly to your public"

—Walter S. Cambell Doubleday, "WRITING ADVICES & DEVICES", page 153.

यह व्याख्या अत्यंत ऊपरी व्याख्या हुई। अन्य कई विद्वानों ने भी इसी प्रकार की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ श्री पर्सी लबुक ने उपन्यास के दृष्टिकोण को आधार बनाकर औपन्यासिक शिल्प-विधि की व्याख्या प्रस्तुत की है—

> "उपन्यासकार की रचना-विधि का निर्धारण मूलतः उपन्यासकार के दृष्टिकोण पर अवलंबित है—अर्थात् कथाकार का कथा के साथ जो संबंध है, वही अंत में उसके उपन्यास-शिल्प का स्वरूप निर्धारण करेगा।[1]

वास्तव में शिल्प-विधि के अन्तर्गत दो तत्त्व आते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक तत्त्व वह होता है जिसका संबंध उन प्रक्रियाओं से होता है जो साहित्यकार के मन में घटित होती हैं। बाह्य से तात्पर्य प्रकटीकरण के उन साधनों से होता है जो आंतरिक अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के उद्देश्य से प्रयुक्त किया जाता है। इनमें प्रथम अप्रकट एवं अदृश्य होता है और दूसरा प्रकट एवं दृश्य। परन्तु दूसरे की सार्थकता इस पर निर्भर होती है कि वह कहाँ तक प्रथम को अभिव्यक्ति देने में सफल हो सका है। *इस प्रकार शिल्प-विधि आंतरिक एवं बाह्य प्रक्रियाओं* का वह संश्लिष्ट रूप है जो अपने समग्र रूप में कलाकार के अन्तर्मन को पाठक या दर्शक के नेत्र-पटल पर सही रूप में चित्रित कर देता है। शिल्प-विधि के इसी *महत्त्व को स्वीकार करते हुए वान ओ कॉनर ने कहा है—*

> 'रूप तो विचार का बाहरी परिधान है, इसलिए यह रूप जितना ही विचारानुकूल होगा उतना ही वह उत्कृष्ट माना जायेगा।"[2]
>
> *"कोरी अनुभूति और रूपायित अनुभूति अथवा कला में जो अंतर है वह* शिल्प-विधि के कारण है।[3]

---

1 "The whole intricate question of method in craft of fiction, I take to be governed by the question of the point of view, the question of the relation in which the narrative stands to the story".
—Percy Lubbock, "THE CRAFT OF FICTION", page 251

2. "Form is the objectifying of idea and its excellence, it would seem, depends upon its *appropriatness to the* idea"
—William Van O'Conner, "FORMS OF FICTION", page 1.

3 "The difference between content or experience, and achieved content or art is the technique"
—IBID, page 9.

इस प्रकार निराकार को साकार करने का ही नाम कला है जो अपनी सफलता के लिये शिल्प-विधि पर निर्भर होती है। मेकेंजी के शब्दों मे—

> "रूप कोई ऐसी चीज नही है जिसे विषय के साथ बलात् जोड़ा जा सके। यह तो उसका अभिन्न अग है जो विषय की पूरी जानकारी देने के अतिरिक्त उसके गूढतम अर्थ को भी प्रकट करता है। विषय को किसी अन्य रूप मे प्रस्तुत करने का अर्थ है उसे छिपाना अथवा कोई सर्वथा भिन्न चीज दिखाना।[1]

कला का बाह्य रूप कलेवर अथवा आकार तो कला की अभिव्यक्ति के प्रकट रूप के ही भिन्न भिन्न नाम हैं। इन्हे शिल्प-विधि कहे या रचना विधि परन्तु उद्देश्य एक ही होता है—अमूर्त को मूर्त करना, निराकार को साकार करना, अवाक् को सवाक् करना। जो विधि इस उद्देश्य मे जितनी सफल होती है वह उतनी ही उपयुक्त शिल्प विधि कही जा सकती है। मनोभावो के प्रेषण का माध्यम होने के कारण ही कभी-कभी कला के बाह्य रूप अथवा कलेवर को ही महत्त्व दिया जाने लगता है। यह अतिरंजन हो सकता है परंतु अतिरंजन भी एक निश्चित तथ्य का ही होता है। टाल्सटाय का भी ऐसा ही मत है। जब तक कला का रूप उपयुक्त न होगा तब तक कोई भी कहानी, गीत, लय, चित्र, मूर्ति, नृत्य नाटक अथवा आभूषण और इमारत अपने रचयिता के मनोभावो को दर्शको तक पहुचाने म असमर्थ रहेगी। किसी वस्तु की कलात्मकता उसके बाह्य रूपाकार पर ही निर्भर है।[2]

मार्गरेट कैरी ने कला की सामग्री को अक्षय माना है—सबसे पहली बात तो यह है कि कला की सामग्री अक्षय है क्योंकि वह भौतिक नही होती—अनुभूति

1. "Form is not an arbitrary addition to content but an important and inseparable part of it, that gives temporal, spatial and causal relations which effect the concurrent factors of the content, and which may include some of its profoundest significance To present the content in some other form show is not to present it at all but to some thing different "
—Agnes Mure Mackenzie, "THE PROCESS OF LITERATURE", page 114

2 "Unless the form be adequate, no story, no song, or tune or picture or statue, or dance or play or ornament or building, can convey its creator's feelings to the audience or spectators. Whether a thing is a work of art or not depends upon its form "
—Count Leo Tolstoy, "WHAT IS ART", page 10.

होती है। कलाकार सामग्री का निर्माण भी नहीं करता, वह केवल अनुभव को उत्तेजित करने के निमित्त प्रतीक का प्रयोग करता है।[१]

इस स्थान पर शिल्प-विधि का शैली में भी अंतर समझ लेना चाहिए। शिल्प-विधि का संबंध अभिव्यक्ति एवं रूप-रचना की समस्त प्रक्रियाओं से होता है। परन्तु शैली का संबंध केवल अभिव्यक्ति के प्रकार विशेष से ही होता है। दूसरे शब्दों में, शैली व्यक्ति के व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराती है। इसी कारण एक ही आधार लेकर एक ही विषय पर लिखे गये लेखों में पर्याप्त भिन्नता आ जाती है। शिल्प-विधि में रचना-कौशल या कारीगरी का प्राधान्य होता है और साहित्य अथवा कला के मूल सिद्धान्तों से उसका संबंध होता है, परन्तु शैली में ऐसा नहीं होता। इसी कारण शिल्प-विधि का अध्ययन सामान्य धरातल पर किया जाता है और शैली का विशिष्ट धरातल पर। उपन्यास की शिल्प-विधि को निश्चित किया जा सकता है, परन्तु शैली का कोई रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। वास्तव में शैली शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। प्राचीन विद्वानों ने इसी को 'रीति' कहा था तथा इसे काव्य की आत्मा माना था—'रीतिरात्मा काव्यस्य।'[२] परन्तु रीति तो काव्य रचना की पद्धति-विशेष ही होती है। इस प्रकार प्राचीन काल का 'रीति' शब्द उसी प्रकार 'शैली' से भिन्न है जिस प्रकार आधुनिक 'शिल्प' शब्द। शैली का संबंध शील से अथवा व्यक्ति के स्वभाव से माना जाता है, अतः शैली अपने अन्तर्गत रचयिता के व्यक्तित्व का समाहार कर लेती है। यही कारण है कि शैली के विश्लेषण द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। श्री राबर्ट पेन वारेन ने कहा है कि शैली में कृत्रिमता के लिये स्थान नहीं होता यह तो लेखक के मस्तिष्क की स्वाभाविक व सही अभिव्यक्ति होती है।[३] परन्तु इस शैली को अभिव्यक्ति की विशेष पद्धति भी मान

---

1 "To begin at the beginning, art cannot exhaust its materials because the substance of art is not material, it is feeling The artist does not create matter, he uses the symbols to provoke experience"
—Margaret Willy Joyce, —"LITERATURE AND LIFE", page 35.

२ आचार्य वामन—काव्यालंकार, सूत्र १।२।६

3. "Style is not pretentions of affected, that it is natural and sincere, that it is the authentic expression of the writer's mind."
—Robert Penn Warren, "FUNDAMENTALS OF GOOD WRITING", page 438.

लिया गया है।[1] अभिव्यक्ति को वाह्य रूप के अर्थ मे प्रयुक्त कर मरे ने आगे यह भी कहा है कि शैली का अर्थ अभिव्यक्ति की वह व्यक्तिगत विशिष्टता है जिससे हम लेखक को पहिचानते है।[2]

इस प्रकार शैली को प्राय अभिव्यक्ति के वाह्य एव आतरिक दोनो ही अर्थो मे प्रयुक्त कर लिया जाता है। सामान्यत इसमे कोई शिकायत भी नही हो सकती। शैली का महत्त्व उसके इसी सपूर्ण रूप मे है जिसके सबध मे मरे कहता है—

> "शैली कला के 'पिरामिड' का शिखर है, यही कला का महान उद्देश्य भी है, यही सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि भी है और यही उस सब का प्रमुख सिद्धान्त जो साहित्य मे स्थायित्व प्राप्त करता है।'[3]

इस प्रकार शिल्प विधि के अतर्गत वाह्य और अतरग दोना प्रक्रियाओ का समन्वय हो जाता है जो आवश्यक भी है। कोई कलाकृति किसी विशिष्ट प्रकार की क्यो लगती है इसका कारण होता है शिल्पी की शैली। चित्र, चित्र ही रहेगा और मूर्ति मूर्ति ही भले ही दोनो एक ही व्यक्ति की हो, एक दूसरे की अनुकृति हो, अथवा एक ही दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हो। चित्र और मूर्ति मे तो माध्यम का अन्तर होता है परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि माध्यम या साधन एक होने पर भी एक व्यक्ति की कृतियो मे भिन्नता हो, भिन्न व्यक्तियों की कृतियों मे समानता न हो। स्वर्ण एक होने पर भी स्वर्णकार भिन्न प्रकार के आभूषणो का निर्माण कर देता है, प्रस्तर खण्डो का प्रयोग कर ही यदि मूर्तिकार मूर्ति का निर्माण करता है तो शिल्पकार भवन का। अत 'शिल्प' शब्द को उसके अथगत रूप मे प्रयुक्त करने पर हमारा प्रयोजन कला की उस विशिष्ट प्रणाली से होता है जिसमे एक कलाविद उसी पत्थर का प्रयोग कर एक सुरम्य मदिर का निर्माण कर देता है और दूसरा एक स्मारक का। विशिष्ट प्रणाली का, कार्य-सचालन

1. "Style is the technique of expression"
—Middleton Murray, "THE PROBLEMS OF STYLE", page 5
2 "Style means that personal idiosyncracy of expression by which we recognize a writer"
—IBID, page 4
3 "Style is the very pinnacle of the pyramid of art, the end that is the greatest of all—the supremen achievement and the vital principle of all that is enduring in literature"
—Middleton Murray "THE PROBLEMS OF STYLE", Page 36.

का, एक विशिष्ट ढग या तरीका होता है जो अपने सीमित अर्थ में शैली नाम से अभिहित किया जाता है। शिल्प-विधि की भिन्नता के कारण ही बनता हुआ महल, देवालय, समाधि, स्तूप या अन्य किसी निश्चित स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि हाथ मे लेखनी ले, उन्ही शब्दो के माध्यम से, एक ही व्यक्ति काव्य, नाटक, उपन्यास या कहानी के विभिन्न प्रकारो का सर्जन कर डालता है। सब कुछ समान होने पर भी शिल्प की भिन्नता एक ही विषय वस्तु को नाटक, कहानी, महाकाव्य या उपन्यास मे रूपान्तरित कर सकती है। विषय-वस्तु अपने आप मे इस प्रकार उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी की शिल्प विधि। यही कारण है कि कुछ विषयो पर शताब्दियो से कलाकार कलाकृतियो का निर्माण करते आ रहे है और करते रहेगे परन्तु विषय की नवीनता समाप्त नहीं होगी। शैली की विशिष्टता के कारण ही विषय-वस्तु मे नव्यता बनी रहती है जो जन-मानस को प्रभावित करती है। नव्यता की यह उद्भावना ही कला है।

यह नव्यता ही आचलिक उपन्यासो को अन्य उपन्यासो से भिन्न करती है अन्यथा वे ही तत्त्व जो अन्य उपन्यासो की विषय-वस्तु का निर्माण करते है, आचलिक उपन्यासो की विषय-वस्तु के भी स्रष्टा होते है। ये तत्त्व है—कथा-वस्तु, पात्र एव चरित्र-चित्रण वार्तालाप, देश-काल एव वातावरण, भाषा, शैली एव उद्देश्य। इनका प्रयोग प्रत्येक उपन्यास म किसी सीमा तक अवश्य होता है। *परन्तु कुछ उपन्यासो म कोई एक या दो तत्त्व अधिक प्राधान्य प्राप्त* कर लेते हैं और विशिष्ट प्रकार के उपन्यासो की सज्ञा मे अभिहित कर दिये जाते है। कुछ उपन्यास कथानक को महत्त्व देते है, कुछ चरित्र-चित्रण को, कुछ परिवेश को और कुछ शैली को। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार भी हो सकते है जो अपने दृष्टिकोण म महत्त्वपूर्ण भी होते हैं। एक ही तत्त्व ऐसा है जो किसी न किसी रूप म प्रत्येक प्रकार के उपन्यास म अवश्य रहता है। यह तत्त्व है 'परिवेश'। परिवेश दो प्रकार का होता है—मानवीय एव प्राकृतिक। इसके अभाव म मनुष्य की कल्पना ही असभव लगती है। परिवेश का ही अन्य नाम देश-काल और वातावरण है। देश-काल व वातावरण का ही विशिष्ट रूप मे प्रयोग प्रादेशिकता एव आचलिकता का निर्माण करता है। प्रादेशिकता का आचलिकता से जो अन्तर है उसका विवरण पूर्व की पक्तियो मे दिया जा चुका है। इस स्थान पर तो आचलिकता के *उपन्यास स सबध पर ही ध्यान देना पर्याप्त होगा।* चूकि *आचलिकता भौगोलिक* परिवेश को मानवीय परिवेश के समान ही महत्त्व प्रदान करती है इस कारण कोरे मानवीय परिवेश को महत्त्व देने वाले उपन्यासो की तुलना मे आचलिक उपन्यास अधिक स्वाभाविक लगने लगते है।

व्यक्ति अपने भौगोलिक परिवेश की उपज होता है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को भूगोल प्रभावित करता है। नदी, पर्वत, वन, सभी उसके जीवन-प्रवाह

को सवारते है। उसका जैसा भी सामाजिक परिवेश होता है वह उसके भौगोलिक परिवेश के प्रभाव व परिणामस्वरूप ही होता है। इसी कारण मनुष्य का इतिहास, धर्म, नैतिकता आदि सभी उसके भूगोल की स्पष्ट व निश्चित छाप लिए हुए होते हैं। जब यह छाप हटा दी जाती है तब वास्तविकता का भी हनन हो जाता है। तिलस्मी एव नीति प्रधान उपन्यासो का मनोरजन या शिक्षा की दृष्टि से कोई भी मूल्य क्यो न हो, कला की दृष्टि से वे महत्त्वहीन ही होते है। उपन्यास साहित्य मे श्री प्रेमचन्द का आगमन इसीलिए एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है क्योकि उन्होने मनुष्य के परिवेश को भी समुचित महत्त्व प्रदान किया था। उपन्यास ही क्यो, साहित्य के किसी भी अग पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वातावरण को महत्त्व प्रदान करने के लिए कुछ उपादानो का समावेश किया जाता है। प्राचीन भारतीय महाकाव्यो म तो वन, उपवन, नदी, पर्वत, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि के चित्रण को आवश्यक तत्त्वो के अन्तर्गत गिना जाता था। सस्कृत साहित्य म तो प्रकृति वर्णन जितने सुन्दर रूप मे उपलब्ध है वैसा अन्य किसी साहित्य म दुर्लभ है। प्राचीन नीति-कथाओ मे भी परिवेश को अलग काट कर नही फेंका जा सकता था। पात्र एव चरित्र-चित्रण भले ही अस्वाभाविक होता हो वातावरण सदैव ही स्वाभाविक रखा जाता था। "किसी जगल मे एक शेर रहता था—," या "एक पेड पर एक कौआ रहता था—," यहा शेर एव कौआ अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करते थे परन्तु वातावरण सदैव ही अनुकूल रखा जाता था। शेर जगल म एव कौआ पेड पर रहता दिखाया जाता था। यह कोरा सयोग नही हो सकता क्योकि सभी देशो की नीति-कथाओ म इसी सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। कला व जीवन दोनो मे अनुकूल वातावरण का बहुत महत्त्व होता है। प्रत्येक राग एव रागिनी का एक निश्चित समय होता है और सुन्दर से सुन्दर चित्र के लिए स्वाभाविक पृष्ठ भूमि की आवश्यकता होती है। दैनिक जीवन मे भी प्रत्येक कार्य के सपादन के पूर्व अनुकूल वातावरण का निर्माण कर लिया जाता है। इसीलिए किसी बडे अधिकारी से मिलने से पूर्व उसके 'मूड' का पता लगा लिया जाता है और आवश्यकता होने पर भेट या चापलूसी द्वारा उपयुक्त वातावरण निर्मित कर लिया जाता है।

जब वास्तविक जीवन मे वातावरण इतना महत्त्वपूर्ण हो सकता है तब कला के क्षेत्र मे, कल्पना को वास्तविकता प्रदान करने के लिए, उसकी कितनी आवश्यकता होगी इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। श्रीनारायण अग्निहोत्री इसी कारण वातावरण का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहते हैं—

> "उपन्यास मे वातावरण अथवा पृष्ठ-भूमि का महत्व रीढ की मजबूती के महत्त्व की तरह होता है। उचित वातावरण का बल पाकर कथानक पुष्ट हो जाता है, पात्र सजीव हो उठते हैं, सभाषण एव कथोपकथन

अपने पूर्ण अर्थ में और अभिप्राय को व्यक्त करने में सफल रहता है।"[१]

विश्लेषणात्मक आलोचना के द्वारा उपन्यास के तीन संघटनात्मक अवयव निश्चित किये गये हैं—कथानक, चरित्र चित्रण, 'सेटिंग'। सेटिंग ही प्रतीकात्मक होने के कारण आजकल वातावरण अथवा लहजा (टोन) का अर्थ पा जाता है। ये तीनों अन्योन्याश्रित भी है। हनरी जेम्स ने अपने निबन्ध 'दि आर्ट आफ फिक्शन' में यह प्रश्न उपस्थित किया है—चरित्र यदि घटनाओं के निश्चित करने वाले गतिमान साधन के रूप में नहीं तो फिर और क्या हो सकता है? घटनाएं यदि चरित्र की क्रियाओं के सत्र वालों में मंतव्य के सही रूप नहीं है तो फिर उनको क्या समझा जाय? श्री अग्निहोत्री ऐसा ही तीसरा प्रश्न उपस्थित करते हैं—

> 'सेटिंग यदि इन दोनों (कथानक एवं चरित्र-चित्रण) अवयवों को प्रभावात्मक ढंग से एक साथ, एक रस और रूप में प्रकट करने वाली पृष्ठ-भूमि अथवा वातावरण नहीं तो फिर उसका दूसरा क्या अर्थ होगा?'[२]

कोरी कल्पना को वातावरण ही वास्तविकता प्रदान करता है इसी कारण तिलस्मी कथाओं तक में उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। 'चन्द्रकांता' (देवकीनंदन खत्री) की प्रारंभिक पंक्तियां इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रिय-प्रवास, कामायनी, पंचवटी जैसे काव्यों और जूलियस सीजर एवं मैकबेथ जैसे नाटकों के प्रारंभिक अंश भी वातावरण के निर्माण की आवश्यकता के महत्त्व को ही प्रतिपादित करते हैं। अमेरिका में जो स्थानीय रंग आन्दोलन चला तथा प्रादेशिक साहित्य के रूप में जिसका प्रचार यूरोप के देशों में हुआ वह आन्दोलन वास्तव में साहित्य में अधिक स्वाभाविक रूप को ग्रहण करने के आग्रह का ही परिणाम था। प्रादेशिक साहित्य की परिभाषा इस तथ्य को स्पष्ट करती है—

> "प्रादेशिक साहित्य नाम भिन्न प्रकार की साहित्य-कृतियों एवं आन्दोलनों को दिया जाता है जो वातावरण का मनुष्य के भाग्य पर निर्माणक प्रभाव स्वीकार करते हैं और उन विशिष्ट गुणों को सत्यता से प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं जो किसी स्थान का प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास उस स्थान के निवासियों में उत्पन्न करता है।"[३]

---

१ श्रीनारायण अग्निहोत्री, 'उपन्यास तत्त्व एवं रूप विधान', पृष्ठ १३१।

२ वही, पृष्ठ १३२।

3 "The term regional literature applies to a variety of literary works and movements which acknowledge the shaping power of environment on human fortunes and which try to render with exactitude the unique qualities that the

आचलिकता को जो प्राकृतिक एव सास्कृतिक वातावरण को ही अधिक महत्त्व देने की प्रवत्ति है किनना महत्त्व दिया जाय, यह विवाद का विषय हो सकता है परन्तु यह निश्चित है कि सामाजिक परिवेश को उसके भौगोलिक परिवेश से अलग नहीं किया जा सकता । उपन्यास साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार भौगोलिक परिवेश को काट दन की प्रवृत्ति स्वास्थ्य प्रद नही होती । मुशी प्रेमचन्द जी ने उसी भौगोलिक परिवेश को प्रथम बार समुचित महत्त्व देकर उपन्यास के उपन्यास नाम का चरिताथ किया था । लेखक के पात्र जिस प्रकार किसी क्षेत्र जनपद या अचल के होते है उसी प्रकार लेखक भी किसी क्षेत्र, जनपद या अचल का ही होना है । उसकी भीतरी सवदना रचना प्रक्रिया के दौरान अपने आस पास की ऊष्मा को सहज भुला नही सकती । उसके लिए यह कभी सभव नही हो सकता कि वह अपने क्षेत्र के जीते जागते व्यक्तियो को छोडकर काल्पनिक पात्रो को कृत्रिम सवेदना के बल पर ठोस आधार प्रदान कर सके । इसी प्रकार उसके साहित्य पर अपने परिवेश की छाप पड जाना अत्यन्त स्वाभाविक है । जितनी ये छाप गहरी होगी है, साहित्य उतना ही सशक्त होता है क्योकि वह वास्तविक सवेदना की नीव पर आधारित होता है ।

यद्यपि गद्य साहित्य म आलम्बन आश्रय अथवा उद्दीपन (विभावानुभाव) की बात नही कही जाती परन्तु इनका स्थान यहा भी उतना ही महत्त्वपूण होता है जितना काव्य म क्योकि मूल रूप म दोनो ही समान भौतिक परिस्थितियो का परिणाम होते है । कलाकार की अतश्चेतना जब भावुकता का ठोस आधार पाकर सजनोन्मुखी होती है तब काव्य का निर्माण होता है और वही जब वस्तून्मुखी हो जाती है तब गद्य साहित्य का आविर्भाव होता है। परन्तु महत्त्व भौतिक परिस्थितियो का ही होता है जो प्रमुख रूप मे आलबन एव उद्दीपन के रूप म कलाकार की अन्तश्चेतना को जाग्रत कर देती हैं । क्या यह बात स्वीकार करने योग्य नही कि यदि काव्य म प्रकृति क नाना रूपा का निरूपण तथा उद्दीपन विभाव क विभिन रूपा का प्रयाग प्रभावोत्पादकता स्वाभाविकता एव कलात्मकता की दृष्टि से आवश्यक माना जाता है तो गद्य म भी उन्ह पर्याप्त महत्त्व दना इसी दृष्टि म आवश्यक हो सकता है ? किस सीमा तक उनका प्रयोग किया जाय यह विवाद का विषय हो सकता है परन्तु यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि यदि काव्य म प्रकृतिवाद के लिए स्थान हो सकता है तो गद्य साहित्य म क्या नहीं ?

---

geographical and cultural history of a given locality have imparted to the lives of the inhabitants '
--ENCYCLOPEDIA AMERICANA, page 571

(ग)

आंचलिक उपन्यास

पूर्व पृष्ठों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंचल को आंचलिकता प्रदान करने वाले कुछ विशेष तत्त्व होते हैं और इन्ही तत्त्वों को जब उपन्यास में प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है तो वह उपन्यास आंचलिक उपन्यास कहलाने लगता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि औपन्यासिक तत्त्वों में कुछ अभाव आ जाता है, इसके विपरीत कुछ विशिष्टता ही आ जाती है जो उपन्यास को एक नवीन रूप प्रदान करती है। फिर भी उपन्यास तो वह बना ही रहता है। 'आंचलिक' शब्द विशेषण है अत उपन्यास का स्थानापन्न वह नहीं बन सकता। जिस प्रकार सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि शब्द उपन्यास के साथ संयुक्त होकर उपन्यास की विशिष्टता ही प्रकट करते हैं उसी प्रकार 'आंचलिक' शब्द भी। अत आंचलिक उपन्यास भी उपन्यास पहिले होता है और कुछ बाद म। आंचलिक तो वह इस कारण बनता है कि उसमे कुछ विशिष्ट तत्त्वों की संयोजना की जाती है। इन तत्त्वों को आंचलिक उपन्यास की परिभाषा द्वारा ही स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा। श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों मे—

> "आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते है जिनमें किसी विशेष जनपद अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण हो ?"[१]

उपाध्यायजी ने अंचल' शब्द का प्रयोग 'प्रदेश' के अर्थ मे किया है। वे दोनों को पर्यायवाची ही मानते है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने अंचल के स्थान पर प्रदेश शब्द का ही प्रयोग किया है—

> 'परन्तु प्रदेश विशेष या जाति-विशेष को लेकर सामूहिक रूप मे किसी प्रदेश या जाति का जीवन जहा समग्र रूप मे यथावत् पूरे विवरण के साथ हो तो उसे आंचलिक उपन्यास कहते हैं।"[२]

यहा पर उन्होने प्रदेश के साथ जाति-विशेष को भी आंचलिकता के निर्माता तत्त्व के रूप मे स्वीकार कर लिया है। इस परिभाषा मे प्रयुक्त 'प्रदेश' शब्द खटकता है। यह वास्तव म अंग्रेजी शब्द 'रीजन' का अनुवाद है। अंग्रेजी के शब्द के आधार पर हिन्दी शब्द का प्रयोग करने पर जो भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है उसका यह एक अच्छा उदाहरण है। श्री देवराज उपाध्याय की आंचलिक उपन्यास की परिभाषा इससे कहीं अधिक उपयुक्त है—

---

१ श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पिछले दशक की देन आंचलिक उपन्यास', साहित्य संदेश (जनवरी फरवरी १९५८), पृष्ठ, ३६१।

२ श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, 'हिन्दी के कुछ नये यथार्थवादी उपन्यास', साहित्य संदेश (उपन्यास अंक, १९५६), पृष्ठ २४।

"आंचलिक उपन्यास में लेखक देश के एक विशिष्ट भाग पर बल देता है और वहां के जीवन का इस प्रकार निरूपण करता है कि पाठकों को उसके अनोखे गुणों, विशिष्ट प्रवृत्तियों और असामान्य रीति रिवाजों तथा जीवन की प्रणाली का ज्ञान हो जाय।"[1]

अपनी व्याख्या द्वारा उपाध्यायजी ने 'रीजनल' शब्द से होने वाली भ्रान्ति को दूर कर दिया है परन्तु यह कार्य हिन्दी-साहित्य-कोशकार नहीं कर सका। आंचलिक उपन्यास को प्रादेशिक उपन्यास का स्थानापन्न मानकर उसने आंचलिक उपन्यास की परिभाषा यों प्रस्तुत की है—

"कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष का यथा-तथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है तो उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।"[2]

स्पष्ट है कि यह परिभाषा आंचलिकता के तत्वों पर ध्यान ही नहीं देती, अत अस्पष्ट ही नहीं, अपूर्ण भी है।

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने जाति-विशेष के समग्र रूप में यथावत् पूरे विवरण के साथ चित्रण की बात कही है। यह जाति विशेष निश्चय ही कुछ विशिष्टता रखती है। यह विशिष्टता उसी प्रकार तथा उसी प्रकृति की होती है जिस प्रकार एवं प्रकृति की किसी क्षेत्र या प्रदेश की वह विशिष्टता जो उसे आंचलिकता प्रदान करती है। 'कब तक पुकारूं' इसी प्रकार की विशिष्टता पर आधारित जाति विशेष से सबंधित उपन्यास है।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने आंचलिक उपन्यास की परिभाषा किंचित विस्तार से दी है—

"हम यों कह सकते हैं कि जिन उपन्यासों में स्थान विशेष के सम्पूर्ण वातावरण का साग, सश्लिष्ट और निष्कपट रूप से स्थानीय विशेषताओं के साथ चित्र प्रस्तुत किया जाय, उन्हें आंचलिक उपन्यास कहेंगे।"[3]

---

1. "In a regional novel the writer concentrates on a particular part of a country and depicts its life in such a way as to bring about a consciousness among the readers of its unique characteristics, distinguishing features and particular customs and patterns of life."
Devraj Upadhyaya, "Recent Tendencies in Hindi Fiction",—HINDI REVIEW MAGAZINE (May 1956), page 27.

२ हिन्दी-साहित्य-कोश (भाग १) पृष्ठ १५६।

३ डा० गोविन्द त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', (द्वितीय भाग), पृष्ठ ४३३।

यहा वातावरण एव स्थानीय विशेषताओ का समन्वय करके आचलिक उपन्यास की प्रमुख आवश्यकताओ की ओर सकेत कर दिया गया है।

श्री व्रजविलास श्रीवास्तव ने इसी बात को निम्न रूप म कहा है—

> *किसी अचल विशेष की भौगोलिक सामाजिक और सास्कृतिक विशेषताओ का चित्रण करना आचलिक उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है।'* [१]

प्रत्येक अचल की अपनी भौगोलिक सामाजिक और सास्कृतिक विशेषताए होती है जो उस प्रदेश अथवा क्षेत्र को तथा वहा निवास करने वाली जाति को ऐसा जीवन-तत्त्व प्रदान करती है जिनका दर्शन अन्यत्र सभव नही होता। इन विशिष्टताओ के परिणामस्वरूप वह लोक रग उभर आता है जिसकी ओर श्री धनजय वर्मा ने सकेत किया है—

> उपन्यास म लोक रग को उभार कर किसी अचल विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यासो को आचलिक उपन्यास कहा जायगा। [२]

हिन्दी के आचलिक उपन्यासो के सबध म प्रादेशिकता एव लोक रग की बात कहकर उन पर पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार कर लिया गया है। पाश्चात्य उपन्यासो की प्रादेशिकता को हिन्दी उपन्यासो की आचलिकता का प्रेरणा-स्रोत माना जाता है साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि स्थानीय रग, लोक रग या लोकल कलर आन्दोलन जिस रूप म पश्चिम म चला उसीकी विलबित प्रतिक्रिया भारत मे आचलिक उपन्यासो के रूप म दिखाई देती है। इन शब्दो का पारिभाषिक अर्थ कुछ भी हो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी म जिन उपन्यासो को आचलिक विशेषण से अभिहित किया जाता है उनकी कुछ विशेषताए होती हैं जो अन्य उपन्यासो की तुलना म सामान्य रूप से तथा प्रादेशिक उपन्यासो की तुलना म विशेष रूप से अपनी होती है। ऊपर की परिभाषाओ के आधार पर हम उन्हे वर्गीकृत भी कर सकते है —

(१) आचलिक उपन्यास का अपना एक चुना हुआ क्षेत्र होता है।

(२) इस क्षेत्र की अपनी भौगोलिक सामाजिक एव सास्कृतिक विशेषताए होती है जिनका समग्र चित्रण किया जाता है।

(३) ये विशेषताए असामान्य प्रकार की होती है जो उस अचल विशेष के विशिष्ट रीति रिवाजो व जीवन यापन के ढग को जन्म देती है।

(४) इस प्रकार के जीवन के चित्रण का प्रभाव उपन्यास के सभी तत्त्वो पर लक्षित होता है।

---

१ श्री व्रजविलास श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यासो मे नये प्रयोग, आलोचना' (जनवरी १६५६) पृष्ठ ८१।

२ श्री धनजय वर्मा 'परती परिकथा', 'आलोचना (अक्टूबर १६५७) पृष्ठ ८२।

(५) समग्र रूप मे आचलिक उपन्यास एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और इस प्रकार अपने उद्देश्य मे भी विशिष्ट होता है।

इन तथ्यो का सक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

आचलिक उपन्यास के लिए एक ऐसे क्षेत्र को चुना जाता है जिसकी भौगोलिक, सामाजिक एव सास्कृतिक विशिष्टताए असामान्य प्रकार की हो। चूकि ऐसी विशिष्टताए पिछडे हुए और अपेक्षाकृत अज्ञात क्षेत्र व जातियो म परिलक्षित होती है अत आचलिक उपन्यास पिछडे हुए और अनजान अचलो व समाजो से सम्बन्ध रखता है। पिछडे या किसी सीमा तक अनजान समाज मे जीवन-तत्वो का अभाव होता हो, ऐसी बात नही। उनमे अक्सर ऐसी प्राण-शक्ति छिपी होती है जो समृद्ध एव सभ्य जातियो के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है।

इस सबध म यह तर्क भी दिया जाता है कि एक क्षेत्र के निवासी के लिए अन्य सुदूर क्षेत्र का जीवन असामान्य प्रकार का ही होगा जिसकी निजी विशेषताए होगी। परन्तु यदि असामान्य शब्द पर ध्यान दें तो इस तर्क का आधार ही समाप्त हो जाता है क्योकि असामान्य की स्थापना सामान्य के बीच ही हो सकती है—सामान्य के मध्य जो वैसा न दिखाई दे वही असामान्य है। उदाहरणार्थ मध्यप्रदेश अथवा भारतवर्ष के सामान्य जन-जीवन की तुलना मे बस्तर के गोडो का जीवन असामान्य प्रकार का है। भारतीय सस्कृति अथवा मध्यप्रदेश की सस्कृति को जिन रूपो मे हम जानते है उससे बिल्कुल भिन्न प्रकार की सस्कृति भारत के हृदय-स्थल मे रहने वाले गोडो की है। एक एस्किमो का जीवन एक भारतीय के लिए असामान्य हो सकता है परन्तु एस्किमो के देश को देखते हुए वह पूर्ण सामान्य है। हा, यदि उन एस्किमो मे ही कोई ऐसा समुदाय मिले जो उस प्रकार के जीवन से, जिसे एस्किमो जाति का सामान्य जीवन माना जाता है भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करता हो तो उसे अवश्य ही असामान्य कहा जा सकता है। साधु सन्यासियो तथा यायावरो का जीवन असामान्य प्रकार का होता है। यह असामान्यता दो विपरीत कारणो से आ सकती है—नव-जागृति के अभाव से अथवा नव-जागृति के आधिक्य से। परन्तु आचलिकता के सबध मे तो असामान्यता केवल जागृति के अभाव का ही परिणाम होती है।

इस असामान्यता के कारण आचलिक समाज के रीति-रिवाज सभ्य समाज को अधविश्वास मे परिपूर्ण लग सकते है परन्तु वे सब भौगोलिक परिस्थितियो के परिणाम होते है। इसमे भी सन्देह नही कि ऐसी परिस्थितिया कुछ समस्याओ को जन्म देती है जिनसे समाज जूझता हुआ प्रदर्शित किया जाता है। प्रत्येक आचलिक उपन्यास मे इसी कारण कोई समस्या चित्रित की जाती है। परन्तु आचलिक उपन्यासो का आचलिक जीवन आधुनिक काल का होता है इसलिए नवीन जागृति का प्रभाव भी उन पर पडता हुआ दिखाया जाता है। यह जागृति

या तो आचलिक पात्र मे स्वय उद्भूत होती है (जैसे जगल के फूल' मे, मुलक-माए मे) या किसी बाह्य पात्र के माध्यम से अचल म प्रवेश करती है (जैसे 'रथ के पहिये मे आनन्द जय आदर्श के माध्यम से)। इसका परिणाम यह होता है कि अचल करवट बदलने लगते है और उनके जागृत होने की आशा बलवती होने लगती है।

समाज अपनी भौगोलिक परिस्थितियो की उपज होता है अत अचल के भूगोल का वहा के निवासियो के रहन सहन खान पान रीति रिवाज आदि पर प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है। चूकि यह प्रभाव उस समाज पर पडता है जो अपेक्षाकृत असभ्य होता है इसलिए अध विश्वास व अद्भुत एव असामान्य लगने वाली स्थितियो को वह जन्म दे सकता है। परन्तु प्रकृति से सीधा सबध होने के कारण उनके जीवन म जिस सरलता एव स्वाभाविकता का दर्शन होता है वह सभ्य समाज म प्राप्त नही होती।

विशिष्ट प्रकार के समाज के विशिष्ट ढग से चित्रण का परिणाम यह होता है कि औपन्यासिक तत्त्वो पर स्थानीयता या आचलिकता का गाढा रग चढ जाता है और यही तत्त्व सबमे ऊपर दिखाई देने लगता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि स्थानीयता के गाढे रग म सार्वभौमिकता का तिरोहण हो जाता है। इसके विपरीत स्थानीयता स्वय तो गहरा प्रभाव डालती ही है वह सार्वभौमिकता को भी अपनी गहरी पृष्ठ-भूमि म अधिक स्पष्ट रूप म निखार देती है। इसी उद्देश्य—स्थानीयता एव सार्वभौमिकता के सुन्दर समन्वय—मे आचलिक उपन्यास की विशिष्टता निहित है। आचलिक उपन्यास जिस दृष्टिकोण को लेकर चलता है उसके कारण समाज का परिवेश स्वय व्यक्ति के समान मुखर हो उठता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है रेणु की परती परिकथा। इस उपन्यास पर प्रमुख आक्षेप ही यह किया जाता है कि इसमे कोई केन्द्रीय कथा-वस्तु नही। केन्द्रीय कथा वस्तु म यदि मानव कथा का अभिप्राय हो तब तो आक्षेप ठीक हो सकता है परन्तु जैसा उपन्यास के नाम से ही स्पष्ट है वह परती की कथा कहने चलता है, मानव की नही। इसी कारण मानव समाज की अनेक कथाओ से परती की केन्द्रीय कथा का निर्माण होता है जो अपने आप म पूर्ण है। मानव की उन कथाओ का मूल्य भी उसी अनुपात मे है जिस अनुपात म वे परती की कथा को अभिव्यक्ति देने मे सफल होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा-साहित्य म उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण विधा है और उपन्यास-साहित्य मे आचलिक उपन्यास उसका एक महत्त्वपूर्ण अग। इसी अग के विकास उसकी प्रवृत्तिया तथा शिल्प-विधि का सम्यक् अध्ययन अग्रिम पृष्ठो म प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रथम अध्याय

हिन्दी उपन्यासो में आंचलिकता का विकास

हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे आचलिकता का विकास लगभग उन्ही परिस्थितियों मे हुआ जिनमे पश्चिम मे प्रादेशिक अथवा 'रीजनल' उपन्यासो का विकास हुआ था, परन्तु हिन्दी-उपन्यास की आचलिक प्रवृत्ति पाश्चात्य उपन्यास की प्रादेशिक प्रवृत्ति से पर्याप्त भिन्न है और हिन्दी का 'अचल' शब्द अग्रेजी भाषा के 'रीजन' शब्द का पर्याय भी नही है। सत्य तो यह है कि अचल अथवा आचलिक शब्द का भाव व्यक्त करने वाला कोई भी शब्द अग्रेजी भाषा मे उपलब्ध नही। 'रीजन' शब्द ही उसके निकटतम पहुच पाता है इसलिए अध्ययन की सुविधा के लिए इसी शब्द को सीमित अर्थ मे 'अचल' का पर्याय स्वीकार कर लिया गया है। इस स्वीकृति से किसी प्रकार की भ्रान्ति अथवा हानि होने का भय भी नही है क्योकि प्रथम तो केवल पाश्चात्य साहित्य के सदर्भ मे ही रीजन' (प्रदेश) अथवा 'रीजनल' (प्रादेशिक) को अचल अथवा आचलिक का पर्याय माना गया है भारतीय साहित्य के सदर्भ मे नही, दूसरे, भारत के सबध मे जो आचलिकता है वही पाश्चात्य देशो के सदर्भ मे प्रादेशिकता है क्योकि भारतीय अचलो के रूप पश्चिम मे अप्राप्य है इस मान्यता से यह लाभ भी होगा कि हिन्दी-साहित्य मे आचलिक उपन्यासो के विकास का इतिहास अधिक वैज्ञानिक ढग से उपस्थित किया जा सकेगा। अत आगे के अध्ययन मे 'प्रादेशिकता' एव 'आचलिकता' को सीमित अर्थ मे पर्यायवाची स्वीकार कर लिया जायगा।

इस स्थान पर यह भी हृदयगम कर लेना उपयोगी होगा कि आचलिक उपन्यास उस विस्तृत आचलिक साहित्य का केवल एक अग है जिसका विकास आधुनिक युग की देन है। इसमे भी सदेह नही कि आचलिकता की प्रवृत्ति अत्यत प्राचीन प्रवृत्ति है जो मनुष्य के आदि काल से उसमे निहित रही है और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है।

जब मनुष्य अपने विकास की प्रारभिक अवस्था मे था तब वह अपने आस-पास के वातावरण के निकटतम सम्पर्क एव प्रभाव मे था। तब उसे अपने निकट की प्रकृति मे अचिंतनीय आकर्षण दिखाई देता था। इसीलिए वह

उसे प्यार की दृष्टि से देखता था और अवकाश के क्षणों में उसमें रम जाया करता था। प्रकृति के इस नैकट्य ने प्रकृति प्रेम को जन्म दिया। प्रकृति के रम्य रूप उसके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करते थे तो रौद्र रूप भय का संचार करते थे। अपने परिवेश के अनुरूप ही ढलकर वह जीवन को स्वाभाविक रूप में व्यतीत कर पाता था। तब केवल आंचलिकता ही आंचलिकता थी प्रादेशिकता या राष्ट्रीयता के लिए स्थान ही नहीं था। यदि उस काल में साहित्य रचा गया होता और आज वह उपलब्ध होता तो आंचलिक साहित्य के सुन्दरतम रूप का दर्शन हमें प्राप्त हो सकता था। परन्तु असभ्यता के उस काल में मनुष्य का स्वयं ही अपनी आंचलिकता का ज्ञान नहीं था। विकास के अगले चरणों में जब कि अभिव्यक्ति की कला विकसित हुई तब उसका साहित्य भी अंचलों के चित्रों में परिपूर्ण हो गया। ऋग्वेद के प्रकृति वर्णनों को आज भी विशिष्ट स्थानों से संबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है जिससे आर्यों के मूल स्थान का पता चल सके। सभ्यता की ओर बढ़ते हुए सभी देशों में प्रकृति निरूपण की यह प्रवृत्ति अत्यंत स्वाभाविक रूप में आई किसी भी देश का प्राचीन साहित्य प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु यह वर्णन प्रस्तुत संदर्भ में प्रादेशिकता या आंचलिकता के अंतर्गत नहीं आयेंगे। प्राचीनकाल की कथाओं में चाहे वह महाभारत की कथा हो या कादम्बरी की स्थानीय विशेषताओं के विवरण प्रादेशिकता का निर्माण नहीं करते क्योंकि जहाँ एक ओर ऐसे विवरण उस विशिष्ट साहित्यिक विधा के अनिवार्य अंग के रूप में लाये गये हैं वहाँ दूसरी ओर वे वातावरण का निर्माण भी नहीं करते। सादृश्य प्रदेश अथवा प्रकृति निरूपण की प्रवृत्ति आधुनिक युग की ही देन है। प्राचीन यूरोपीय साहित्य में प्रादेशिकता के अभाव का यही कारण रहा था।[1]

विकास की विभिन्न सीढ़ियाँ पार करता हुआ मानव जब परिवेश से शनैः शनैः दूर होने लगा तब उसका जीवन भी आंचलिकता से रिक्त होने लगा। आगे चलकर तो वैज्ञानिक प्रगति की नींव पर बसे शहरों की घुटन एवं व्यस्तता में उसे पूर्व का उन्मुक्त एवं प्राकृतिक जीवन याद आने लगा और प्रकृति की ओर पुनः लौटने का आन्दोलन ही चल पड़ा। यह आन्दोलन रोमांटिक मूवमेण्ट से संबद्ध है। इस रोमांटिक आन्दोलन को ही आंचलिक उपन्यासों का प्रेरणा-स्रोत एवं

1 Yet the use of local material by such authors as Chaucer Rabelais Cervantes does not properly come under the rubric of regionalism since the milieux depicted in their works while essential to their plots and character are but incidental to their themes
—Deniel G Hoffman THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA Vol XVII page 571

जीवन-स्रोत माना जाता है। डेनियल हाफमैन के मतानुसार भी साहित्य में प्रादेशिकता समार-व्यापी रोमांटिक आन्दोलन की ही अभिव्यक्ति है। इस कारण उन सब राष्ट्रों के साहित्य में, जो इस आन्दोलन से प्रभावित थे, इसके दर्शन हो जाते हैं।[१]

हिन्दी उपन्यास में तो मनोरंजन-क्षमता ही रोमांटीसिज्म से आई। अयोध्या-सिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी के योगदान के संबंध में डा० सत्येन्द्र ने यही बात कही है—

"रोमांस का युग जब आया और साथ में जासूसी करतबों का भी गठजोड़ा होकर आया। दोनों हिन्दी में हाथ में हाथ देकर चले।"[२]

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में आंचलिकता के विकास के अध्ययन के लिए यूरोप में रोमांटिक आन्दोलन के जन्म के कारणों एवं उसके विकास की स्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है। यूरोप का यह रोमांटिक आन्दोलन वास्तव में पूर्ववर्ती सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में आया था। साहित्य में विशेष रूप से यह 'क्लासिकल' प्रवृत्ति का विरोधी आन्दोलन था। अतः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस नवीन जागृति के परिणामस्वरूप उन प्राचीन लेखकों की ओर पुनः ध्यान गया जिन्हें 'क्लासिज्म' ने तिरस्कृत कर रखा था। जिज्ञासा की नवीन प्रवृत्ति ने जन्म लिया और प्राचीनता के प्रति प्रेम ने हाब्स एवं लाक की दार्शनिकता का आश्रय लेकर ऐतिहासिक प्रवृत्ति को जन्म दिया। ह्यूम, राबर्टसन एवं गिब्बन ने इस प्रवृत्ति को पोषित किया। परिणामस्वरूप यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ, रिचार्ड-सन एवं फील्डिंग ने वास्तविकता के गहनतम रूपों को अपने उपन्यासों में अभिव्यक्ति दी और बर्नस्, काउपर तथा क्रैब ने विस्तृत मानवता तथा मानव के प्रति गहरी सहानुभूति को अपने काव्य में स्थान दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में यह विचारधारा और गहरी हुई और सरल जीवन का आदर्शीकरण किया जाने लगा। यह स्वीकार किया जाने लगा कि उच्चतम एवं पवित्रतम भावनाएं उसी व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं जो नृशंस एवं परम्परावादी समाज के कुप्रभावों से मुक्त होता है। वास्तव में इस प्रकार की विचारधारा का जनक फ्रांसीसी क्रान्ति का अधि-ष्ठाता रूसो था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मानव की प्रारंभिक धारणा

1. Literary Regionalism is an expression of the world-wide romantic movement and hence is found in the literature of all nations influenced by it".
—Daniel G Hoffman, —THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA Vol XVII, page 571.

२ डा० सत्येन्द्र, 'समीक्षा के सिद्धान्त', पृष्ठ १५६।

अच्छी ही होती है क्योंकि वह प्राकृतिक होती है। मनुष्य जब प्रकृति का अंचल त्याग देता है तब वह विलासी पाखण्डी एवं दुष्ट हो जाता है। इसीलिए मानव संस्थाओं के कुप्रभावों से बचने के लिए मनुष्य को पुनः प्रकृति की ओर लौटना चाहिए। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में मनुष्य वह सभी कुछ सीख सकता है जो मानवता के लिए आवश्यक है। ग्रामों एवं सुदूर अंचल में बसी जन जातियों से नैकटय की भावना ने इस प्रकृति प्रेम को जन्म दिया। महान रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति प्रेम की उस धारा को प्रवाहित किया जिसमें स्नान कर उस काल की कलाकारिता निखर आई। नवीन जीवन की व्यस्तता पर खिन्न होकर वर्ड्सवर्थ ने प्रगतिशील जीवन की कड़ी आलोचना कर डाली।[1] प्रकृति के आदर्शीकरण में सम्भवतः उसी ने सबसे अधिक योग दिया। वह मानता था कि प्रकृति के समग्र में प्राप्त होने वाली एक अनुभूति भी जीवन की नैतिकता का संपूर्ण पाठ पढ़ा सकती है।[2] प्रकृति की गोद में स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने के लिए तो वह असभ्य पगन जाति में जन्म लेना तक सहन कर सकता था।[3] फ्रांसीसी राज्य क्रांति के वास्तव में तीन पहलू थे—सैद्धान्तिक (रूसो का) राजनीतिक (रोबसपियर एवं डैन्टे का) और सामरिक (नेपोलियन का)। इन तीनों ने ही अंग्रेजी रोमांटीसिज्म को प्रभावित किया। प्रथम का प्रभाव वर्ड्सवर्थ में द्वितीय का शैली में एवं तृतीय का बायरन में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

रोमांटिक आन्दोलन की प्रवृत्तियों पर गंभीरता से विचार करने पर यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि यही आंचलिक साहित्य की भी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। यथा —आंचलिक साहित्य भी व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करता है यद्यपि वह व्यक्तिवादी नहीं होता। एक सामान्य मनुष्य को भी चाहे वह चरवाहा हो या मछुआरा आंचलिक कलाकार वही महत्त्व प्रदान करता है जो विगतयुग में सम्भ्रान्त कुल के व्यक्तियों को प्राप्त होता था। कथा का क्षेत्र नगर से हटकर ग्रामों चरागाहों घाटियों संक्षेप में उन सभी स्थानों में स्थापित हो गया जहाँ साधारण मनुष्य निवास करता था। रोमांटिक कलाकार सामान्य व्यक्ति के अभावों अथवा अवगुणों की ओर से दृष्टि नहीं फेर लेता इसीलिए वह उसके अंध विश्वासों परम्पराओं मान्यताओं आदि को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति

---

1 Wordsworth— LEISURE

2 'One impulse from vernal woods
May teach you more of man
Of moral evil and of good,
Than all the sages can' —Wordsworth

3 Wordsworth, Sonnet, "THE WORLD IS TOO MUCH WITH US'

देने को उत्सुक रहता है। सामान्य मानव का कार्य-क्षेत्र प्रकृति का उन्मुक्त प्रागण होता है तथा प्रकृति उसके सपूर्ण जीवन को नियनित एव निर्देशित करती है। इसी कारण प्रकृति एव वातावरण की छाप आचलिकता की एक प्रमुख विशेषता बन जाती है। जहा तक भाषा का प्रश्न है, उसमे भी कृत्रिमता को त्याग कर, स्वाभाविकता के समावेश का आग्रह था। वर्डस्वर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये है।[1] डैनियल हाफमैन यही बात स्थानीय रग (लोकल कलर) के सबध मे भी स्वीकार करता है। उसके अनुसार स्थानीय रग केवल प्राकृतिक चित्रण मे ही सीमित नही है, उसके अतर्गत भौगोलिक एव सामाजिक परिवेश, लोक-गीत एव ऐन्द्रिक अनुभवो का यथार्थ पूर्ण चित्रण भी आ जाता है। बोली भाषागत विशेषता होती है जो साहित्य के माध्यम से एक निश्चित क्षेत्र की विशिष्टता स्पष्ट करती है।[2]

'रोमाटीसिज्म' की अन्य विधाओ से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रादेशिक उपन्यास—इस आन्दोलन की विशिष्ट विधा—'कुलटर रोमान' (प्रान्तो के युवको के उपन्यास) नामक औपन्यासिक विधा की एक समानान्तर परन्तु विपरीत प्रतिक्रिया के रूप में अवतीर्ण हुए।[3] कुलटर रोमान में युवक शहर के अधिक उलझे हुए और व्यस्त जीवन का उपभोग करने के लिए प्रान्त को छोड देता है परन्तु प्रादेशिक उपन्यासो मे वह अपनी विशिष्ट सस्कृति का उपभोग अपने खेत अथवा गाव में ही रहकर करना पसन्द करता है।

इस प्रकार रोमाटिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप उन प्रादेशिक उपन्यासो का जन्म हुआ जो प्रकृति की गोद मे बसे अपेक्षाकृत पिछड़े समाज का चित्रण करते थे और अपना विषय उस मनुष्य को बनाते थे जो सरल, निस्पृह एव पीडित था और नवीन जागृति के बावजूद भी चेतना के अभीप्ट धरातल पर नही आ पाया था। ये उपन्यास प्रकृति के प्रभावों को स्वस्थकर मानते थे तथा स्वा-

1. "The principal object proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life and to relate or describe them throughout, as far as this was possible, in a selection of language really used by men, and at the same time to throw over them a certain colouring of the imegination whereby ordinary things be presented to the mind in an unusual aspect ".
—Preface to the "LYRICAL BALLADS" (2nd Edition).
2 THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA VOL XVII Page 571.
3. IBID.

भाविकता (कृत्रिमता के अभाव) को, भले ही वह अटपटी लगे, तथाकथित सभ्य समाज से अधिक महत्त्व देते थे। इनमें एक विशिष्ट शैली का प्रयोग होता था जिसमें अंचल की मिट्टी की सुगन्ध होती थी तथा लोक-गीतों एवं लोक-भाषा का रस भरा होता था।

पाश्चात्य साहित्य में प्रादेशिक उपन्यासों का प्रारम्भ १८०० से माना जा सकता है जब मेरिया एजवर्थ का 'कैसल रेक्रेन्ट' प्रकाशित हुआ। परन्तु हिन्दी में उपन्यासों में आंचलिकता प्रवृत्ति बहुत बाद में आई। फिर भी इनकी—

> "प्रगति आश्चर्यजनक ही कही जायगी। हमारे यहां आंचलिकता के पोषक तत्त्वों का अस्तित्व तो बहुत पहले से प्रचुर मात्रा में रहा है परन्तु उपन्यास में उसकी अभिव्यंजना बहुत बाद में हुई और जब हुई तब काफी सघनता के साथ हुई। —एक दशक के अल्प समय में इतनी बड़ी सिद्धि साधारण बात नहीं है।"[१]

आंचलिकता के अन्तर्गत जिन तत्त्वों की गणना की जाती है उनका समन्वय *हिन्दी-उपन्यास में धीरे धीरे होता रहा और अचानक ही एक उपन्यासकार ने* एक उपन्यास को आधार बनाकर इस विधा का नामकरण भी कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि आंचलिकता अपने निश्चित अर्थ में पिछले १२-१५ वर्षों में आई परन्तु उसकी रूप रेखा पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रकट होने लगी थी। सम्यक् निदर्शन के लिए अगले पृष्ठों में हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इस रूप-रेखा का स्पष्टीकरण किया जायगा।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का इतिहास प्रेमचन्द जी को ही आधार बनाकर प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि उन्होंने ही उसे उस नवीन दिशा में उन्मुख किया जिसका विकसित रूप आज हमें दृष्टिगत होता है। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने इन कालों को इस प्रकार नामांकित किया है—[२]

१	आविर्भाव काल	प्रेमचन्द-पूर्व युग	१८८२-१९१८
२	विकास काल	प्रेमचन्द युग	१९१८-१९३६
३.	प्रयोग काल	प्रेमचन्दोत्तर युग	१९३६-१९५७[३]

श्री प्रतापनारायण टण्डन ने भी तीन ही काल माने हैं[४] जो श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के विभाजन के अनुरूप ही है, हां, नामकरण अवश्य उन्होंने भिन्न

१ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृष्ठ १८६।

२ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास'।

३. लेखक ने केवल १९५७ तक के काल से अपने को सबद्ध रखा है इस कारण, अन्यथा प्रयोग युग आज भी चल रहा है।

४ श्री प्रतापनारायण टण्डन, 'हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास'।

को प्रभावित कर पाया। इस कारण इस काल के उपन्यासों में रोमांटिक आन्दोलन की अप्रासंगिक प्रवृत्तियाँ ही लक्षित होती हैं—सौन्दर्य-प्रेम, प्रेमाख्यान, भावबहुलता, समाज-सुधार, प्राचीनता के प्रति प्रेम, ऐतिहासिकता तथा अप्राकृतिक एवं अलौकिक तत्त्वों का समावेश। इसी कारण प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपन्यासों का उद्देश्य एवं प्रवृत्तियाँ भी निश्चित प्रकार की थीं जिनमें आंचलिकता के समावेश के लिए *स्थान ही नहीं था।*

इन उपन्यासों का प्रथम उद्देश्य हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भरना था जैसा श्री भारतेन्दु के अपने अमृतसरवासी मित्र मनोहरसिंह को लिखे गए पत्र से स्पष्ट है—

> "जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सम्पादक जैसे बा० काशीनाथ व गो० राधाचरण जी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।"[1]

उपन्यासकार के सम्मुख दूसरा लक्ष्य रहता था—शिक्षा देना। इस उद्देश्य से लिखे जाने वाले उपन्यासों में औपन्यासिक तत्त्वों का समावेश किस सीमा तक होता होगा, स्वतः ही समझा जा सकता है। इस उद्देश्य से किये गये अनुवादों का लक्ष्य भी भण्डार भरना ही होता था अतः उनमें कथानक, चरित्र चित्रण आदि की ओर ध्यान दिया जाता था। इसीलिए जो मौलिक उपन्यास लिखे गये उनमें कथानक या चरित्र का महत्त्व न देकर समाज में प्रचलित बुराइयों का उद्घाटन कर उन्हें दूर करने की प्रेरणा निहित रहती थी। इस प्रकार के स्पष्ट संकेत इस युग के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। एक या दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

"हमारी यह पुस्तक पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायेगा कि हमारे बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा-विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।"[2]

"अब को हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध तथा अजान हो तो हमारे उपन्यास को पढ़कर आशा करते हैं सुजान बने, इस किस्म के अजानों को सुजान करने को चन्द्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।"[3]

"बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं कि जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।"[4]

इस प्रकार जिस सुधारवादी प्रवृत्ति का दर्शन इस काल के उपन्यासों में होना

---

१ डा० गोपीनाथ तिवारी 'साहित्य सरोवर', पृष्ठ २७१।
२ पं० बालकृष्ण भट्ट 'नूतन ब्रह्मचारी' (प्रस्तावना)।
३ पं० बालकृष्ण भट्ट, 'सौ अजान एक सुजान' (उपसंहार)।
४ पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, 'भाग्यवती' (भूमिका)।

है वही प्रवृत्ति उपन्यासा के नामकरण मे भी परिलक्षित होती है—'आदर्श दम्पत्ति' (प० लज्जाराम शर्मा), 'दो मित्र' (लोचनप्रसाद पाण्डेय), 'वामा-शिक्षक' (मुशी ईश्वरीप्रसाद व मुशी कल्याणराव), सौ अजान एक सुजान' (प० बालकृष्ण भट्ट), 'भाग्यवती' (प० श्रद्धाराम फुल्लौरी) आदि।

इस काल के उपन्यासो का तीसरा उद्देश्य होता था, भावनापूर्ण रोमानी उपन्यासो द्वारा पाठको का मनोरजन करना। इस प्रकार भावुकता एव रोमानी प्रेम की प्रवृत्ति के दर्शन इस काल के सामाजिक एव ऐतिहासिक दोना प्रकार के उपन्यासो मे होते हैं। भावनापूर्ण उपन्यासा का प्रतिनिधित्व 'श्यामा स्वप्न' (ठा० जगमोहनसिंह), 'सौन्दर्योपासक' (ब्रजनन्दन सहाय) एव 'राजेन्द्रमालती' (श्री ब्रजनन्दन सहाय) करते है। इनमे प्रणय की कहानी रीतिकालीन ढग से कही गई है तथा उसी परिपाटी के सभी उपकरणो—नायिका भेद, सखी, दूती, प्रेम-पत्र, अभिसार, सुरति, समागम आदि का समावेश भी कर दिया गया है। जिस कलाकार को पयोधर मदन के उलटे नगारो से दिखाई दें, त्रिवली मनोज की सीढी सी लगे, नाभि अमृत-रसकुण्ड भासित हो, और जघाए कनक-कदली का उपमान लगें, उसे आचलिकता के उपादानो की आवश्यकता ही क्या है ?

इस प्रकार के सामाजिक उपन्यासो मे भी प्रेम-सबधी उपन्यासो की सख्या सबसे अधिक है जिनमे रीतिकालीन नायिका भेदवाले प्रेम के साथ उर्दू वाली शोखी, शरारत और चुहल भी दिखाई देती है। इस प्रकार के उपन्यासा मे 'अगूठी का नगीना', 'चन्द्रावली', 'लीलावती' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'प्रणयी माधव' (मोरेश्वर पोतदार), 'शीला' एव 'कमोदकदला' (हरिप्रसाद जिंदल), प्रमुख हैं।

इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी प्रेम-प्रसगो के वासनात्मक-रूप को ही उभारा गया है। इन उपन्यासो मे नवाबो, सुलतानो, बादशाहो, बेगमो और शहजादियो की इश्क मिजाजी, उनके कुत्सित प्रेम-व्यापार, वासनातृप्ति के लिए किये गये गर्हित कृत्यो तथा बादियो और कुटनियो की अद्भुत हरकतो का बडा ही शोख वर्णन है। इनमे वेश-परिवर्तन, रहस्यमय मार्ग, तिलस्मी कमरो आदि के विवरण बडे ही रसपूर्ण हैं। इस प्रकार के उपन्यासा का प्रतिनिधित्व 'तारा', 'चपला', 'राजकुमारी', 'लवगलता' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि करते हैं।

इस काल के उपन्यासो का चौथा उद्देश्य होता था पाठक को चमत्कृत कर उसका मनोरजन करना। इसी कारण जो प्रवृत्ति अन्य उपन्यासा मे दिखाई देती है वह तिलस्मी एव जासूसी प्रवृत्ति है। इन उपन्यासो मे कथानक एव चरित्र-निर्माण मे कल्पना का आग्रह प्रमुख रहता था। सामाजिक अथवा ऐतिहासिकता किसी रूप मे आती भी थी तो पूर्णरूपेण गौण होकर, कल्पनाशक्ति की अनुगामिनी होकर। श्री देवकीनन्दन खत्री ने इस आग्रह को स्वीकार भी किया है—

"कुछ दिनों की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवाद-पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता का) कथानक संभव है या असंभव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतन्त्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गये उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये पर यह संभव है कि असंभव इन पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक है तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा सा नमूना है।

चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सच्चाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठकों का कौतूहल-वर्द्धन हो।"

उपन्यासों में केवल मनोरंजन तत्त्व के महत्त्व को सर्वोपरि स्वीकार करने के कारण तथा उपन्यासों की ओर जनता की बढ़ती हुई रुचि को देखकर कुछ प्रेसों ने तो यहां तक किया कि कई मौलवी और पंडित जी पांच रुपये महीने के वेतन पर, उपन्यास-लेखकों के रूप में अपने यहां नौकर रख लिए। फिर क्या? रोज एक नवीन उपन्यास तैयार होकर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने लगा।

इस प्रकार केवल मनोरंजन के उद्देश्य से लिखे गये तिलस्मी, ऐय्यारी या जासूसी उपन्यासों में आंचलिकता के समावेश के लिए स्थान हो ही नहीं सकता था। श्री देवकीनन्दन खत्री गोपालराम गहमरी आदि के उपन्यास इस तथ्य के प्रमाण हैं।

यह तथ्य हृदयंगम कर लेने के उपरान्त कि प्रेमचन्दपूर्व उपन्यासों के कथानक एवं पात्र चित्रण में आंचलिकता के लिए स्थान नहीं था यह देखना शेष रह जाता है कि क्या अन्य किसी रूप में भी इन उपन्यासों में आंचलिकता के विकास के बीज निहित थे? इस दृष्टिकोण से जब इन उपन्यासों पर पुनः दृष्टिपात करते हैं तो आशा की हल्की सी किरण दृष्टिगत होती है। इन उपन्यासों के वातावरण तत्त्व में अभौतिक एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों के बीच भी प्रकृति-वर्णन के कुछ सुन्दर चित्र मिल जाते हैं। यद्यपि वे सोद्देश्य नहीं हैं तथापि इस तथ्य की ओर तो संकेत करते ही है कि उस काल का उपन्यासकार अनजाने ही उनके चित्रण के महत्त्व को स्वीकार करता था। इस छोटे से बीज से ही अर्द्ध-शती से भी कम समय में परिवेश को महत्त्व देने वाले आंचलिक उपन्यासों का सुदृढ़ वट-वृक्ष पल्लवित पुष्पित हो गया। प्राकृतिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरणों के चित्र इस काल के उपन्यासों में उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न प्रवृत्तियों के द्योतक उपन्यासों से कुछ उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि में सहायक होंगे। सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृति 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जगबीती' के दो उदाहरण प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण के समावेश की पुष्टि के रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

"सं० १९३० में जब मैं तेईस बरस का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, बसन्त ऋतु, हवा ठण्डी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा दूसरी ओर सूर्य पर दोनों लाल-लाल अजब समा बंधा हुआ, कसेरू, गड़ेरी और फल बेचने वाले सड़क पर पुकार रहे थे—"

"यह तो दीवानखाने का हाल हुआ अब सीढ़ी का तमाशा देखिये। चार-पाँच मुसलमान सिपाही, एक जमादार, दो तीन उम्मेदवार और दस-बीस उठल्लू के चूल्हे, कोई खड़ा है कोई बैठा है, हाय रुपया सबके जबान पर—कोई रंडी के भड़ुए से लड़ता है रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार में ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दर्शन भी दुर्लभ हो जायेगा। कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न चढ़ाओगे तो बरसों पड़े झूलोगे—कोई दलाल से अलग सट्टा-बट्टा लगा रहा है—"।

शिक्षाप्रद उपन्यासों में भी वातावरण के इस प्रकार के चित्र प्राप्त हो जाते हैं—

"ज्येष्ठ महीना है। प्रातःकाल का समय है। पूर्व के आकाश में अरुणोदय की लाली छाने लगी है। चिड़िया पेड़ों पर अपना बसेरा छोड़कर दाने की खोज में उड़ने के लिए अपनी सहेलियों को बुलाती हुई चहचहाहट मचाने लगी है। हरे-हरे पेड़ों में होकर शीतल मन्द पवन पुष्पवाटिका से सुगंध लेती हुई बहकर गर्मी और लू के कष्ट से रातभर निद्रा न लेने वालों को गाढ़ निद्रा में सोने का आराम दे रही है—किसान सवेरे की ठण्डक पाकर अपने-अपने काम में अधिक परिश्रम कर रहे हैं—माली—'आयो राम, आयो राम' कहकर बैलों की जोड़ी हाँकने वालों को 'चामको राम' बताने के लिए सूचना दे रहे हैं।[1]

"ग्रीष्म की ऋतु है—जेठ महीना है—दोपहर का समय है—सब ओर सन्नाटा छा रहा है—तिग्माशु की तीखी खरतर किरणों से समस्त ब्रह्माण्ड तचे लोह-पिण्ड का अनुहार कर रहा है—क्या स्थावर, क्या जंगम, यावत पदार्थ सब पानी ही पानी रट रहे हैं—मानो त्वगिन्द्रिय शीत-स्पर्श से निराश हो—।"[2]

भावनापूर्ण रोमानी उपन्यासों में भी वातावरण के चित्रों के सुन्दर रूप प्राप्त हो जाते हैं। *'श्यामा स्वप्न' का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—*

"यह हेमन्त का समय था। गुलाब से करवाली उषा ने चित्रोत्पला के डर से अंधकार के मेघ दूर किये और उदय होते हुए भानु की किरणों का प्रतिबिम्ब लहरों में लहराने लगा। इस पुराने ग्राम के एक ओर नदी के

---

१ मेहता लज्जाराम शर्मा, 'आदर्श दम्पति', पृष्ठ १।

२ पं० बालकृष्ण भट्ट, 'सौ अजान एक सुजान', छठवां प्रस्ताव, पृष्ठ २४।

तीर से पनास आम ताल और खजूर के महावन पर्यन्त प्रचुर शालि की भीत अपने सुनहरे सिर कपाती थी—।"[1]

सौन्दर्योपासक' म ग्रीष्म ऋतु की रजनी का चित्रण भी दृष्टव्य है—

"आधीरात का समय है। चारो ओर अटल निस्तब्धता राज्य कर रही है। कृष्ण पक्ष के कारण चन्द्र देव का अभी तक गगनमण्डल मे आगमन नहीं हुआ किन्तु असख्य तारागण नीलोज्वल आकाश मे जगमगा रहे हैं। पार्श्ववर्ती वाटिका के कुसुमित एव अर्द्ध विकसित पुष्प से सुगधि चुराकर सर्वत्रगामी शीतल समीर मन्द मन्द गति से चल रहा है। रह रह कर निकटस्थ आम की डाली से कोयल कूक उठती है।"[2]

ऐतिहासिक एव तिलस्मी उपन्यासा मे भी वातावरण के इसी प्रकार के छुट-पुट चित्र मिल जाते है—

"अमावस्या की अधकारमयी रजनी है, पानी खूब जोर से बरस रहा है, बादल के गजरने और बिजली के कडकने मे प्रलय होने का सा भय हो रहा है और सारा ससार प्रकृति देवी के इस भयानक गोद मे पडा सोया जागा सा और जागा सोया सा हो रहा है।'[3]

"दूसरी रात को आकाश घने काले बादलो से छाया हुआ था। एक बार जोर से पानी भी बरस गया था। रह-रह कर बिजली चमकती और झीगुरो तथा मण्डूको के कर्कश स्वर से लोगो का कलेजा दहल उठता था।[4]

'जेठ का महीना है और शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी का दिन है। यद्यपि रात पहर भर से ज्यादे जा चुकी है और आखो मे ठण्डक पहुचाने वाले चन्द्र देव भी दर्शन दे रहे हैं किन्तु दिन भर की धूप और लू की बदौलत गरम हुई जमीन, मकानो की छतें और दीवारें अभी तक अच्छी तरह ठण्डी नही हुईं। अब कभी-कभी सहारा दे देने वाले हवा के झपेटे म गर्मी मालूम पडती है और बदन से पसीना निकल रहा है।"[5]

'आधीरात का समय है। चारो तरफ अधेरा छाया है। तेज हवा चलने के कारण बड बडे पडो के पत्ते खड-खडा कर सन्नाटे को तोड रहे हैं। उसी समय हाथ मे कमन्द लिए हुए लाली अपने को हर तरह से बचाती

---

१ डा० जगमोहनसिंह 'श्यामा स्वप्न पृष्ठ ३।

२ बाबू व्रजनन्द सहाय सौन्दर्योपासक', पृष्ठ ७२।

३ श्री किशोरीलाल गोस्वामी, 'लवगलता या आदर्शबाला', पृष्ठ ४६।

४ श्री किशोरीलाल गोस्वामी, गुल बहार' पृष्ठ २२।

५ श्री देवकीनन्दन खत्री, 'भूतनाथ' (पहिला हिस्सा), पृष्ठ २।

और चारो ओर गौर से देखती हुई उसी मकान के पिछवाडे की तरफ मे जा रही है।"[१]

इस प्रकार के वातावरण के चित्र सभी उपन्यासों मे प्राप्त नहीं हैं। अधिकतर ऐतिहासिक, तिलस्मी एव जासूसी उपन्यास उनमे रिक्त ही है। फिर भी जैसे भी और जितने भी वातावरण के वर्णन उपलब्ध हैं वे उपन्यास-साहित्य के यथार्थ-वादी मार्ग पर प्रगति की ही सूचना देते हैं। इन वर्णनो के सबध मे एक प्रधान बात तो यही है (जिसकी ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है) कि वे सोद्देश्य नही हैं। कलाकार की कल्पना अनजाने ही कही-कही दृश्य सयोजना करने लगती है जिससे कथा की नीरसता भग हो जाती है और कथानक के यथार्थ की पृष्ठ भूमि स्पष्ट हो जाती है। फिर भी यह तो सत्य है ही कि वातावरण के अनेकानेक सुन्दर चित्र होने पर भी वे आचलिक चित्रण की आवश्यकता की पूर्ति नही करते। उनका प्रमुख उद्देश्य कोई भाव जाग्रत् करना अथवा जाग्रत् भाव को कायम रखना होता है। कभी कभी कथानक की कडियो को जोडने के लिए भी उनका प्रयाग किया जाता है। किसी विशिष्ट अचल के जीवन का चित्रण करने की दृष्टि से कहीं भी प्रकृति-चित्रण या वातावरण-चित्रण की सयोजना नही है। निष्कर्ष यही निक-लता है कि प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास आचलिकता के तत्त्वो से रहित है परन्तु उनके वातावरण चित्रण मे परवर्ती आचलिक चित्रण का प्रारभिक रूप देखा जा सकता है।

(ख)
प्रेमचन्द-युग में आंचलिकता

जिस समय हिन्दी उपन्यास का प्रारभिक काल समाप्त हो रहा था उसी समय देश के सामाजिक एव राजनीतिक जीवन मे भी नया युग प्रारभ हो रहा था। गाधीजी दक्षिण-अफ्रीका से लौट आये थे और उन्होंने एक बडे पैमाने पर जनवादी आन्दोलन का श्रीगणेश कर दिया था। इस आन्दोलन के तीन पक्ष थे—व्यक्ति को उत्पीडित करने वाली सामाजिक-धार्मिक रूढियो के विरुद्ध आन्दोलन, व्यापक निर्धनता के कारणस्वरूप आर्थिक रूढियो के विरुद्ध आन्दोलन तथा विदेशी शासन के विरुद्ध आन्दोलन। इन आन्दोलनों मे गाधीजी से सहयोग करने के लिए देश तैयार हो चुका था क्योकि इनके पूर्व के युग मे समाज-सुधार आन्दोलनों और तिलक, गोखले, लाजपतराय, अरविन्द घोष आदि के नेतृत्व मे राष्ट्रीय जागृति के प्रयत्नो का जन-मानस पर गहरा प्रभाव पड चुका था। यही नही, पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित तथा फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से अनुप्राणित जाग्रत्

१ श्री देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (तीसरा हिस्सा), पृष्ठ ८३।

एव शिक्षित समाज का उदबुद्ध वग भी नवीन आन्दोलन के लिए तैयार था। गाधी-जी के नेतृत्व म सभी को अपना लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग उन्मुक्त दिखाई दिया। अत समाजवादी साम्यवादी सुधारवादी राष्ट्रवादी सभी उनके झण्ड क नीचे इकट्ठे हो गये। देश के इस काल के साहित्य पर सामान्य रूप से तथा उपन्यास साहित्य पर विशेष रूप से इस राजनीतिक सामाजिक एव आर्थिक स्थिति का प्रभाव पडा परिमाणस्वरूप विगत युग की रोमांटिक प्रवृत्ति बड़े ही स्वाभाविक ढग से उपन्यास म समाविष्ट हो गई। अब तक केवल प्रेम रोमाच और पुरातनता के प्रति लगाव की ही अभिव्यक्ति मिल सकी थी। रोमान्टिक आन्दोलन की अधिक महत्वपूण प्रवृत्तिया—शापित मानव के प्रति प्रेम इतिहास क प्रति अनुराग राष्ट्रीयता प्रकृति प्रेम आदि तत्त्व उपन्यासो से दूर ही रहे थे। इस युग क उपन्यासो ने यथाथवादी चित्रण की ओट म एक बडी सीमा तक, इन प्रवृत्तियो को अपने उपन्यासो म स्थान दिया। इस प्रकार दो दशको का यह अवकाश सामाजिक उदबोधन का राष्ट्रीय जागृति का आध्यात्मिक तथा लौकिक आदर्शों के परीक्षण का नवीन मानववादी विचारधारा के प्रचार का वग चेतना के उदय का मानव मन विश्लेषण का युग [1] बन गया।

इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि यथाथवादी उपन्यासो की बाढ सी आ गई और निम्नप्रकार क उपन्यासो का सूत्रपात हुआ

१ यथाथवादी उपन्यास
२ स्वच्छदतावादी उपन्यास
३ मनोवैज्ञानिक उपन्यास
४ ऐतिहासिक उपन्यास[2]

स्वच्छन्दतावादी एव मनोवैज्ञानिक उपन्यासो को छोडकर अन्य दोनो प्रकार के उपन्यासो म आचलिकता क गुणो के लिए पर्याप्त स्थान था और किसी सीमा तक उनमे आचलिक विवरण आये भी परन्तु उद्देश्य की भिन्नता के कारण आचलिकता केवल एक सहायक उपादान बनकर ही रह गई। इसमे कोई सदेह नही कि इस प्रकार के योग के कारण कथानक चरित्र चित्रण वार्तालाप एव वातावरण मे उन तत्त्वो का समावेश हुआ जिनम आचलिकता का प्रारभिक रूप दिखाई देता है।

प्रेमचद युग की समाज व्यवस्था के अतर्गत किसान और मध्यवर्ग की स्थिति बडी विडम्बनामयी थी। अत यह स्वाभाविक ही था कि सामाजिक उपन्यासो मे उसका चित्रण होता। इस युग के सबसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार 'प्रेमचन्द

१ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास' पृष्ठ ५७।
२ डा० वलदत्त लक्ष्मण कोतमिरे 'हिन्दी गद्य के विभिन्न साहित्य रूपो का उद्भव और विकास पृष्ठ १७५।

(तो) पहले भारतीय उपन्यासकार है जिन्होंने विस्तृत चित्रपटल पर किसान और मध्य-वर्ग के जीवन का बड़ी ईमानदारी से और तटस्थता-पूर्वक चित्रण किया।'[१] उनकी प्रथम रचना 'वरदान'[२] में नगर के मध्यवर्गीय समाज की अपेक्षा ग्राम-जीवन और ग्राम-समाज का चित्र कहीं अधिक जीवन्त है यद्यपि वह वर्णित मात्र है चित्रित नहीं। परन्तु यह कमी बाद के उपन्यासों में पूरी हो गई है। उनका 'प्रेमाश्रम' (१६२२) "युगों से उत्पीड़ित एवं पददलित ग्रामीण-चेतना का अग्रदूत होकर आया।"[३] इस उपन्यास में किसान की आर्थिक-सामाजिक दशा, उसके शोषक-तत्त्वों—कारिन्दों, जमींदारों, पटवारी अफसरों सिपाही दरोगा, कचहरी, वकील, सूदखोर आदि—की मनोवृत्ति एवं कार्य-प्रणाली तथा उसकी स्वयं की भीरुता, मूक-सहिष्णुता, लाचारी, मर्यादा आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है। सारी कथा लखनपुर गाँव से सम्बन्धित है जो जमींदार ज्ञानशंकर के अत्याचारों से ग्रस्त है। ग्रामवासियों के शान्त विरोध एवं सद्बुद्धिवादियों के प्रयत्नों से कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। 'रंगभूमि' (१६२४) पाण्डेपुर ग्राम से सम्बन्धित है। ग्रामीण समाज की प्रवृत्तियों का वर्णन इसमें भी मिल जाता है। परन्तु ग्राम-जीवन की चरम परिणति 'गोदान' (१६३६) में हुई। होरी अपने निर्माण से लेकर आज तक, और जब तक ग्राम-समाज रहेगा, किसान के प्रतिनिधि के रूप में जीवित रहेगा। उसकी कथा ग्राम-जीवन की कथा है, पिछड़े हुए समाज की कथा है। आंचलिक उपन्यास के कथानक की आवश्यकता को होरी की यह कथा बहुत अंशों में पूरा करती है परन्तु वह आंचलिक नहीं है। प्रेमचन्द जी की कोई भी कथा आंचलिक नहीं है क्योंकि कथाओं का निर्वाह आंचलिक परिपाटी पर नहीं होता है। कथा के माध्यम से समस्याएं उभरती है, पात्र उभरते हैं, ग्राम अथवा वहां की संस्कृति नहीं उभरती। साथ ही अन्य अनांचलिक कथाएं इस प्रकार गुम्फित रहती हैं कि उपन्यास एक सामाजिक जीवन की कथा मात्र बनकर रह जाता है। फिर भी श्री प्रेमचन्द के उपन्यासों के कथानकों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियां मिल जाती हैं जो आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्ति के अनुकूल ही होती हैं। ये प्रवृत्तियां हैं—माधुर्य की अवतारणा (प्रेम-प्रसंग) जिसे रोमांटिक तत्त्व कहा जा सकता है, राष्ट्रीय चेतना, अधिकार के प्रति जागरूकता। प्रेम-प्रसंग चाहे गोबर और झुनिया से सम्बन्धित हो, चाहे विनय और सोफिया से अथवा मेहता और मालती से, सभी उनकी विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन, सत्याग्रह, समानता, एकता अधिकार आदि की बात तो प्रेमचन्द जी के प्रत्येक उपन्यास के कथानक का महत्त्वपूर्ण सूत्र ही हैं।

१ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृष्ठ ४६।
२ 'वरदान' सेवा-सदन से पूर्व लिखा गया था यद्यपि प्रकाशित उसके बाद हुआ।
३ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ८४।

प्रसाद जी के उपन्यासो मे केवल 'तितली' का कथानक ग्रामीण-जीवन को महत्व देता है और इस कारण उसमे आचलिकता के तत्वो को ढूढा जा सकता है। इस उपन्यास मे "प्रसाद ने प्रेमचन्द के मार्ग को अपनाया है और जमीदार के कर्मचारियो की कूटनीति एव धाधली, ग्रामीण जनता की सरलता एव घोर स्वार्थ-वृत्ति, गावो की राजनीति, त्योहार-उत्सव मनाने के ढग, सम्मिलित कुटुम्ब की दुर्बलता आदि की झलक दिखाने का प्रयत्न किया"[१] है। परन्तु इस आचलिकता के समावेश की अपनी सीमाए हैं। इसमे ग्राम की वास्तविक समस्याओ के मूल मे अर्थ की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है। "इस अर्थ-निरपेक्ष भावधारा के कारण प्रसाद ग्राम-जीवन के चित्रण का प्रयत्न करते हुए केवल उसकी सैद्धान्तिक समस्याओ का ही विवेचन प्रस्तुत कर पाये हैं। प्रसाद ने ग्राम्य जीवन की दरिद्रता और अर्थ-वैषम्य के उचटते हुए सकेत मात्र दिये हैं—अर्थ-प्रधान व्यवस्था के शिकजे मे जकडी हुई निरीह जनता के भाव-जगत् का उद्घाटन नही किया है।"[२] इसमे सदेह नही कि उन्होने भी जमीदारी-प्रथा का विरोध किया है और गाव के दरिद्र किसान के प्रति सहानुभूति भी दिखाई है परन्तु उसमे प्रेमचन्द की सी व्यापकता एव गहराई नही है। उपन्यासकार का दृष्टिकोण भी आदर्शवादी है इसलिए समस्याओ का सम्यक् विश्लेषण नही हो पाया है। "ग्राम-समाज के जीवन का विवेचन करते हुए प्रसाद जी सम्पूर्ण मानव-समाज के धरातल तक उठ आये हैं और उन्होंने पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के समन्वय मे समष्टि कल्याण देखा है।"[३]

वृन्दावनलाल वर्मा के कथानक प्रमुखत ऐतिहासिक है। उनका महत्व आचलिक तत्वो की दृष्टि से कथानक मे न होकर अन्य तत्वो मे है।

इस काल के अन्य प्रमुख उपन्यासकारो मे चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवतीप्रसाद वाजपेयी भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, राधिकारमण प्रसाद सिंह, गोविन्द बल्लभ पत, मन्नन द्विवेदी, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, शभूदयाल सक्सेना आदि हैं। इन सभी के उपन्यासो के कथानक सामाजिक एव पारिवारिक समस्याओ से ही सबधित हैं। चण्डीप्रसाद हृदयेश का 'मनोरमा' (१९२४) यदि भाव-प्रधान उपन्यास है तो 'मगल प्रभात' (१९२६) धार्मिक एव नैतिक उपन्यास की सीमा तक पहुच जाता है। 'कौशिक' जी तो प्रेमचन्द के सबसे निकट है। उनके 'मा (१९२९) मे गोद लिए गये पुत्र तथा उसके सबधियो की कथा है और 'भिखारिणी' (१९२९) मे एक दुखान्त-प्रेम गाथा। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'मीठी चुटकी' (१९२७) मे

१ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ १२३।
२ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण', पृष्ठ ८७।
३ वही, पृष्ठ ८८।

हिन्दू विवाह-व्यवस्था का समर्थन किया है तो 'अनाथ पत्नी' (१९२९) में भारतीय पत्नी के जीवन की परमुखापेक्षिता को भी दिखाया है। इनमें तनिक हटकर 'पतिता की साधना' (१९३६) का अन्त आदर्शवादी हो गया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विदा' (१९२९) का स्वर भी आदर्शवादी है। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' (१९३२) में भाभी के वात्सल्य स्नेह का वर्णन है और 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४) में एक घरेलू नौकर की कथा। गोविन्दवल्लभ पंत के 'सूर्यास्त' (१९२२), 'प्रतिमा' (१९२४) और 'मदारी भी सामाजिक समस्याओं को ही उद्घाटित करते हैं।

इस युग के उपन्यासों पर यदि समग्र रूप से विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सम्मिलित कुटुम्ब की विषमताएं, नारी-वर्ग की विभिन्न समस्याएं, धर्म एवं जातिगत भेद-भाव, परम्परागत सामाजिक कुरीतियां तथा अंध-विश्वास, धार्मिक-नैतिक आडंबर, किसान मजदूर की शोचनीय दशा, जमींदार-पूंजीपति की निरंकुशता सरकारी कर्मचारियों के अन्याय-अत्याचार, विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, ऐतिहासिक एवं रोमानी यथार्थ, आदि में से एक या अनेक उपन्यासों के प्रतिपाद्य विषय बने हैं।

इस काल के उपन्यासों के पात्र-निरूपण में भी विशेष परिवर्तन हुआ। प्रेमचन्द-पूर्व युग में आदर्श अथवा कल्पना-प्रधान पात्रों को स्थान दिया जाता था। यदि सामान्य अथवा यथार्थ पात्र लाये भी जाते थे तो उनका चित्रण मनोरंजन-क्षमता का ध्यान रखकर ही किया जाता था। परन्तु प्रेमचन्द-युग में विषय के अनुरूप सामान्य जीवन के तथा उपेक्षित वर्ग के पात्रों को महत्त्व दिया जाने लगा। आंचलिक पात्रों के विकास की दशा में यह पहिला चरण था। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के होरी, धनिया, गोबर (गोदान), मनोहर (प्रेमाश्रम), सूरदास (रंगभूमि), अछूत गूदड (कर्मभूमि), देवीदीन खटिक, जग्गो (गबन), प्रसाद के महगू महतो, गाला, घटी (कंकाल) आदि का अपना अलग वर्ग है। वृन्दावनलाल वर्मा ने बुन्देलखण्ड के लोक-जीवन से पात्रों को चुनकर उन्हें ऐतिहासिक पात्रों के साथ गूंथ दिया है। ये पात्र निम्न एवं उपेक्षित वर्ग के हैं और अंचल विशेष के जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे पात्रों के उदाहरण निन्नी, लाखी, पिल्ली, चोटा तथा गूजर अटल हैं। श्री सियारामशरण गुप्त ने 'अंतिम आकांक्षा' में रामलाल नामक घरेलू नौकर को उपन्यास का नायक बनाया है। इस प्रकार इस काल में न केवल सामान्य कोटि के वरन् निम्न वर्ग के पात्रों को भी महत्त्व दिया गया है।

वातावरण चित्रण भी इस काल के उपन्यासों में अधिक सशक्त एवं स्वाभाविक होने लगा। ग्राम्य जीवन को कथा का आधार बनाने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि ग्रामीण अंचल के चित्र भी उपन्यासों में स्थानप्राप्त करते

लगते। ये चित्र वातावरण की आवश्यकता की पूर्ति करते ही हैं, प्राकृतिक पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करते हैं। इन वर्णनों में कल्पना भावना मिश्रित आलंकारिक शैली का प्रयोग हुआ है जो आंचलिक शैली की प्रमुख विशेषता है। प्रेमचन्द जैसे यथार्थवादी उपन्यासकार में भी इस शैली के दर्शन हो जाते हैं

> फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर के सुगन्ध बांट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी। [१]
>
> माघ के दिन थे। महावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात दूसरे मघा की वर्षा। मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था। अँधेरा तक न सूझता था। [२]
>
> उत्तर की पर्वत श्रेणियों के बीच एक छोटा-सा रमणीक पहाड़ी गाँव है उसके सामने गंगा किसी बालिका की भांति हँसती उछलती नाचती गाती दौड़ती चली जाती है। पीछे ऊँचा पहाड़ किसी वृद्ध योगी की भांति जटा बढ़ाये स्याम गम्भीर मगन सा खड़ा है। [३]

इस नवीन प्रवृत्ति के दर्शन आदर्शवादी एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में भी हो जाते हैं

> अ ना का पता देन वाला पश्चिम पवन मरीचि में चल रहा था। जौ गेहूँ के वृद्ध वृद्ध पीले बाल उसकी मौज में लोट पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा मन में उमंग बढ़ाने वाली थी। कुतूहल से भरी ग्राम वधुएँ एक दूसरे की आलोचना में हँसा करती हुई अपने रंग बिरंग वस्त्रों में टोल-टोल रम्य श्यामल लता की तरह तरंगायित और चंचल हो रही थीं। वह जगाता पवन वस्त्रों में उलझता था—गाँव की सीमा में निर्जनता थी। पीली पीली धूप तीसी और सरसों के फूलों पर पड़ रही थी। सिंचाई से मिट्टी की सौंधी महक वनस्पति की हरियाली और फूलों की गंध उस वातावरण में उत्तेजना भरी मादकता ढाल रही थी। [४]

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में यद्यपि आलंकारिकता कम है फिर भी प्रकृति के रम्य रूप सुन्दरता से अंकित हुए हैं। धसान नदी के आस पास का यह विवरण अत्यन्त स्वाभाविक है—

> पहाड़ों में करधई धूमरे बैंगनी रंग की छाई हुई सी थी। बीच-बीच में करधर तेंदू और अचार की हरी भरी झुरमुट। बड़ बड़ छपाको जैसी।

---

१ प्रेमचन्द गोदान पृष्ठ २०६।
२ वही पृष्ठ १२१।
३ प्रेमचन्द कर्मभूमि, पृष्ठ १४३।
४ प्रसाद तितली पृष्ठ १५४।

पहाडो की उपत्यका मे साज, महुआ, अचार और सागौन के दीर्घकाय हरे वृक्षो की कतारें मानो उनका कही अत ही न हो। कोटे के वृक्ष नदी की दोनो ढियों पर सघनता के साथ नदी की ओर झुकें हुए मानों विभूतिमयी धसान की निश्शब्द वन्दना कर रहे हो।' [१]

प्राकृतिक परिवेश के साथ सामाजिक परिवेश के मार्मिक चित्र भी वर्मा जी के उपन्यासो मे प्राप्त हो जाते हैं। लोक-जीवन के ऐसे ही चित्रो मे उनकी कला-कुशलता के दर्शन होते है

"अक्षय तृतीया आई। समृद्ध लोगो के घर दाल-चावल बडे-मगोडे कढी, मसूरी रोटी बनी, गरीबों ने चावल का देर (पेज) बनाया। दवी-देवताओ की पूजा हुई। हरायने लिये गये। महीदारो और नौकरो को हल्दी के टीके लगाकर खिलाया-पिलाया गया। खेत मे हल का एक एक कूड डाला गया।"[२]

''स्त्रिया भीगे हुए देवल और बताशे लेकर निकल पडी और एक-दूसरे को गाते-गाते बाटे। लडकियो और लडको ने आक के अधखिले फूल तोडे और जिनका परस्पर नाता भाई-बहिन का या इससे मिलता-जुलता न था एक-दूसरे पर फेंके।"[३]

इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वातावरण की शैली में आचलिक शैली के प्रमुख गुणो का समन्वय इस काल के उपन्यासो मे होने लगा था। कथानक-निर्माण एव चरित्र-चित्रण मे सामाजिक परिवेश एव प्रकृति-चित्रण की उपादेयता अनुभव की जाने लगी थी। इनमे अभाव इतना ही रह गया कि जहा आचलिक उपन्यासो मे इस प्रकार के विवरण अत्यन्त विस्तृत एव उपन्यास-व्यापी होते है वहा इन सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐसे विवरण अल्प एव गौण हैं। परन्तु इस अभाव की पूर्ति की दिशा मे कदम उठ चुका था और यदि मनोविज्ञान का आग्रह प्रबल न होता तो आचलिक उपन्यासो की अवतारणा प्रयोग-युग मे सर्व प्रथम होती।

भाषा-शैली मे भी इस काल मे नवीनता आई और जन-भाषा की ओर लेखकों का झुकाव बढने लगा। पात्रों को उनकी प्रकृति के अनुकूल भाषा प्रदान करने के सफल प्रयोग भी इसी काल मे प्रारभ हो गये। प्रेमचन्द जैसे समर्थ कलाकारो ने तो ग्रामीण जीवन के चित्रण मे भी ग्रामीण भाषा के शब्दो का प्रयोग स्वीकार कर लिया था। परिणामस्वरूप भाषा मे स्वाभाविकता, प्रवाह-पूर्णता एव प्रभावात्मकता का समावेश हो गया। भाषा प्रयोगो के ऐसे सुन्दर उदाहरण

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा 'कचनार', पृष्ठ ७।

२ वृन्दावनलाल वर्मा, 'कचनार' पृष्ठ ७६।

३ वही, पृष्ठ ७६।

प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के उपन्यासों में मिल जाते हैं। 'गोदान' का प्रारंभ भी इस प्रकार के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है—

> "होरी राम ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा—गोबर को ऊख गोडने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूं। जरा मेरी लाठी दे दे।
>
> धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे हुए थे। उपले पाथकर आयी थी। बोली—अरे कुछ रस-पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है।
>
> होरी ने अपने झुर्रियों से भरे हुए माथे को सिकोड़ कर कहा—तुझे रस-पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी। असनान-पूजा करने लगेंगे, तो घण्टा बीत जायेगा।'[1]

वृन्दावनलाल वर्मा ने तो बुन्देलखण्डी भाषा का बडी कुशलता-पूर्वक अपने उपन्यासों में समन्वय कर दिया है। विवरणों एवं वर्णनों में तो आंचलिक भाषा के शब्द हैं ही, वार्तालापों में भी इसका बड़ा प्रभावशाली रूप दिखाई देता है। निम्न उदाहरण इसी का प्रमाण है

> किसी ने फाटक के बुर्ज की खिड़की से कर्कश स्वर में कहा—"को आय रे बोल नहीं तो तीर छूटो।"
>
> श्यामकाय सवार ने दुगने कर्कश स्वर में कहा—'फाटक खोल जल्दी, दिन भर के थके हुए हैं।"
>
> खिड़की से फिर उसी ने कहा—'मैं हौ अर्जुन, जानत कै नई? के महाभारत में अर्जुन हते कै अब मैं हौ। 'फाटक खोल जल्दी।' जैसे इनके बापई को दवा खात होए।"[2]

इस प्रकार के भाषा प्रयोगों से शैली में प्रवाह-पूर्णता एवं प्रभावोत्पादकता का समावेश हुआ, प्राचीन शिक्षाप्रद एवं चमत्कार-प्रधान उपन्यासों की शैली की शिथिलता समाप्त हुई और यथार्थ के आग्रह से उसमें भी अभिनव प्रयोग होने लगे। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द-युग के ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यासों ने भविष्य के आंचलिक उपन्यासों के लिए सुदृढ़ आधार-भूमि निर्मित कर दी और रोमांटिक आन्दोलन की अवशिष्ट विशेषताओं का भी उपन्यास के कलेवर में समावेश हो गया।

---

१ 'गोदान', पृष्ठ १।
२ गढ़ कुण्डार', पृष्ठ २४।

(ग)
प्रेमचन्दोत्तर युग में आंचलिकता

प्रेमचन्द जी के 'गोदान' को हिन्दी-उपन्यास मे नए मोड का प्रतीक माना जाता है। यथार्थवाद की सुदृढ स्थापना वे अपने पूर्व के उपन्यासो द्वारा ही कर चुके थे और 'गोदान' के द्वारा उन्होने भविष्य के मार्ग का भी अनजाने सकेत कर दिया। "यह उपन्यास केवल होरी का गोदान नही है प्रेमचन्द की आस्था का भी गोदान है। इनका विश्वास सुधारवादी तथा गाधीवादी समाधानो से उठ गया है।·· धनिया का पछाड खाकर गिर पडना उस सदन तथा आश्रम का ढह जाना है जिन्हे लेखक ने 'सेवासदन', 'रगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' आदि मे खडा किया था।"[१] फ्रायड एव मार्क्स की विचारधारा, जो आगे के उपन्यासो को अनुप्राणित करने वाली थी, इस उपन्यास मे भी दबे हुए स्वर मे बोल रही थी। दबे हुए स्वर मे इसलिए कि प्रेमचन्द की प्रवृत्ति ही भिन्न थी। अन्यथा किसान का मजदूर की स्थिति मे पहुच जाना और मेहता तथा मालती का विवाह के स्थान पर मित्रता से सतुष्ट हो जाना, भिन्न ही रूप मे चित्रित किए जाते। इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल मे हिन्दी उपन्यास को ढालने वाली दोनो प्रवृत्तिया—सामाजिक यथार्थ एव मनोविश्लेषण—प्रच्छन्न रूप से उनके 'गोदान' मे उपस्थित है। सामाजिक यथार्थ का ही आगे चल कर जिन नाना रूपो मे प्रस्फुरण हुआ उनमे आचलिक यथार्थ[२] भी एक है। ग्रामीण अचलो का प्रभावशाली ढग से प्रेमचन्द जी ने ही प्रथम बार उपन्यास मे स्थान दिया था परन्तु उनके उपरात सामाजिक यथार्थ, मनोवैज्ञानिक यथार्थ, ऐतिहासिक यथार्थ, आदि के नीचे आचलिक यथार्थ दब-सा गया था। इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल के लेखक "अपनी सीमित मान्यताओ एव कुण्ठाओ से ऊपर न उठ सके। इस व्यक्तिवाद के विरोध मे और विद्रोह स्वरूप ही हिन्दी-उपन्यास मे एक ऐसी चेतना-लहर उठी जो जीवन की स्वाभाविक दुर्बलता एव सबलता के साथ देश के नवोन्मेष के स्वागतार्थ उत्सुक थी। नवीनता के इस आग्रह ने ही लेखको का ध्यान नागरिक जीवन से हटा कर दूरवर्ती विलक्षण समाज की ओर आकर्षित किया। इन्ही उपन्यासो ने आगे चलकर आचलिक उपन्यासो की सज्ञा ग्रहण की।"[३]

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी आचलिक उपन्यासो को प्रमुख रूप से स्वातन्त्र्योत्तर युग की सृष्टि मानते हैं—"यो तो हिन्दी-उपन्यास मे आचलिकता का पुट पहिले भी रहा है, उसके कुछ तत्त्व बीज रूप मे विद्यमान रहे हैं किन्तु उसका पूर्ण विकास

१ डा० इन्द्रनाथ मदान, 'आज का हिन्दी-उपन्यास', पृष्ठ ६-१०।
२ डा० इन्द्रनाथ मदान, 'आज का हिन्दी-उपन्यास', पृष्ठ १८।
३ डा० ज्ञान अस्थाना, 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास,' 'रसवती', (जनवरी १९६७)

हिन्दी-उपन्यास की अभिनव सिद्धि ही है।"[1] इसी की पुष्टि डा० कान्ति वर्मा ने भी की है—"कहने को तो आंचलिकता का हल्का-हल्का पुट पूर्व-युग के उपन्यासो मे भी मिल जाता है लेकिन उसका सशक्त एव पूर्ण विकसित रूप स्वातत्र्य युग के उपन्यासो मे ही हुआ।"[2] यह सत्य भी है क्योकि १९३६ से १९४७ तक की स्थिति जिस प्रकार की रही थी उसमे आंचलिक उपन्यासों की सर्जना के लिए स्थान भी नही था। देश मे राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी चरम अवस्था मे पहुच चुका था। मुस्लिमलीग के द्विराष्ट्र-सिद्धान्त के कारण साम्प्रदायिक शांति भी भग हो चुकी थी और देश भयकर आर्थिक सकट से गुजर रहा था। बगाल मे भयकर अकाल पडा, अभूत-पूर्व महगाई प्रारभ हो गई और मूल्य-नियत्रण तथा राशनिग-व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। शिक्षा-प्रसार, विज्ञान की खोजो तथा औद्योगीकरण के कारण नई-नई आर्थिक एव सामाजिक समस्याए उत्पन्न होने लगीं। इन सबका सम्मिलित प्रभाव साहित्य मे यथार्थवादी साहित्य की सर्जना के रूप मे प्रकट हुआ। उद्बुद्ध वर्ग पर मार्क्स के प्रभाव के साथ फ्रायडीन दर्शन का प्रभाव भी था, परिणामस्वरूप यथार्थवादी उपन्यासो की बाढ सी आ गई और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद, प्रकृतवाद, अतियथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आदि विभिन्न धाराओं का विकास हुआ और सामाजिक जीवन का सत्य विविध रूपो मे उद्घाटित किया जाने लगा। इस बीच गाधीजी के प्रयत्नो एव समय की आवश्यकता के कारण स्थानीय भाषा और ग्रामीण जीवन का महत्त्व भी समझा जाने लगा था। १९३५ मे इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से भाषण देते हुए गाधीजी ने साहित्यकारो को भारतीय गावो का स्मरण कराया था। आगे चलकर श्री राहुल सास्कृत्यायन ने भी जनपदीय सस्कृति की रक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। परिणामस्वरूप विभिन्न उपन्यासकार अपने विशिष्ट दृष्टिकोण अथवा आग्रह के अनुसार जनपदीय विशेषताओं का चित्रण करने लगे। नागार्जुन के समाजवादी दृष्टिकोण ने आर्थिक विषमताओं को महत्त्व दिया तो वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने प्रादेशिक परिवेश को। परन्तु पूर्ण रूप से आंचलिक उपन्यासो की सर्जना वह मंजिल थी जो इतनी सीढिया चढ चुकने के बाद ही आती थी। १९४७ तक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य इन विभिन्न सीढियो को चढ चुका था। उधर स्वतत्रता-प्राप्ति ने उत्साह-प्रदर्शन का एक मार्ग (देश-भक्ति पूर्ण साहित्य-सर्जना का) अवरुद्ध कर दिया था। फलस्वरूप राष्ट्रीय विचार-धारा वाले लेखको का ध्यान अब राष्ट्रीय समस्याओ की ओर जाने लगा। आदिवासी-समाज, जन जातिया, पिछडे क्षेत्र, विभिन्न भौगोलिक अचल तथा उनसे सबधित समस्याए अब लेखको का ध्यान

१ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण', पृष्ठ १८८-१८९।

२ [illegible]

आकर्षित करने लगी। अब तक जिन समस्याओं के लिए विदेशी शासन को उत्तरदायी ठहराया जाता था उन्हीं को राष्ट्रीय समस्या मानकर उनके निराकरण के प्रयत्न होने लगे थे। यह आवश्यक समझा जाने लगा कि सम्पूर्ण देश एक साथ उन्नति की ओर अग्रसर हो, केवल कुछ विशिष्ट क्षेत्रों की उन्नति अथवा समृद्धि देश की समृद्धि की परिचायक नहीं हो सकती। यह जनवादी विचारधारा का ही एक रूप था जो यह स्वीकार करती थी कि सबसे अधिक उत्पीडित, उपेक्षित और शोषित को ही कलाकार की सहानुभूति नहीं चाहिए, भारतीय जन जीवन का सच्चा चित्रण करने के लिए उसे निश्चित रूप से सभ्यता से दूर अन देखे अचलों और अल्पज्ञात जातियों के बीच पहुचना होगा जहा भारतीय संस्कृति मूलत एक होते हुए भी अपने विशिष्ट रूप मे द्रष्टव्य है। अत सहृदय लेखक पिछडे जन जीवन की ओर लौटा और उसे युगो युगो से उपेक्षित, शोषित, जर्जरित जन-जीवन को उभारने की आवश्यकता अनुभव हुई। डा० रांगेयराघव ने प्रेमचन्द-युग की परिस्थिति से स्वातन्त्र्योत्तर युग की परिस्थितियों की भिन्नता की ओर सकेत करते हुए लिखा है—

"प्रेमचन्द के समय मे राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी के विरुद्ध था अत उस समय राष्ट्रीयता का ही महत्त्व उनके उपन्यासों मे मिलता है। प्रेमचन्द आदर्शवादी भी थे। गाव की बहुत सी असलियत वे इसी से स्पष्ट नही लिख सके थे क्योंकि उस समय उनकी समस्या राष्ट्रीय आन्दोलन को बल देने की थी। किन्तु अब युग प्रेमचन्द से आगे है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों मे बैठने वाले आधुनिकता के नजरिये से सब कुछ देख डालते हैं। पर असली भारत गाव मे है जो अब भी मध्यकालीन विश्वासों से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालनी आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित हैं। मैंने उनको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।'[1]

श्री माखनलाल चतुर्वेदी कला का आधार ग्राम को ही स्वीकार करते हैं—

'"कला गावों मे पनपती है, शहरो मे नही। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं—काश किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता ! जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले मे साप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिथडा लिपटा हो, पास मे पार्वती—पर्वत पुत्री खडी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब मस्तक पर झुके तभी कला की सच्ची पूजा है—शकर पूजा है। वह किसान ही हमारा शकर है। साप टैक्स है—चिथडे गरीबी हैं—साहित्यकार कहता है "मेरी कविता मे अलकार है, मेरी कला सुन्दर है। मुझे उस किसान से क्या सबध ?"—भाड मे जाय तेरा अलकार और तेरी कला, तीस करोड

---

१ रांगेयराघव, 'कब तक पुकारूं' भूमिका (द्वितीय संस्करण), १९६०।

अलकार खेतो मे लहरा रहे हैं और तू अपने अलकारो और कल्पना को चिल्ला रहा है। मानव के इतने बडे दुश्मन तुम्हें हम साहित्यिक कहें।'[१]

परिणामस्वरूप विभिन्न जन-जातियों और अचलो से परिचय पाया जाने लगा। रागेयराघव ने नटो को चुना, तो राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने बस्तर के गोंडो को, और उदयशकर भट्ट ने वरसोवा के मछुआ को। इस स्थिति के पीछे मानवतावादी विचारधारा का भी हाथ था। प्रारभ मे गाधीजी एव रवीन्द्र द्वारा प्रवाहित मानवतावाद की धारा काल की गति ने अवरुद्ध कर दी थी परन्तु १९४७ के बाद वह नवीन वेग से पुन प्रवाहित होने लगी और देश के अनजान अचल उसमे स्नान होकर निखरने लगे।

यथार्थ के आग्रह का भी आचलिक प्रवृत्ति के विकास मे योग रहा। देश के अचल एव आचलिक जातिया भी उतनी ही यथार्थ थी जितने औद्योगिक, ऐतिहासिक अथवा ग्रामीण क्षेत्र तथा किसान, मज़दूर एव समृद्ध लोग। अत यह स्वाभाविक भी था कि किसान, मजदूर, मध्यवर्ग तथा देश के प्रसिद्ध एव ज्ञात स्थानो के कथानको के उपरान्त अज्ञात अथवा अल्प ज्ञात स्थानो एव समाज की ओर यथार्थवादी कलाकार उन्मुख होता। ऐसी स्थिति आई भी क्योंकि "हिन्दी उपन्यास मे आचलिकता का स्वरूप स्थिर होने तक भारतीय समाज तथा जन-जीवन का गठन सुव्यवस्थित रूप मे होने लगा था। सस्कृति के प्राचीन मूल्यो का पुन सस्कार हो रहा था। अत लेखक की मानसिक अवस्था मे भी सतुलन आने लगा था। उसकी दृष्टि विस्तार पाने लगी थी। उसका ध्यान भारत की लोक-सस्कृति तथा विभिन्न भू-भागो के जीवन की ओर आकृष्ट हुआ और उसने किसी अचल के लोकाचार, परम्परा, जाति-व्यवस्था, रहन-सहन, खान पान, बोल-चाल आदि सभी आचलिक तत्त्वो के सम्मिश्रण से इस नई प्रवृत्ति को जन्म दिया।'[२]

कला की दृष्टि से भी आचलिक साहित्य की अवतारणा आवश्यक हो गई थी। जन सकुल नगरो तथा समस्याग्रस्त जन-जीवन के चित्रण का आकर्षण धीरे-धीरे कम होने लगा। साहित्यकारो एव पाठको को भी उसमे बासीपन लगने लगा। साहित्य-शिल्प मे भी पिष्ट-पेषण के अतिरिक्त कुछ शेष नही रहा। परिणाम स्वरूप कला के क्षेत्र मे प्रयोग आरभ हुए। इसी प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया उपन्यास साहित्य मे भी प्रकट हुई। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने तो सम्पूर्ण प्रेमचन्दोत्तर काल को ही प्रयोग-युग माना है[३] परन्तु यह तो सामान्य नामकरण मात्र ही है क्योंकि प्रत्येक कृति किसी न किसी अर्थ मे एक प्रयोग ही होती है।

---

१ श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'नया जीवन', मई १९५५, पृष्ठ ४८।

२ डा० कान्ति वर्मा 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' (प्राक्कथन), पृष्ठ ९।

३. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास (ऐतिहासिक अध्ययन)', . चतुर्थ प्रकरण।

वास्तविक प्रयोग, जिन्होंने उपन्यास के कलेवर को ही बदल दिया बाद में प्रारंभ हुए (यद्यपि उनके प्रणेता पहिले भी उपन्यास लिख रहे थे)। इसीलिए श्री महेन्द्र चतुर्वेदी ने यह स्वीकार करते हुए भी कि स्वातन्त्र्योत्तर युग प्रेमचन्द युग का ही प्रसार है, उसे नवीन अध्याय का विषय बनाया।[1]

"प्रयोगवाद या नई कविता की भांति उपन्यास-क्षेत्र में भी इस दशक (१९५२-६२) के पांच पात्र बड़े प्रसिद्ध हुए—लघु-उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, नायकहीन उपन्यास, सहकारी उपन्यास एवं कथाहीन उपन्यास। प्रेमचन्द युग एवं प्रेमचन्दोत्तर युग में सामाजिक उपन्यास के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, व्यक्तिवादी उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास आदि अनेक नाम आ गए थे, किन्तु इधर 'नवीनता' जो आई है वह उधर नहीं है।[2]

डा० गोविन्द त्रिगुणायत के मतानुसार भी, 'इधर हिन्दी में बहुत से प्रयोगवादी उपन्यास लिखे गये हैं। इन प्रयोगवादी उपन्यासों में यथार्थ के नए-नए क्षितिज ढूंढ निकालने के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं—जैसे शैलीगत, कलागत, विषय और उद्देश्यगत।'[3] उनका भी मत है कि 'यथार्थवाद के नए क्षितिज खोजने के प्रयत्न के रूप में रेणु लिखित 'मैला आंचल' का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा प्रस्तुत किये गये यथार्थवाद को आंचलिक यथार्थवाद की संज्ञा दी जाने लगी है। इसे आंचलिक यथार्थवाद इसलिए कहते हैं कि इसमें एक अंचल के सम्पूर्ण जीवन का संश्लिष्ट और यथार्थ रूप प्रस्तुत किया गया है।"[4]

इस प्रकार एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचन्दोत्तर युग में उपन्यास के क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रयोगवादी उपन्यासों के रूप में आये और इन प्रयोगों में नवीनतम प्रयोग आंचलिक उपन्यासों का है। चूंकि यह नव्यतम प्रयोग है अतः उपन्यास-क्षेत्र के विविध रूपों का भी इसमें समावेश हो गया है और लगभग सभी शैली एवं शिल्पगत प्रयोग इसमें उपलब्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी सिद्ध होता है कि आंचलिक उपन्यासों का विकास अचानक नहीं हो गया। अचानक तो नामकरण हुआ। इस नामकरण से पूर्व यद्यपि आंचलिक विशेषताओं से पूर्ण उपन्यास लिखे जा चुके थे तथापि उन्हें इस नाम से पुकारा नहीं गया था। उदाहरणार्थ, 'रतिनाथ की चाची' १९४८ में लिखा जा चुका था, १९५२ 'बलचनमा' एवं 'वहती गंगा' (रुद्र) तथा १९५३ में 'नई पौध', 'रथ के पहिये', 'बारा', लिखे जा चुके थे परन्तु अक्टूबर १९५४ के

---

१. श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण,' पृष्ठ १३६।
२. डा० सोमानन्द सारस्वत, 'हिन्दी उपन्यास : त्रिधा दर्शन', 'वातायन' (मूल्यांकन विशेषांक १९६३), पृष्ठ ७७।
३ श्री गोविन्द त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', पृष्ठ ४४०।
४ वही, पृष्ठ ४४१।

'आलोचना' के उपन्यास विशेषांक में इस शब्द या विधा का नाम तक नहीं आया है यद्यपि यथार्थवाद के विकास तथा यथार्थवादी उपन्यासों के अन्तर्गत आंचलिक उपन्यास एवं उपन्यासकारों के नाम आ गये हैं।[१] नागार्जुन को साम्यवादी उपन्यासकारों के अंतर्गत रखा गया है।[२] कारण यही है कि तब तक न तो 'मैला आंचल' प्रकाशित हुआ था और न आंचलिक विधा का नामकरण ही हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उपन्यास-साहित्य पर कुछ प्रमुख उपन्यासकारों के नाम का तथा कुछ प्रवृत्तियों का ही एकाधिकार था जो 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद ही टूटा और यथार्थवाद की मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी आदि विधाओं में आंचलिक नाम भी जुड़ गया। इस स्थिति के संबंध में श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी का मत है—

"प्रेमचन्द के बाद हिन्दी गल्प-साहित्य एक तरह के मनोवैज्ञानिक कुहासे से ढक गया था। उपन्यास और कहानी दोनों ही क्षेत्रों में मनोविश्लेषण के अन्तश्चेतनावाद का एकाधिपत्य सा हो गया था। फ्रायड, युंग और एडलर आदि यूरोप के मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा मानव-मन की रहस्यमयी पर्तों में छिपी हुई असंख्य संभावनाओं का द्वार खोल दिया—हिन्दी में विशेष रूप से जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया—किन्तु व्यक्ति को ही केन्द्र-बिन्दु बनाकर साहित्य सृजन करने में बड़ा खतरा उस साहित्य के समाज-निरपेक्ष और एकांगी हो जाने में था। ऐसा हुआ भी—[३] साहित्य का यह एकांगीपन विद्वानों ने अनुभव किया। और कहा जाने लगा कि हिन्दी-साहित्य में गतिरोध आ गया है। आंचलिक विधा से कथा-साहित्य का गतिरोध हट गया है।"[४]

इस प्रकार हिन्दी में आंचलिकता का विकास जादुई ढंग से न होकर, वर्षों की साधना द्वारा हुआ है। हिन्दी-गद्य की अन्य विधाओं का जिस प्रकार विकास हुआ और उनका नया रूप उभरा उसी प्रकार उपन्यास भी जन-जीवन के परिवर्तनों के साथ विकसित होता गया। इन परिवर्तनों के आधार पर तो हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का श्रीगणेश सन् १९३० के आस-पास ही हो जाना था परन्तु हिन्दी-क्षेत्र गांधीजी की उदारतावादी नीति से प्रभावित था और राष्ट्रीयता के आग्रह का आंचलिक दृष्टि पर प्रभुत्व था इसी कारण राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण का आदर्श चिपका रहा और सीमाबद्ध आंचलिकता पनप न सकी। आंचलि-

१ आलोचना (उपन्यास विशेषांक १९५४), पृष्ठ ६७, १४७।
२ वही, पृष्ठ २०३।
३ श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी, 'आंचलिक उपन्यास ग्रामीण मध्यवर्ग', 'कल्पना' मई १९५६, पृष्ठ ५७।
४ वही, पृष्ठ ५८।

कता का यह रूप शिवपूजन सहायक की 'देहाती दुनिया', निराला के 'चतुरी चमार', बिल्लेसुर बकरिहा और बेनीपुर की 'माटी की मूरतें', आदि में मिलता है। परन्तु 'उत्तरार्द्ध बीसवीं सदी के प्रवेश के साथ हिन्दी में आंचलिकता का अभ्युदय हुआ जब आजादी के बाद राष्ट्रीयचेतना ने विश्व-मंच पर अपने अहम् को प्रतिष्ठित करने की बात सोची।"[1] परिमाणस्वरूप आंचलिक उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई। एक फैशन सा बन पड़ा परन्तु यह एक स्वस्थ प्रवृत्ति का ही परिचायक था क्योंकि पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित होने पर भी आंचलिक उपन्यासों के पास कुछ अपना भी देने को था। रूसो, वाल्टेयर, फ्रायड, मार्क्स, एडलर आदि की छाया उन पर पड़ी परन्तु आंचलिकता ने उनकी अनुगामिनी बनने के स्थान पर उन्हें ही अपने अनुरूप बना लिया। गांधीजी की विचार-धारा का आधार पा कर यह मनोविश्लेषण और यौनवाद अग्राह्य नहीं रहा, अंचलों की पवित्रता एवं नवीनता ने उसका नवीनीकरण करके उसे शुद्ध कर लिया।

इस प्रकार प्रेमचन्द काल से वर्त्तमान काल तक नये-नये प्रभाव ग्रहण करती हुई आंचलिकता की यह धारा स्वातंत्र्योत्तर काल में ऐसी भागीरथी में परिवर्तित हो गई जिसमें स्नान कर वैज्ञानिक प्रगति से संतप्त जन-मानस अभिनव शांति और संतोष का अनुभव करने लगा। आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्ति की यही विशेषता उन्हें अन्य उपन्यासों से सर्वथा भिन्न करके कलाकृति के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित करती है।

---

१ श्री मधुकर गंगाधर, 'हिन्दी आंचलिक उपन्यास', आलोचना— पृष्ठ ३५, ८१।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी-आंचलिक उपन्यासों का वर्गीकरण

आंचलिक उपन्यासों के शिल्प एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए उनका वर्गीकरण प्राथमिक आवश्यकता है। परन्तु इस कार्य की अपनी कठिनाइयां एवं सीमाएं हैं। प्रत्येक कृति अपने लेखक के व्यक्तित्व को समन्वित किए होती है परिणामस्वरूप समान दीखनेवाली अन्य कृतियों में प्रवृत्ति व स्वर में वह भिन्न हो जाती है। लेखक का यह व्यक्तित्व उसमें निहित न हो ऐसा नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में कतिपय कृतियों को किसी एक वर्ग के अंतर्गत तथा अन्य कृतियों को दूसरे वर्ग के अंतर्गत परिगणित करना उनमें निहित स्वर तथा प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर देने के समकक्ष ही हो जाता है। समाज में कोई भी दो व्यक्ति एक-जैसे नहीं होते फिर भी प्रवृत्ति, क्षमता, योग्यता, वर्ण, जाति के आधार पर उन्हें पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है। इस प्रकार का विभाजन कितना ही दोषपूर्ण क्यों न हो, उनको समझने की दृष्टि से वह आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से कलाकृतियों का वर्गीकरण भी किया जाता है। साहित्यिक कृतियों के इस प्रकार के वर्ग विभाजन का कार्य अपेक्षाकृत अधिक दुष्कर होता है क्योंकि बाह्य आकार-प्रकार में ऐसी कृतियां एक जैसी दीखती हैं और भिन्नता जिस अन्तर्निहित स्वर में होती है वह इतना मुखर नहीं होता कि ऊपर से पहिचाना जा सके। आंचलिक उपन्यासों के वर्गीकरण का कार्य इस दृष्टि से और भी अधिक कठिन है क्योंकि उनकी कोई सर्वमान्य सूची उपलब्ध नहीं। यही नहीं आंचलिक उपन्यासों के जो नाम विद्वानों ने गिनाए हैं वे कठिनाई को द्विगुणित कर देते हैं। डा० गणेशन ने आंचलिक उपन्यासों की गणना सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यासों के अंतर्गत ही कर ली है।[1] उन्होंने आंचलिक उपन्यासों की विधा को भी स्वीकार किया है परन्तु उसके अंतर्गत उन्होंने प्रेमचंद के 'गोदान' और रांगेयराघव के 'विषाद मठ' को भी रख लिया है[2] जो प्रमुख रूप से सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास हैं। अन्य उपन्यासों में उन्होंने रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' तथा

१ डा० गणेशन, हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ८३।
२ वही, पृष्ठ १४३।

काम चला लिया गया है—'आंचलिक उपन्यास लेखकों में नागार्जुन तथा फणीश्वरनाथ रेणु ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। इन लेखकों ने उत्तरी बिहार (दरभंगा पूर्णिया) के जन-जीवन को आधार बनाकर अपने उपन्यासों की रचना की है।'[१]

अपने चतुर्थ प्रकरण 'प्रेमचन्दोत्तर युग प्रयोग काल' के उपसंहार में श्रीवास्तव जी ने आंचलिक सम्पर्श तथा स्थानीय रंग देने के कौशल के महत्त्व को स्वीकार किया है और रेणु एवं नागार्जुन के उपन्यासों के साथ 'बहती गंगा', 'बूंद और समुद्र' तथा 'सेठ बांकेमल' के नाम स्थानीय विशेषताओं को उभारने वाले उपन्यासों में परिगणित कर लिए हैं।[२]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यदि आंचलिक उपन्यासों की सूची बनाई जाये तो उसमें केवल निम्नलिखित १३ उपन्यास ही रखे जा सकेंगे—

गोदान, विषाद मठ, मैला आंचल, परती परिकथा, बया का घोंसला और सांप, बलचनमा, रतिनाथ की चाची, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, नई पौध, बहती गंगा, बूंद और समुद्र तथा सेठ बांकेमल।

परन्तु यह सूची त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इसमें बहुत से आंचलिक उपन्यासों के नाम नहीं आये हैं और कई अनांचलिक उपन्यासों के नाम आ गए हैं।

अपेक्षाकृत बाद के आलोचना-साहित्य में आंचलिक उपन्यासों पर अधिक विस्तार से विचार किया गया है संभवतः इसलिए कि उस समय तक आंचलिक विधा के स्वतन्त्र अस्तित्व को विद्वान स्वीकार करने लगे थे। श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने अक्टूबर १९६१ में 'सारिका' में इस विषय पर एक परिचर्चा भी आयोजित की थी जिसमें विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किए थे। परिणामस्वरूप आगे के ग्रन्थों एवं आलोचना-पत्रिकाओं में आंचलिक उपन्यासों का वर्गीकरण प्राप्त होने लगा।

१९६२ में श्री महेन्द्र चतुर्वेदी का 'हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने आंचलिक उपन्यासों पर अलग से विचार करके निम्नलिखित उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास माना—

रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन, वरुण के बेटे, मैला आंचल, परती परिकथा, सागर लहरें और मनुष्य, बया का घोंसला और सांप। साथ ही यह भी स्वीकार किया "इस श्रेणी में डा० रांगेयराघव, भैरवप्रसाद गुप्त एवं यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र के नामों का उल्लेख किया जा सकता है।"[३]

---

१ श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ३७९।
२ वही, पृष्ठ ४३९।
३ श्री महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृष्ठ २१४।

श्री राधेश्याम कौशिक (अधीर) ने १९६२ मे 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास' नामक एक लघु पुस्तक प्रकाशित की। आपने पन्द्रह उपन्यासो के आधार पर[1] आचलिक उपन्यासो की प्रवृत्तियों पर विचार किया है। इन उपन्यासो मे महन्त धनराज पुरी का 'अविरल आसू', वीरेन्द्रनारायण का 'अमराई की छाह', तथा निराला का 'बिल्लेसुर बकरिहा' भी हैं।

१९६३ मे 'गधदीप' (वार्षिक) मे श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने लिखा है कि "हिन्दी मे इस समय आचलिक उपन्यासो की सख्या अगुलियो मे गिनने लायक है।'[2] उन्होने जो प्रमुख आचलिक उपन्यास गिनाये हैं उनमे 'बहती गगा', (शिवप्रसाद), 'रथ के पहिये' एव 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'गगा मैया' और 'सत्तीमैया का चौरा' (भैरवप्रसाद), कब तक पुकारू (रागेयराघव), हौलदार (शैलेश मटियानी) आदि आचलिक उपन्यासो के साथ ही बूद और समुद्र (अमृतलाल नागर), बोरवली से बोरी बदर (शैलेश मटियानी), और मैत्रेय (गोविन्दवल्लभ पत) भी परिगणित कर लिये गए हैं।[3]

इसी वर्ष (१९६३) 'वातायन' का मूल्याकन विशेषाक निकला। इसमे 'नये नाम नये उपन्यास' खण्ड के अन्तर्गत आठ उपन्यासों के आधार पर आचलिक उपन्यासों की विवेचना की गई है। प्रमुख आचलिक उपन्यास इस विवेचना मे आ गए हैं।

अगले वर्ष (१९६४) श्री प्रकाश वाजपेयी का एम० ए० का लघु-प्रबध परिवर्धित एव परिवर्तित रूप मे 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमे लेखक ने नौ उपन्यासकारो के चौदह उपन्यासो के आधार पर हिन्दी के आचलिक उपन्यासो का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासो मे अमृतलाल नागर का 'बूद और समुद्र' तथा वृन्दावनलाल वर्मा के 'भासी की रानी' एव 'मृगनयनी' भी हैं।

डा० सुरेश सिन्हा के अपने ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास' (प्रथम सस्करण, १९६५) मे तेरह औपन्यासिक प्रवृत्तिया गिनाई हैं परन्तु आचलिक प्रवृत्ति उनमे नही रखी है।[4] आचलिक उपन्यासों का न तो कही विवरण ही है और न उनकी प्रवृत्तियों पर विचार ही। केवल भिन्न उपन्यासो पर विचार करते समय उनकी विशेषताओ के सबध मे लेखक ने इतना और कह दिया है कि अमुक कृति एक आचलिक उपन्यास है। परन्तु इसी वर्ष (१९६५) प्रकाशित अपने दूसरे ग्रन्थ 'उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तिया' मे उन्होने आचलिकता

१ श्री राधेश्याम कौशिक, 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास', पृष्ठ ५०।
२ गधदीप (वार्षिक), पृष्ठ २५०।
३. गधदीप (वार्षिक) १९६३, पृष्ठ २५०।
४. डा० सुरेश सिन्हा, 'हिन्दी उपन्यास . उद्भव और विकास' पृष्ठ २१-३५।

पर पृथक् से विस्तृत विचार किया है। इस ग्रन्थ मे उन्होंने आचलिक उपन्यासो का प्रारभ प्रेमचन्द-काल से माना है तथा प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा को इस प्रवृत्ति का उपन्यासकार। लेखक का यह मत भी है कि आचलिकता की प्रवृत्ति नवीन प्रवृत्तियो से तिरस्कृत होकर दब गई थी परन्तु रेणु ने उसे पुनर्जीवित किया और उनके (रेणु के) पश्चात इस परम्परा का विकास नागार्जुन (बलचनमा, रतिनाथ की चाची, बाबा बटेसरनाथ), शिवप्रसाद मिश्र रुद्र (बहती गगा) राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' (जगल के फूल), उदयशकर भट्ट (सागर लहरे और मनुष्य, लोकपरलोक) मनहर चौहान (हिरना सावरी) तथा सुरेन्द्रपाल (लोक लाज खोई) आदि से किया।'[1] श्री सुरेश सिन्हा ने बलवन्तसिंह के उपन्यासो को भी आचलिक उपन्यास माना है।[2] आश्चर्य तो इस बात का है कि श्री सिन्हा यह मानते है कि इन कई उपन्यासकारो ने रेणु के बाद इस परम्परा का विकास किया जबकि वास्तविकता यह है कि इनमे से कई उपन्यासकारो के उपन्यास रेणु के 'मैला आचल' से पूर्व ही प्रकाशित हो चुके थे। उदाहरणार्थ 'रतिनाथ की चाची' १९४८ मे, बलचनमा' १९५२ मे, 'बाबा बटेसरनाथ' १९५४ मे, 'बहती गगा' १९५२ मे तथा श्री बलवन्तसिह का 'रात चोर और चाद' १९४६ मे प्रकाशित हो चुके थे।

१९६५ मे डा० त्रिभुवनसिह के ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' का चतुर्थ सस्करण निकला। इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय मे निम्नलिखित छ आचलिक उपन्यासो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है— 'बहती गगा', 'मैला आचल', परती परिकथा', 'सागर लहरें और मनुष्य', शेष अशेष', और 'फागुन के दिन चार'। साथ ही नागार्जुन के तीन उपन्यासो तथा श्याम परमार के 'मोरझाल' का नाम भी ले लिया गया है। इस प्रकार केवल दस उपन्यासो का विवरण इस ग्रन्थ मे मिलता है। विशेष बात यह है कि इसी ग्रथ के प्रथम (१९५६), एव द्वितीय (१९५७) सस्करणो मे आचलिक प्रवृत्ति का विवरण नही है। केवल 'मैला आचल' का परिशिष्ट मे आचलिक उपन्यास के रूप मे परिचय दिया गया है।'[3] और 'बलचनमा', 'नई पौध' एव 'बाबा बटेसरनाथ' को समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास माना गया है।[4]

इसी वर्ष डा० मक्खनलाल शर्मा का 'हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा' नामक वृहत् ग्रथ प्रकाशित हुआ। बारहवें अध्याय मे लेखक ने आचलिक उपन्यासो की एक सूची दी है जिसमे 'गोदान', 'बूद और समुद्र', 'मुक्तावती', 'नेपाल

---

१ डा० सुरेश सिन्हा, 'हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तिया', पृष्ठ २२८।
२ डा० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास', पृष्ठ ५१८।
३ वही (द्वितीय सस्करण), पृष्ठ २७७।
४ वही, पृष्ठ २४७ २४८।

की वो बेटी' और 'आदित्यनाथ' भी है।

डा० कांति वर्मा का शोध-प्रबंध 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' १९६६ मे प्रकाशित हुआ। इसमे लेखिका ने "आचलिक चित्रण का प्रारभ बाबू वृन्दावनलाल वर्मा तथा शिवपूजन सहाय (देहाती दुनिया) के उपन्यासो द्वारा"[1] माना है। लेखिका ने छ आचलिक उपन्यासकारो एव उनके तेरह उपन्यासो के नाम गिनाये है—ये लेख है—नागार्जुन (छ उपन्यास), रेणु (दो उपन्यास) रागेय-राघव (दो), देवेन्द्र सत्यार्थी (ब्रह्मपुत्र), शैलेश मटियानी (हौलदार) और रामदरश मिश्र (पानी के प्राचीर)।

श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने हिन्दी के विशुद्ध आचलिक कहे जाने वाले उपन्यासो के दो प्रधान भेद किये है[2]—प्रथम, जन-जीवन-चित्रण करने वाले उपन्यास जिनमे रेणु, नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी, शिवप्रसाद मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, बलभद्र ठाकुर, रामदरश मिश्र आदि के उपन्यास आ जाते है, द्वितीय, जाति विशेष (प्राय अपरिचित और आदिम जातिया) के जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यास। इनके अतर्गत तिवारी जी ने 'सागर लहरे और मनुष्य' को रखा है। लेखक के वर्गीकरण के आधार पर तो राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का 'जगल के फूल' भी इसी द्वितीय वर्ग के अतर्गत आना चाहिय था क्योकि वह भी 'रथ के पहिये' के समान गोडो के जीवन पर ही आधारित है, परन्तु ऐसा हुआ नही है।

ऊपर के विवेचन से यह भली प्रकार प्रकट हो जाता है कि आचलिक उपन्यासो के प्रति विद्वानो की दृष्टिकोण मे पर्याप्त अन्तर है। ये सभी विद्वान यदि अलग-अलग अपने आचलिक उपन्यासो की सूची बनाए तो सभी सूचियो मे पर्याप्त भिन्नता होगी। फिर भी कतिपय उपन्यास सभी सूचियो मे स्थान पा जायेंगे जैसे रेणु या नागार्जुन के उपन्यास। सूचियो मे भिन्नता का मुख्य कारण आचलिक उपन्यासो की परिभाषा पर विद्वानो मे मतैक्य न होना है। इसीलिए डा० सुरेश सिन्हा आचलिक उपन्यास की परिभाषा को एक विवाद-पूर्ण प्रश्न मानते है और उसका उत्तर देना खतरे से खाली नही समझते।[3] आचलिक उपन्यासो की परिभाषा कठिन अवश्य है, असभव नहीं। यह सत्य है कि एक वाक्य मे उसकी परिभाषा नही दी जा सकती। एक वाक्य मे तो उपन्यास की परिभाषा भी नही दी जा सकती फिर भी जो विधा उपन्यास के नाम से जानी जाती है उससे सभी परिचित है। जो भी हो, आचलिक उपन्यास के सबध मे विद्वानो के मत भिन्न हैं। बहुत से विद्वानो ने स्थान विशेष से सबधित उपन्यासो को भी आचलिक मान

१ डा० कांति वर्मा, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ १८६।

२ श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 'आचलिक उपन्यास . स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि', 'आलोचना' ३६, (अप्रैल १९६६)।

३ डा० सुरेश सिन्हा, 'उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियां', पृष्ठ २२६।

लिया है। इसीलिए 'बूद और समुद्र' की गणना भी आचलिक उपन्यासों मे कर ली जाती है। यह तो हुई विद्वानो द्वारा आचलिक वर्ग मे रखे जाने वाले उपन्यासो की स्थिति परन्तु इन उपन्यासो के अतिरिक्त कतिपय ऐसे उपन्यास भी शेष रहते है जिनकी चर्चा उपर्युक्त सदर्भ मे नही हुई है परन्तु जो आचलिक है या माने जाते हैं। इस कोटि मे वे उपन्यास भी सम्मिलित है जिनका प्रकाशन पिछले दो-तीन वर्षो मे ही हुआ है और अभी जिन पर फुटकर रूप मे पत्र-पत्रिकाओ मे ही विचार हुआ है। इस प्रकार के उपन्यासो पर भी विचार कर लेना अध्ययन की पूर्णता के लिए आवश्यक है। पूर्व के अध्याय मे आचलिक उपन्यासो की प्रवृत्ति पर विस्तार म विचार किया गया है, उसी के आधार पर जब हम इन सभी जाने अथवा माने जाने वाले आचलिक उपन्यासो पर विचार करते है तो उन्हे स्पष्टत दो वर्गो मे बाट सकते है—अनाचलिक और आचलिक। अनाचलिक वर्ग के अन्तर्गत निम्न-लिखित प्रमुख उपन्यास रखे जा सकते है—

> विषाद मठ (रागेयराघव), गोदान (प्रेमचन्द), बूद और समुद्र (अमृतलाल नागर), बोरीवली मे बारीबदर (शैलेश मटियानी), मैत्रेय (गोविन्दवल्लभ पत), भासी की रानी एव मृगनयनी (वृन्दावनलाल वर्मा), फागुन के दिन चार (उग्र), काले कोस एव रावी पार (बलवत-सिंह), आधा गाव (राही मासूम रज़ा), राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल) तथा यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के उपन्यास।

इन उपन्यासो को अनाचलिक मानने के कारणो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'विषाद मठ' और 'गोदान' यथार्थवादी उपन्यास तो है, आचलिक नही। इसमे ग्राम्य-जीवन का चित्रण है परन्तु इनकी प्रवृत्ति सामाजिक है। इनकी समस्याए भी अचल विशेष की न होकर सामान्य जीवन की सामाजिक-आर्थिक समस्याए ही है। 'बूद और समुद्र' को आचलिक कहने का आधार यह धारणा है कि अचल एक गाव भी हो सकता है और एक नगर का मोहल्ला भी। इस सबध म हम अपनी मान्यता 'भूमिका' मे स्पष्ट कर चुके है। राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ के सार्वदेशिक रूप को अभिव्यक्ति देने वाले इस उपन्यास को आचलिक मानन मे हमे सकोच होता है।

'बोरीवली से बोरीबदर' मे महानगरी बम्बई के जीवन की समस्याओ को उद्घाटित किया गया है। यह जीवन आचलिक जीवन से सबधित पवित्रता एव सरलता से भिन्न, विषमता एव गदगी का जीवन है अत उसके निरूपण को आचलिक मानना हमे स्वीकार्य नही।

'मैत्रेय' को श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' ने आचलिक उपन्यास माना है यद्यपि उपन्यास के प्रकाशकीय वक्तव्य मे तिब्बत की पृष्ठ-भूमि पर आधारित एव

ने अतीत इतिहास को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है और 'चन्द्रजी' ने अपेक्षाकृत उस वर्तमान इतिहास को जिसकी घटनाएं अभी लोगों के मस्तिष्क में ताजी हैं और जिनके पात्रों के संबंधी जीवित हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक नाम देने का अर्थ होता प्राचीन सामन्ती घरानों पर आक्षेप और उनके रहस्यों का उद्‌घाटन। यह कार्य जहां कलाकार के दायित्व के प्रतिकूल होता वहां कलाकार के लिए विपदाजनक भी क्योंकि सामन्तों के अधिकार भले ही छिन गए हों, उनका प्रभाव एवं उनकी शक्ति अभी भी समाप्त नहीं हुई है। अतः उनके जीवन का इस प्रकार चित्रण उस प्रति-हिंसा को जन्म देता जो कलाकार के जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।[१]

चन्द्रजी एवं वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि जहां वर्माजी के उपन्यासों में ऐतिहासिकता का आग्रह प्रमुख हो गया है वहां चन्द्रजी के उपन्यासों में सामाजिकता का आग्रह प्रमुख है। वर्माजी अपने चित्रण में बहुत कुछ तटस्थ रहे हैं जबकि 'चन्द्रजी' अपनी समाजवादी मान्यताओं तथा मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण पूर्ण निष्पक्ष नहीं रह पाए हैं और उनके उपन्यास सामन्तवाद के विकृत पक्ष का चित्रण करने के उद्देश्य से लिखे गए प्रतीत होते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्थानों के नाम बदले होने से प्रकृति एवं परिवेश के चित्रों के अभाव से और राजस्थानी जीवन के राजस्थान में सर्वत्र लगभग एक जैसा होने से उपन्यासों में जीवन उभरता है वह प्रादेशिक ही लगता है, आंचलिक नहीं। इस प्रकार विशिष्ट जीवन-प्रणाली तो उभरती है परन्तु अंचल कहीं भी नहीं उभर पाता। यथार्थ जीवन में आंचलिकता की गंध भर आ पाती है, रूप नहीं। ज्ञानोदय के पुस्तक समीक्षक ने यही बात सावित्री के संबंध में इस प्रकार कही है—

सावित्री उपन्यास का कथात्मक पैटर्न राजस्थानी आंचलिकता की गंध लिए हुए है राजस्थानी (राजपूत कलम) पेंण्टिंग की वीर्यवत्ता और यथार्थ मूलकता जैसे औपन्यासिक कला में दहक रही है।[२]

श्री शिवप्रसाद सिंह ने लगभग ऐसी ही बात किंचित विस्तार से 'कल्पना' (मासिक) में चन्द्रजी के एक अन्य उपन्यास 'दीया जला दीया बुझा' की समीक्षा करते हुए कही है। उनके मतानुसार इसकी विशेषता है स्थानीय रंग (लोकल कलर)। इस प्रकार की सामन्ती वस्तु में भी लेखक ने राजस्थानी गांव का जो चित्रण किया है वह सजीव और आकर्षक है। बातचीत, पर्व-उत्सव, खेल, तमाशे, सभी का वर्णन लेखक ने सफलता से किया है।

---

१ पात्रों एवं स्थानों के नाम बदल देने के उपरान्त भी 'चन्द्रजी' को धमकियां मिली हैं।

२ ज्ञानोदय (अगस्त १९६४), पृष्ठ ६८।

सभी दृष्टियों से चन्द्रजी की कथा पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके उपन्यासों में भी वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों जैसी ही प्रादेशिकता है। लोक-रंग अवश्य उभरे हैं परन्तु वे राजस्थानी जीवन का ही उद्घाटित करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वर्माजी के उपन्यासों के लोक-रंग बुन्देलखण्डी जन-जीवन को।

इसी प्रकार की प्रादेशिकता श्री बलवन्तसिंह के उपन्यासों में भी प्राप्त होती है जिन्हें डा० सुरेश सिन्हा ने आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा है। उनके उपन्यास 'रात चोर और चाँद' (१९५६) के सम्बन्ध में डा० सिन्हा का मत है कि यह हिन्दी का सही अर्थों में प्रथम सफल आंचलिक उपन्यास है जिसमें पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।[1]

विद्वान् लेखक ने श्री बलवन्तसिंह को मध्यवर्गीय जीवन के सफल चित्रण के कारण आंचलिक उपन्यासकार माना है परन्तु मध्यवर्गीय जीवन आंचलिक हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि इस दृष्टि से तो सभी सामाजिक उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की कोटि में आ बैठेंगे। श्री बलवन्तसिंह के उपन्यासों पर समग्र रूप से विचार करने के उपरान्त उन्हें आंचलिक मानना, हमारी दृष्टि में ठीक नहीं।

श्री उग्र का 'फागुन के दिन चार' (१९६०) तो किसी भी दृष्टि से आंचलिक उपन्यास नहीं है। लेखक ने अपनी भूमिका 'मुखड़ा' में लिखा है 'फागुन के दिन चार में मौसम-रंगीन बम्बई नगरी की फिल्मी दुनिया की एक सरजना कहानी है।"

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी इसी पुस्तक में अपनी भूमिका 'हिन्दी कथा-साहित्य में' में उग्रजी को यथार्थवादी कलाकार मानते हुए उनकी अश्लीलता को इसलिए स्वीकार्य माना है कि वह साध्य नहीं, साधन है। अन्त में श्री बख्शी जी ने उग्रजी की प्रवृत्ति का परिचय भी दे दिया है—"आधुनिक कथा साहित्य में सबसे अधिक विक्षोभ की भावना उत्पन्न की उग्र जी ने।" बख्शी जी के इस कथन को उग्रजी की प्रशंसा मानने में तो हमें आपत्ति नहीं परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले तथा सिने-संसार से सम्बन्धित उपन्यास को जिसमें व्यभिचारों की कथा हो, हम आंचलिक स्वीकार करने को तैयार नहीं। न तो आंचलिक उपन्यास की प्रवृत्ति ही ऐसी अति-यथार्थवादी होती है और न वह विक्षोभ की भावना ही उत्पन्न करता है।

श्री राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' (१९६६) की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। यह उपन्यास उत्तर-प्रदेश के एक नगर गाज़ीपुर से लगभग ग्यारह मील दूर बसे गाँव गंगौली के शिया समाज की कथा कहता है। प्रकाशक ने इसे स्पष्ट शब्दों में आंचलिक उपन्यास कहा है—

१ डॉ० सुरेश सिन्हा, 'हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास,' पृष्ठ ५१८।

'आंचलिक उपन्यास हिन्दी में बहुत से लिखे गए हैं'''लेकिन 'आधा गांव' पहला उपन्यास है जिसमें ग्रामीण जीवन अपने भरे-पूरे रूप में पूरी सच्चाई, तीव्रता और बेबाकी के साथ सामने आता है।"[1]

परन्तु दूसरे ही पैरे में बिल्कुल भिन्न बात कही गई है—"शिया मुसलमानों के जीवन पर शायद कोई उपन्यास अभी तक हिन्दी उर्दू में नहीं लिखा गया। इस दृष्टि से 'आधा गांव' हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है'''

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है—सयमहीनता। इसीलिए यह पहला जीवन्त आंचलिक उपन्यास है। इसके सभी पात्र बिना लगाम के हैं और उनकी अभिव्यक्ति सहज, सटीक और दोटूक, गालियों की हद तक''।"[2]

प्रकाशक के इस प्रशस्तिगान में इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये कि केवल पात्र ही बिना लगाम के नहीं हैं, उपन्यासकार ने लेखिनी का प्रयोग भी निर्बन्ध रूप में किया है तथा पात्रों की अभिव्यक्ति में ही गालियां नहीं हैं उपन्यासकार के विवरण एवं वर्णन भी शालीनता की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। यह स्थिति आंचलिकता के अनुरूप नहीं क्योंकि प्रथम तो शिया मुसलमानों के जीवन का चित्रण चाहे वह कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो मात्र साम्प्रदायिक जीवन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, दूसरे प्रकाशक का यह कथन कि इसमें ग्रामीण जीवन पूरी सच्चाई, तीव्रता और बेबाकी के साथ आया है, पूर्णतः बेमानी है। शिया समाज के जीवन का चित्रण गांव की जिन्दगी को पूर्णतः अलग रखकर किया गया है। उपन्यास में न कहीं गांव उभरता है और न ग्राम्य-जीवन—उभरता भी होता तो ग्राम्य-जीवन आंचलिक हो ही यह आवश्यक नहीं। एक सम्प्रदाय विशेष के जीवन-चित्रण को सिर्फ इसीलिए ग्रामीण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह गांव में रहता है। फिर प्रकाशक केवल लेखक के रवैये की बात ही नहीं कहता जिन्दगी के रवैये की बात भी कहता है और उपन्यास को इसी जिन्दगी के रवैये की सही तस्वीर सामने रखने वाला उपन्यास मानता है।[3] क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि वह जिन्दगी अशोभनीय स्थितियों की जिन्दगी है? यदि वह ऐसी ही है तो कम से कम आंचलिक उपन्यास का उपयुक्त विषय नहीं हो सकती।

जहां तक भाषा का प्रश्न है, प्रकाशक हेनरी मिलर की भाषा की बात कहकर श्री राही की भाषा के अश्लीलत्व को क्षम्य ही नहीं स्तुत्य भी मानता है।

---

१ 'आधा गांव,' बाह्य आवरण (पृष्ठ भाग)
२ वही।
३ 'आधा गांव' प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ठ ७।

भाषा और बोली के अंतर को प्रकाशक समझता है।[1] फिर भी बोली को भाषा मानकर उसके प्रयोग को वह इस कारण स्वीकार करता है कि "जिस जिन्दगी को इस उपन्यास में उठाया गया है वह जितनी स्पष्ट, दो टूक और बेबाक है, वह इतनी ही सच्ची और खरी भाषा की माँग भी करती है और इस माँग को पहिली बार एक जिम्मेदार लेखक ने हिन्दी में पूरा किया है।"[2] यह कोई तर्क नहीं कि जिस जिन्दगी को उपन्यास में उठाया जाय उसकी स्पष्ट और खरी भाषा (?) को भी वैसा का वैसा ही उतार दिया जाय। गालियाँ तो किसी भी जिन्दगी का सामान्य अंग होती हैं फिर उन्हें एक विशेष जिन्दगी के संदर्भ में ही अहमियत देने का क्या मतलब? खुली गालियों का प्रयोग वास्तविकता हो सकती है कलात्मकता नहीं। उपन्यास कलाकृति होता है जीवन का नग्न चित्र नहीं इसलिए अश्लील भाषा का प्रयोग, भले ही वह लोक-भाषा ही क्यों न हो क्षम्य नहीं माना जा सकता। संक्षेप में 'आधा गाँव' में भोजपुरी भाषा का अत्यंत प्रभावशाली रूप प्रकट होने पर भी उसे आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता।

'राग दरबारी' (१९६८) में श्रीलाल शुक्ल ने जिस ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है वह स्थान विशेष से संबद्ध होते हुए भी किसी स्थान विशेष का नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिवपालगंज के माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता को ही सहज निर्ममता के साथ अनावृत किया गया है। इस उपन्यास में चित्रित जीवन की समस्याएँ लोक जीवन की समस्याएँ न होकर प्रगतिशील जीवन की समस्याएँ हैं और इस दृष्टि से 'वैद्यजी' वर्तमान नेतावर्ग के अत्यंत सुन्दर प्रतिनिधि बन बैठे हैं। इस उपन्यास का स्वर अत्यंत सहज और प्रभावशाली होते हुए भी व्यंग्यात्मक है। संक्षेप में यह एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे एक कस्बे की जिन्दगी, उस जिन्दगी का दस्तावेज है जो पिछले बाईस वर्षों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। हम प्रकाशक के इस कथन से पूर्णतः सहमत हैं कि "'राग दरबारी' का स्वर 'गोदान' जैसे एपिक या 'मैला आंचल' जैसे लोकधर्मी आंचलिक उपन्यासों से अलग है।"[3]

उपर्युक्त उपन्यासों की अनांचलिकता पर्याप्त स्पष्ट थी, परन्तु कुछ ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें विशेष प्रकार के जीवन का चित्रण होने के कारण ही उन्हें आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रख दिया जाता है। ऐसा करने में अंचल शब्द का

---

१ "बोली भाषा की जननी होती है। भाषा छन और निखर कर आती है। बोलियों में न जाने कितने मुहावरे, सूक्तियाँ, गालियाँ और शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें भाषा में नहीं लिया जाता।'—'आधा गाँव', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ठ ७।

२ वही, पृष्ठ ८।

३. 'राग दरबारी'—बाह्य आवरण (पृष्ठ भाग)।

अत्यन्त सतही अर्थ लगाया जाता है—स्थान-विशेष अथवा जीवन विशेष। आचलिकता की भावना के साथ जो विशेषताए सबद्ध होती है उन्हे अनदेखा कर देने का परिणाम यह होता है कि निम्न उपन्यासो को भी आचलिक मान लिया जाता है—

"गगा मैया (भैरवप्रसाद गुप्त), त्रियुगा (रघुवरदयाल सिह), कोहबर की शर्त (केशवप्रसाद), बया का घोसला और साप (लक्ष्मीनारायणलाल), दीर्घतपा (रेणु) उग्रतारा (नागार्जुन) अविरल आसू (महन्त धनराज पुरी), पत्थर अल पत्थर (अश्क), दूध-गाछ (देवेन्द्र सत्यार्थी), सोया हुआ जल (सर्वेश्वरदयाल), शालवना का द्वीप (शानी), बबूल (विवेकीराय) इमरतिया (नागार्जुन), बहता पानी रमता जोगी (ओमप्रकाश निर्मल)।

'गगा मैया' मे ग्रामीण जीवन की कथा अवश्य है परन्तु उसका कथानक भिन्न भाव-भूमि पर आधारित है। पात्र भी आचलिक गुणो से रहित हैं। दीयर के विवरणों मे आचलिकता उत्पन्न करने की क्षमता नही है। हा, वातावरण के निर्माण मे वे अवश्य सफल है। सारे उपन्यास पर पडा हुआ भावना का मोटा आवरण भिन्न उद्देश्य की ओर ही सकेत करता है।

लगभग यही स्थिति श्री रघुवरदयाल सिह के उपन्यास 'त्रियुगा' (१६६७) की है जो तिरहुत जिले की त्रियुगा नाम की नदी के इर्द-गिर्द की कथा कहता है। इसमें प्रस्तुत समस्या एक आचलिक समस्या है। नदी कभी सोना देती है और कभी बालू छोड जाती है। यही वर्षो से इसका कार्य रहा है और उसी के अनुरूप लोग दस दस सालो तक अमीर या गरीब बने रहते है पर जमीन छोडकर कोई नही जाता। इस समस्यामूलक कथा का निर्वाह अत्यत अनाचलिक ढग से हुआ है। प्रेम-प्रसगो की सयोजना मे उपन्यासकार ने अपना कौशल प्रकट किया है और उन्ही के माध्यम से प्रगतिवादी जीवन की अवतारणा की है। उपन्यास की समाप्ति एक समय के प्रेमी युगल (अनपढ देहातिन श्यामा और पढे-लिखे युवक सुरेश) के मिलन से होती है। अपने समग्र रूप मे यह उपन्यास सामाजिक ही है आचलिक नही।

'कोहबर की शर्त' (१६६५) का कथा-क्षेत्र अवश्य आचलिक उपन्यास के अनुकूल है परन्तु कथा का आग्रह मनोवैज्ञानिक है। पारिवारिक जीवन तथा ग्रामीण वातावरण के चित्र अवश्य उभरे है और भाषा भी अत्यत स्वाभाविक एव प्रभावशाली है परन्तु ये सभी मिल कर भी आचलिकता की सफल सर्जना नही कर पाते।

"बया का घोसला और साप' सामन्ती शोषण एव अत्याचार की कथा कहता है। न तो इसके पात्र ही आचलिक है और न ही घटनाए ही। जिस समस्या को इसमें चित्रित किया गया है वह इसे मात्र सामाजिक उपन्यास का रूप प्रदान करती है।

लगभग यही स्थिति 'अविरल आसू' (१६५२) की है। लोक-जीवन, लोक-मान्यताओं, रीति रिवाजों, वातावरण आदि के चित्रण के स्थान पर नीलहे स्टील के अत्याचार एव शोषण की कथा है। उपन्यास की भूमिका इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है—

'अविरल आसू' मानव-समाज के हास-अश्रुमय आनन ज्यादा आसू थोडा हास—के वृहत् इतिहास का सक्षिप्त पर प्रखर, देश-काल-सीमित पर व्यापक ऐतिहासिक यथार्थ, एव सत्य को कलात्मक रूप देने का प्रशसनीय प्रयास है। उसमे मानव की उत्पीडित, लाछित एव अपमानित मर्मस्पर्शी अवस्था के हृदय-विदारक चित्र अजस्र अश्रुधारा मे अकित है।[१]

'उग्रतारा' (१६६३) जेल-जीवन का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करता है। परन्तु जेल का वातावरण आचलिक नही माना जा सकता। उग्रतारा के जेल से छूट जाने के बाद की कथा मे माधुर्य है परन्तु वह पात्रो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही अधिक करती है आचलिकता की अवतारणा नही।

श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' सराय की एक रात मात्र की कथा कहता है। इसमे विभिन्न पात्रो की कथाओ के फ्लश-चित्र प्रस्तुत किये गये है। लेखक उस मानवीय धरातल की ओर सकेत करता है जो हिन्दी के नये लेखन मे उभर रहा है—"बाह्य परिस्थितियो को बदलने से काम नही चल सकता। आदमी को भीतर से भी बदलना पडेगा।"

श्री रेणु का 'दीर्घतपा' भी इसी प्रकार का विशिष्ट सीमित क्षेत्र—वर्किंग वीमेन्स हास्टल—का सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करता है परन्तु वह भी आचलिक नही है। रेणु ने स्वय ही उसकी आचलिकता पर सदेह प्रकट किया है—

"यह उपन्यास ···नही, आचलिक नही···हा, आचलिक ही · किन्तु · अर्थात् यह उपन्यास, उपन्यास है।"[२] उपन्यास की मुख्य समस्या है सम्भ्रात लगने वाले वर्ग मे फैली अनीति एव भ्रष्टाचार की, जिसका लक्ष्य बनती हैं वर्किंग वीमेन्स होस्टल मे रहने वाली विभिन्न वर्गों प्रवृत्तियो एव प्रान्तो की काम करने वाली नारिया।

'पत्थर अल पत्थर' भिन्न प्रकार का उपन्यास है। इसे अश्क जी के एक मित्र ने 'ट्रेवलाग' बताया था[३] यद्यपि अश्क जी इसे 'ट्रेवलाग' नही मानते। इसमे अचल की अपेक्षा व्यक्ति एव उसकी भौतिक असमर्थता ही उभर कर आती है। गुलमर्ग, खिलनमर्ग या 'फिरोजन लेक' आदि के कुछ विवरण हैं परन्तु वे तो केवल यात्राओं के स्थान मात्र हैं। कही भी कश्मीर का परिवेश प्रामुख्य प्राप्त नही कर

१ महन्त धनराजपुरी, अविरल आसू' (भूमिका), पृष्ठ ३।
२. श्री फणीश्वरनाथ रेणु, दीर्घतपा' (भूमिका), पृष्ठ 'क'।
३. श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, 'पत्थर अल पत्थर' (लेखक की ओर से), पृष्ठ ६।

पाया है। श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने अपनी भूमिका मे यही बात इस प्रकार कही है—

"अश्क ने अपने इस लघु-उपन्यास मे पहली बार निम्न मध्यवर्ग को नही, निम्नवर्ग के पात्र को लिया है। 'पत्थर अल पत्थर' कश्मीर के एक घोडावान की दर्द-भरी कहानी है। टगमर्ग से लेकर अल पत्थर की जमी हुई भील तक के पथ की पृष्ठ-भूमि मे अश्क ने घोडावान हसनदीन को चित्रित किया है हसनदीन की जिन्दगी की सारी ट्रेजिडी साकार होकर हमारे सामने आ खडी होती है।"[१]

यह स्वीकार करन मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि स्थानीय रग के कुछ हल्के 'शेड्स' इसमे मिल जाते है परन्तु आचलिकता, जो आत्मा की वस्तु होनी है, इसमे नही है।

'दूध गाछ' के प्रारभिक भाग मे प्रादेशिक रग बहुत गहरा है। केरल की शस्य-श्यामला भूमि, समुद्र, वृक्ष, मदिर, पर्व-त्योहार, लोक-कला आदि के उसमे सुन्दर विवरण हैं, परन्तु यही उसकी सीमा भी है। श्री विश्वम्भर मानव ने तो इसकी औपन्यासिकता मे भी सदेह व्यक्त किया है—

"इस कृति को सत्यार्थी जी ने उत्साह मे आकर महाकाव्य कहा है "यह कृति तो श्रेष्ठ उपन्यासो की कोटि मे भी नही आती। इसका ढाचा अवश्य उपन्यासों का है, पर औपन्यासिक रस इसमे कहा है?"[२]

श्री विश्वम्भर मानव के अनुसार इसके "कथानक मे सबसे खटकने वाली बात यह है कि लेखक ने कल्पना और सत्य का बेढगा मिश्रण कर दिया है।"[३] एक ओर गोविन्दन, शखधरन, नीलू, भूरा आदि काल्पनिक पात्र हैं, और नरगिस, अशोक कुमार, जद्दनबाई आदि वास्तविक पात्र है। नरगिस और सुनीलदत्त के विवाह तथा केरल की साम्यवादी सरकार की चर्चा भी है।

'कल्पना' के पुस्तक-समीक्षाकार ने तो इसी उपन्यास को लक्ष्य कर यह सलाह भी दे दी है, "देवेन्द्र सत्यार्थी बडे प्यारे आदमी है। लोक-साहित्य का सकलन करके उन्होंने साहित्य और सस्कृति की बडी सेवा की है। लेकिन अगर वे अपने को वही तक रखें तो और भी ज्यादा प्यारे लगें।"[४]

गोडो के जीवन पर 'जगल के फूल' जैसा सुन्दर आचलिक उपन्यास लिखा गया है परन्तु श्री शानी की कृति 'शालवनों का द्वीप' (१९६७) बस्तर के घोर आदिवासी भू-भाग अबूझमाड और अबूझमाड के ओरछा नामक छोटे से गाव मे निवास करने वाले मड़िया गोडो की जीवन पद्धति, रीति-रिवाजो,

१. पत्थर अल पत्थर, 'अश्क के उपन्यास और पत्थर अल पत्थर' (भूमिका) पृ० २५।
२. सम्मेलन पत्रिका (आश्विन मार्ग शीर्षक शक् १८८१ भाग ४५), पृ० ११०।
३. वही।
४. 'कल्पना' (दिसम्बर १९५८), पृ० १२।

धार्मिक मान्यताओं आदि से सम्बद्ध होने के उपरांत भी आंचलिक उपन्यास नहीं बन पाया है क्योंकि इसमें कथा जैसी कोई कथा नहीं है। एडवर्ड जे० जे० एसा-सिएट प्रोफेसर आफ एन्थ्रापालॉजी कैलिफोर्निया स्टेट कालेज हावर्ड (अमेरिका) के साथ ओरछा में बिताये गए डेढ़ वर्ष के जीवन का लेखक का अपना कथात्मक अनुभव इसमें है। लेखक स्वयं भी एक पात्र है और उसके विवरण एवं वर्णन अत्यंत संवेदनापूर्ण हैं परन्तु भाषा और शैली पूर्णतः आंचलिक है। अपने विशिष्ट रूप में यह कृति मानव जाति के एक भाग का समाजशास्त्रीय अध्ययन मात्र बनकर रह गई है।

इसी प्रकार श्री विवेकीराय के उपन्यास 'बबूल' (१९६७) का भी साहित्यिक रूप स्पष्ट नहीं है। स्वयं प्रकाशक को इसकी शैली में कहानी, डायरी, निबंध, रेखा चित्र और डाक्यूमेन्ट्री फिल्म का मज़ा मिला है[1] परन्तु सत्य तो यह है इसमें किसी भी साहित्यिक रूप का सही आनन्द नहीं है। महेसवा चमार की रामकहानी उकेरने के लिए श्री चित्रगुप्त महाराज के निजी सहायक प्रबुद्धशील पच्चीस वर्ष के लिए धरती पर स्कूल मास्टर बनकर आये और उन्होंने अपनी डायरी के छब्बीस पृष्ठों में जो कथा लिखी वही उपन्यास के छब्बीस अध्यायों की भी विषय-वस्तु है। प्रकाशक के मतानुसार, "इसमें ग्राम्य-जीवन के सर्वथा अस्पर्शित आयाम का अनावरण हुआ है"[2] पर सच तो यह है कि इसमें ग्राम-जीवन का नहीं एक ग्रामीण मज़दूर के जीवन का चित्रण हुआ है और यह जीवन सम्पूर्ण देश में इसी रूप में दृष्टिगत होता है। जब महेसवा मज़दूर है तो उसके चमार होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उपन्यास उसके चमार के रूप का दिग्दर्शन नहीं करता। यदि इसमें अंकित ईति-भीति के रोमांचक दृश्यों और सहज ग्रामीण प्रेम के आह्लादक प्रसंगों को महत्त्वपूर्ण भी मान लिया जाय तो भी वे आंचलिकता की परिधि में नहीं आते। उपन्यास की भाषा पर अवश्य आंचलिकता का गहरा रंग है परन्तु उसकी शैली आंचलिकता के सर्वथा अनुपयुक्त है। संक्षेप में यह एक प्रभावशील बोझिल रचना है जिसमें न भावों की गहराई है न विचारों की ऊंचाई।

साधु-सन्तों, ठगों और अपराधियों के जीवन पर आधारित होने के कारण श्री नागार्जुन के उपन्यास 'इमरतिया' (१९६८) को भी आंचलिक उपन्यास मान लिया जाता है परन्तु उसमें जिस जीवन का चित्रण हुआ है वह आंचलिक न होकर पाखण्ड और भ्रष्टाचार का जीवन है। 'इमरतिया' साधु-सन्तों, ठगों और अपराधियों के दुश्चक्र में फंसी एक भावुक युवती की कहानी है जो आध्यात्म और प्रेम के विशिष्ट पहलुओं पर प्रकाश डालती है। 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर-

१. 'बबूल', बाह्य आवरण (पृ० भाग)।
२. वही।

नाथ' और 'वरुण के बेटे' के लेखक का यह बिल्कुल भिन्न विषय पर लिखा गया ऐसा उपन्यास है जिसने इसके लेखक की जानी-पहिचानी 'इमेज' को तोड डाला है। लेखक का एक और उपन्यास इसी कथानक पर और इसी शिल्प में 'जमनिया के बाबा' के नाम से भी प्रकाशित हुआ है। 'इमरतिया' से वह केवल इसी बात में भिन्न है कि उसकी कथाओं का क्रम भिन्न है। दोनों ही उपन्यासों का विषय आंचलिकता की परिधि में आता था परन्तु कथा की प्रकृति और शैली ने उन्हें मात्र सामाजिक उपन्यास बनाकर छोड दिया है।

श्री ओमप्रकाश निर्मल का 'बहता पानी रमता जोगी' (१६६६) भी मठों के जीवन पर आधारित है परन्तु इसकी प्रकृति 'इमरतिया' से पूर्णत भिन्न है। यद्यपि लेखक ने अपनी भूमिका 'दो शब्द' में इसमें "गावों के जन-जीवन से सबधित वाकयात"[1] होने की बात कही है पर ऐसा कुछ है नहीं। मठों का चलना गाव और गाव वालों के सहयोग पर निर्भर होता है इसलिए गाव के जीवन के कुछ 'वाकयात' इसमें अवश्य आ गए है परन्तु यह ग्राम्य जीवन का उपन्यास नहीं बन सका है। मठों के जीवन में अवश्य कुछ ऐसी विशिष्टता होती है जिसे किसी सीमा तक आंचलिक कहा जा सकता है परन्तु यह आंचलिकता विभिन्न तत्त्वों के सफल निर्वाह पर निर्भर होती है। यह सफल निर्वाह इस उपन्यास में नहीं हो पाया है।

विभिन्न विद्वानो द्वारा आंचलिक उपन्यासों की कोटि में रखे जाने वाले उपन्यासों में से अनाचलिक उपन्यासों को अलग कर देने के बाद ऐसे उपन्यास बच रहते है जिन्हे आंचलिक उपन्यास माना जा सकता है परन्तु इन सभी को एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इसके दो वर्ग बन जाते है—अर्द्ध आंचलिक और आंचलिक। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार यह है कि ये सभी उपन्यास आंचलिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। आंचलिक उपन्यासकार एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलता है इसीलिए आंचलिक तत्त्वों का सचेतन प्रयोग उसके उपन्यासों में मिल जाता है। परन्तु कई बार अनजाने ही कुछ आंचलिक तत्त्वों का समन्वय किसी उपन्यास में हो जाता है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं क्योंकि उपन्यासकार कई बार स्थान विशेष के रीति-रिवाजों, बोलियों एव जीवन पद्धति से विशेष रूप से परिचित एव प्रभावित होता है अथवा उसके कल्पना लोक में किसी स्थान या जीवन विशेष से सबधित कोई कथा-बीज विद्यमान होता है। परिणामस्वरूप अनजाने ही, वह आंचलिक तत्त्वों का समावेश अपने उपन्यासों में कर जाता है। ऐसा उपन्यासकार सामान्य औपन्यासिक तत्त्वों को ही रग विशेष में रजित कर अथवा विशेष ढग से काट छाट कर उपन्यास रूप में रख देता है। इसीलिए आंचलिकता के रूप किसी भी उपन्यास में मिल सकते है परन्तु

१ 'बहता पानी रमता जोगी', 'दो शब्द' (भूमिका)।

उपन्यास तब आचलिक नही होता जब तक ये सभी तत्त्व घनीभूत होकर विशिष्ट रूप मे सयोजित न हो। अत किसी आचलिक तत्त्व का किसी उपन्यास मे प्रयोग देखकर ही उसे आचलिक मान लेना भ्रमपूर्ण हो सकता है।

फिर भी यदि कुछ आचलिक तत्त्वो का प्रभावशाली प्रयोग किसी उपन्यास मे दिखाई देता है तो उसे अन्य उपन्यासो से भिन्न करने के लिए अर्द्ध आचलिक उपन्यास माना जा सकता है। ऐसे उपन्यासो पर भी विचार कर लेना चाहिए क्योंकि वे आचलिक उपन्यासो की ही एक स्थिति के सूचक है। अर्द्ध आचलिक उपन्यासो के अतिरिक्त जो उपन्यास बच रहते हैं, उन्हे विशुद्ध आचलिक उपन्यासो की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। पहिले इन्ही पर विचार कर लें। इस विशुद्धता की भी सीमा है जिसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मुख्य बात तो यह है कि किसी भी औपन्यासिक विधा को दृढ सीमा मे नही बाधा जा सकता क्योकि कलाकार नियमो मे बधकर नही चलना चाहता। इसीलिए शुद्ध आचलिक उपन्यासो के वर्गीकरण मे दृष्टिकोण को तनिक उदार रखना पडेगा। अत इस वर्गीकरण मे दो प्रकार के उपन्यासो को सम्मिलित किया जायेगा। प्रथम वे जो आचलिक तत्त्वो की सयोजना द्वारा निर्विवाद रूप से आचलिक मान लिये गए है जैसे 'मैला आचल', 'परती परिकथा', 'जगल के फूल', 'कब तक पुकारू', आदि, द्वितीय वे जिनका समग्र प्रभाव आचलिक होता है जैसे 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन', 'ब्रह्मपुत्र', 'हिरना सावरी' आदि। इन दूसरे प्रकार के उपन्यासो को शुद्ध आचलिक मान लेने का सबसे बडा कारण यह है कि आचलिक उपन्यास एक कलाकृति होता है जिसकी सफलता-असफलता उसके द्वारा पडने वाले प्रभाव पर जितनी निर्भर होती है, नियमो या तत्त्वो पर उतनी नही। इस प्रकार की मान्यता से कोई हानि होने की सभावना भी नही है क्योंकि शिल्प-विधि के अन्तर्गत ऐसे उपन्यासो की सीमाओ और अभावो की विवेचना भी हो जायेगी।

इस सीमा-निर्धारण के उपरात शुद्ध आचलिक उपन्यासो के वर्गीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। विषय-वस्तु के आधार पर शुद्ध आचलिक उपन्यास दो प्रकार के होते हैं—प्रथम, जन-जीवन से सबधित, द्वितीय, जन-जातियो से सबधित। श्री विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने इन्ही को अचल-विशेष का चित्रण करने वाला और जाति-विशेष (प्राय अपरिचित और आदिम जातियो) का जीवन-चित्रण करने वाला कहा है।[1]

प्रथम वर्ग के अतर्गत निम्नलिखित उपन्यास रखे जा सकते हैं—

रेणु—मैला आचल, परती परिकथा, जुलूस।

नागार्जुन—रतिनाथ की चाची, नई पौध, दुखमोचन।

१. श्री विश्वनाथप्रसाद तिवारी, 'आचलिक उपन्यास : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि', 'आलोचना' ३६, अप्रैल १९६६।

उदयशंकर भट्ट—लोक-परलोक।
रांगेयराघव—काका।
शैलेश मटियानी—हौलदार चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी।
देवेन्द्र सत्यार्थी—ब्रह्मपुत्र।
रामदरश मिश्र—पानी के प्राचीर।
मनहर चौहान—हिरना सावरी।
आनन्द प्रकाश जैन—आठवी भावर।
शिवप्रसाद सिंह—अलग-अलग वैतरणी।

'रेणु' का पहिला उपन्यास 'मैला आंचल' १९५४ मे प्रकाशित हुआ। इसी ने आंचलिक उपन्यास-विधा के नामकरण का आधार भी प्रस्तुत किया। उपन्यास का कथांचल है बिहार राज्य के पूर्णिया जिले का मेरीगंज गांव। उपन्यासकार के विवरण से प्रारंभ मे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कथानक का प्रारंभ १९४६ से होता है।[1] पहिला खण्ड अगस्त १९४७ तक समाप्त हो जाता है। दूसरा खण्ड अप्रैल १९४८ तक चलता है। इस प्रकार कथानक लगभग दो वर्ष के समय का गांव का इतिहास प्रस्तुत करता है। इन दो वर्षों के समय मे गाव क्या से क्या हो गया इसका चित्रण राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ-भूमि मे है मेरीगंज का अंचल जहां का जीवन गरीबी, बीमारी, शोषण और अज्ञान से परिपूर्ण है। यहां के इन्सान आमो की गुठलियो के गूदे पर जिन्दा रहते है, भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नही,[2] सात माह के बच्चे बथुए के साग पर पलते है। किसानो के पास जमीन के छोटे-छोटे टुकडे है उन्हे भी ज़मीदार हड़पने को मुह फैलाये हुए हैं। गरीब किसान कंगाल होता जा रहा है, उसे कटिहार के जूट मिल दिखाई देते हैं, "चलो, चलो। दो रुपैया रोज़ मज़दूरी मिलती है। गाव मे अब क्या रखा है।"[3] गांव उजड रहे हैं, शहर बस रहे हैं। यह है समस्या। परन्तु समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। श्री 'रेणु' ने दोनो पहलुओ को अपनी भूमिका मे स्पष्ट कर दिया है—

> "इसमे फूल भी है शूल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड भी है चंदन भी—सुन्दरता भी है कुरुपता भी—मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नही पाया।'[4]

---

१ 'यद्यपि १९४२ के जन-आन्दोलन के समय इस गाव मे न तो फौजियो का उत्पात हुआ और न आन्दोलन की लहर ही इस गाव तक पहुच पाई पूरे चार साल के बाद अब इस गाव की बारी आई है।"—'मैला आंचल', पृष्ठ ६।

२ वही, पृष्ठ २८।

३. 'मैला आंचल', पृष्ठ ३६१।

४ वही, पृष्ठ ४०७।

उपन्यास का सन्देश है—गाव की ओर लौटो, प्यार की सेनी ग्रामवासिनी भारत-माता के अचल के तले, आमू मे भीगी धरती पर करो तभी तो कोई आचल पसारकर आशीर्वाद देगा—तुम सफल होओ। इस पहलू को अनाचलिक पात्र डा० प्रशान्त की कथा उसी प्रकार स्पष्ट करती है जिस प्रकार अन्य पहलू (आचलिक) को बालदेव, लछमीदासी, तहसीलदार आदि की कथाए।

'परती परिकथा' का प्रकाशन तीन वर्ष के बाद १९५७ में हुआ। इस उपन्यास मे भी रेणु जी ने पुन पूर्णिया जिले को आचलिक निरूपण के लिये चुना। इस बार ग्राम था परानपुर। उपन्यास की विषय-वस्तु के दो पहलू है। विशाल परती जमीन, वन्ध्या धरती और पीडित भारतीय ग्रामवासियो की शाश्वत भूमि-लालसा जो नैतिक-अनैतिक सभी रूप धारण करती है। लैण्ड-सेटिलमेट जैसी सामयिक घटनाए ग्रामीणो के जीवन में उथल-पुथल मचा देती हैं किन्तु भारतीय ग्राम और ग्रामीण बेजान से एक लीक पर स्थिर हैं। कथानक का दूसरा पहलू है ग्राम्य जीवन मे नवीन परिवर्तनो की कल्पना जो जितेन्द्र करता है और 'कोसी डेम' नाटक द्वारा जिस पर प्रकाश डाला जाता है। ग्राम का सारा सामाजिक और राजनीतिक जीवन भूमि के चारो ओर घूम रहा है। उपन्यास की सफलता ही इस चित्रण में है—"जान पडता है कि कोसी अचल की कुछ वर्षों की सारी जीवन गति उपन्यास मे उठाकर रख दी गई है।"[1] इसीलिए धनजय वर्मा यह मानते हैं कि—

'परती परिकथा हिन्दी की समस्त आचलिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर सकेगी।"[2]

उपन्यासकार ने परानपुर को जो 'इस अचल का प्राण ही है'[3] काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र जैसे गौरवशाली ऐतिहासिक नगरो की परम्परा मे लाकर खडा कर दिया है इसलिए की वह परती का प्रतीक बनकर आया है। सच ही है कथा मे 'रेणु' ने "देश के एक छोटे से अनचीन्हे अचल को लिया है और अपनी लेखिनी से उसकी पूजा रच ली है।"[4]

'परती परिकथा' के प्रकाशन के उपरात 'रेणु' को अगला आचलिक उपन्यास लिखने मे लगभग आठ वर्ष का समय लग गया। इस बीच वे निष्क्रिय बैठे रहे हो ऐसी बात नही परन्तु आचलिक उपन्यास का प्रणयन अवश्य नही हुआ। १९६३ मे प्रकाशित 'दीर्घतपा' को लेकर उन्होने आचलिक उपन्यास की परिभाषा के

---

१ 'नये उपन्यास' (सम्पादकीय) आलोचना अक्टूबर १९५७, पृष्ठ १।

२ धनजय वर्मा, 'परती परिकथा एक स्वतन्त्र कलाकृति', ('आलोचना' अक्टूबर १९५७) पृष्ठ ८१।

३ 'परती परिकथा', पृष्ठ १७।

४ डा० प्रेमशकर, 'परती परिकथा', ('आलोचना, अक्टूबर १९५७) पृष्ठ ६५।

सशोधन की बात उठाई थी[1] परन्तु हमारी कसौटी पर वह उपन्यास आचलिक नही ठहरता। 'जुलूस' का कथानक भी आचलिकता की कसौटी पर खरा नही उतरता फिर भी उसे आचलिक मानने का प्रमुख कारण यह है कि उसकी भाषा और शैली विशुद्ध आचलिक है और अपनी प्रखरता के कारण अन्य औपन्यासिक तत्त्वो को भी आचलिकता के गहरे रग मे रग डालती हैं परिणामस्वरूप उपन्यास का समग्र रूप मे आचलिक प्रभाव ही पडता है। उपन्यास मे पाकिस्तान बनने के उपरात पूर्वी बगाल से भागकर बिहार मे बसने वाले बगाली शरणार्थियो और उनके पडोसी गोढियार गाव के निवासियो के पारस्परिक सम्पर्क की कथा है। कथा मे आचलिकता इतनी ही है कि दो भिन्न मान्यताओ, विश्वासो और रीति-रिवाजो वाले वर्गों की समस्याओ एव प्रवृत्तियो की भिन्नता प्रभावशाली ढग से प्रकट हो जाती है। गोढियार गाव के निवासियो का जीवन आचलिक भले ही हो परन्तु उसे महत्त्व नही मिल पाया है। बगाली शरणार्थी भी—पवित्रा को छोडकर, सभी पिछडी जातियो के है—सतगोप, कोदू, नम शूद्र, और कैवर्त—परन्तु जिस परिस्थिति, जिस वातावरण मे वे आ बसे है उसमे उनकी वर्गगत विशेषताए दब गई हैं। उपन्यास पर टिपिकल 'रेणुयी' माधुर्य और आचलिकता की स्पष्ट छाप है।

श्री नागार्जुन ने रेणु से पहिले लिखना प्रारभ किया था। उनका 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास १६४८ मे प्रकाशित हो गया था। इसमे मिथिला की महिमा-मडित परम्परा और सुजला-सफला-शस्यश्यामला भूमि की मुग्धकारी झाकिया है। सामाजिक अनीति, अन्याय एव शोषण का जितना सुन्दर चित्रण इस उपन्यास मे प्राप्य है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कुलीनता की भूख, अभिजात्य को सुरक्षित रखने के प्रयत्न, स्त्री की हीन स्थिति, सौराठ की सभा आदि मिथिला के अतिरिक्त और कहा मिलेगी? इसी परिप्रेक्ष्य मे रतिनाथ की चाची गौरी की कथा कही गई है। चाची स्वय पिता की कुलीनता की भूख और मिथिला मे स्त्री की स्थिति की हीनता का शिकार हुई थी। नारी-शोषण का एक अन्य साधन बना उसी का देवर जयनाथ। शोषित, पीडित एव उपेक्षित इस नारी का अत मे मृत्यु का ही वरण करना पडा।

'नई पौध' (१६५३) मे बिहार राज्य की नौगछिया बस्ती को आचलिक चित्रण का आधार बनाकर जो समस्या उठाई गई है वह यो तो देशव्यापी समस्या है परन्तु पिछडे हुए समाज की विशिष्ट समस्या भी है। खोखाइ झा अपनी १४ वर्षीया नतनी का नौ सौ रुपये के लोभ मे पाच जवान पुत्रो के साठ वर्षीय पिता से सबध स्थिर करते है। इसके पूर्व भी वे छ लडकिया बेचकर मुनाफा कमा चुके है परन्तु अब गाव मे जागृति आ गई है और योजनाबद्ध रूप मे इस

१ श्री फणीश्वरनाथ रेणु, 'दीर्घतपा' (भूमिका), पृष्ठ 'क'।

अन्याय का विरोध होता है। उपन्यास १४४ पृष्ठों का एक लघु उपन्यास है जिसकी प्रमुख कथा अत्यन्त संक्षिप्त है परन्तु अन्य प्रासंगिक कथाओं के माध्यम से आंचलिक जीवन का प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

'दुखमोचन' १६५६ में बारह किश्तों में रेडियो से प्रसारित किया गया था। तत्पश्चात् वह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। यह एक चरित्र प्रधान आदर्शवादी उपन्यास है परन्तु बिहार राज्य के टमका कोइली गांव के अंचल को अत्यंत प्रभावशाली रूप में उद्घाटित कर देता है। गांव की अनेकमुखी समस्याओं में अकेला दुखमोचन जूझता है। उसे शक्ति प्रदान करने के लिए श्री नागार्जुन ने उस पर 'जितने सद्गुणों का आरोप' किया है उनका बोझ वह ठीक ठीक सम्हाल नहीं पाता' वह व्यक्ति न रहकर एक टाइप बन"[1] जाता है। बिहार के ग्रामीण जीवन की श्री नागार्जुन को गहरी जानकारी थी। उसका इस उपन्यास में उन्होंने सफल उपयोग किया है। दुखमोचन का स्पष्ट मत है, "दुनिया समझती है कि गांव वाले बड़े भोले-भाले और शराफत के पुतले होते हैं, लेकिन यहां आकर देख जाय कोई कौन-सी बदमाशी छूटी है गांव वालों से। लोभ लालच, छल-प्रपंच झूठ-बेईमानी, ठगी और विश्वासघात'' वह कौन-सा औगुन है सो यहां नहीं है ?"[2] 'दुखमोचन' पढ़ने के बाद बिहार के ग्राम्य जीवन को पाठक गहराई से पहिचान लेता है।

नागार्जुन के उपर्युक्त तीन उपन्यासों पर अलग से विचार करने पर ये 'रेणु' के उपन्यासों से कुछ भिन्न वर्ग के ठहरते हैं। प्रमुख अंतर दृष्टिकोण संबंधी है। रेणु ने अंचलों को उनके परिवेश में देखा था और नागार्जुन ने अंचलों का साम्यवादी चश्मे के पीछे से। ग्रामीण समस्याओं के प्रति नागार्जुन की पैठ बड़ी गहरी होती है परन्तु व्यंग्य से पुष्ट। इसके विपरीत रेणु में अधिक व्यापकता एवं विस्तार तो होता है दृष्टिकोण का आग्रह नहीं होता। व्यंग्य रेणु में भी है परन्तु नागार्जुन के व्यंग्यों का सा तीखापन उनमें नहीं है। रेणु में जहां आंचलिकता सभी तत्वों में मिल जाती है, नागार्जुन में वह अधिकतर भाषा-शैली में ही सीमित रह जाती है। परिणाम यह होता है कि उनके कई उपन्यास यदि भाषा-शैली तत्व को छोड़ दें तो शायद आंचलिक न लगें। इसके उदाहरण हैं 'बलचनमा' (१६५२) 'बाबा बटेसरनाथ' (१६५४)। दोनों में ही जमींदारी अत्याचार और शोषण की समस्या को प्रमुखता मिली है। 'बलचनमा' में नायक बलचनमा राजनीतिक अनुभव प्राप्त कर वर्ग संघर्ष की विचार-धारा में दीक्षित हो जाता है, गांव में भी आर्थिक राजनीतिक संघर्ष का श्रीगणेश हो गया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में भी यही समस्या एवं संघर्ष है परन्तु शैली की विशिष्टता के कारण उसकी प्रखरता कम हो गई है अन्यथा वही

१ डा० ब्रजमोहन गुप्त, 'दुखमोचन', 'आलोचना' (अक्तूबर १६५७), पृष्ठ १०१।
२ 'दुखमोचन', पृष्ठ १२२।

राजनीतिक पार्टीबाजी, भ्रष्टचार, जमींदारी शोषण, किसान की जागृति और सामन्ती प्रथा के विरुद्ध विद्रोह, उपन्यास के कथानक के प्रमुख अंग हैं। ये सभी समस्याएं भारतीय ग्रामों की सामान्य समस्याएं रही है परन्तु परिवेश-चित्रण तथा भाषा-शैली की विशिष्टता ने इनके निरूपण को आंचलिकता प्रदान कर दी है।

श्री रांगेयराघव का काका १९५३ में प्रकाशित हुआ। यह मथुरा नगरी से संबंधित होते हुए भी नगर के वातावरण से अपने आपको पूर्णतः मुक्त रखता है। कथा का केन्द्र है 'जमुना मैया' की परम-पावनी धारा पर निर्भर पण्डा-समाज। इन पण्डों का जीवन अपनी विशिष्टता रखता है इसी कारण ये पण्डे 'मथुरा के चौबे' के नाम से सारे देश में प्रसिद्ध है। इनकी वर्गगत सुप्रसिद्ध विशेषता इनका भोजन-भट्ट होना है। जजमान के ढुकैयों को पचाने के लिए इन्हे जमुना मैया की धार में घण्टों लोटना पडता है।[1] पण्डों के इसी वर्ग के पात्रों की विभिन्न प्रवृत्तियों का चित्रण उपन्यास मे अत्यन्त मार्मिक ढंग से हुआ है। उपन्यास के चरित्र भाषा-शैली सभी पर गहरा आंचलिक रंग है। कथानक का माधुर्य एवं चरित्र चित्रण की मनोवैज्ञानिकता भी इसकी आंचलिकता की अभिवृद्धि करते हैं। उपन्यास का आधार है काका परसराम का व्यक्तित्व। वे एक आदर्श पण्डा है और उनसे प्रभावित है उनका पालित रामधुन। इस रामधुन, काका की रिश्ते की बहू बिन्दिया और काका के जजमान की पुत्री कान्ता की कथाएं जहां उपन्यास को माधुर्य प्रदान करती है वहीं परमसुख, महन्त हरिदास, वन महाराज आदि की कथाएं उसमें आवश्यक आंचलिकता का संचार भी करती है। संक्षेप में, यथार्थवादी सामाजिक कथानक को कुशलतापूर्वक आंचलिक रूप प्रदान कर दिया गया है।

श्री आनन्दप्रकाश जैन का उपन्यास 'आठवीं भावर (१९६६) गोसाइयों के जीवन पर आधारित एक सुन्दर आंचलिक कृति है। यद्यपि उपन्यास मे स्त्री-पुरुष के वैवाहिक संबंध की समस्या का चित्रण है परन्तु एक विशिष्ट संदर्भ मे। गोसाईं एक मांगने-खाने वाली जाति है जिसमे विवाह आटे-साटे होते है अर्थात् अपने घर की लडकी दो तो बदले मे दूसरे के घर की लडकी लो।[2] विवाह प्रतिनिधि के माध्यम से भी हो सकता है, अथवा ऐसा भी हो सकता है कि विवाह तो किसी से हो और विवाहिता स्त्री पत्नी किसी और की बनकर रहे क्योंकि फेरे तो मात्र रीति-निर्वाह के लिए होते है।[3] ऐसा भी हो सकता है कि इस प्रकार विवाहिता स्त्री दोनों की

---

१ रांगेयराघव, 'काका', पृष्ठ ४।

२ अकै म्हारे होवै आटा साटा। अपनी भाण या लौंडिया दो तो दूसरे की भाण या लौंडिया लो—नी तो मजा करो अर लगोट कस के रहो।"—आठवीं भावर', पृष्ठ १०३।

३ 'म्हारे फेरे रीत की खात्तर हावे, बैठने की खात्तर नी होते।"—वही पृष्ठ १०३।

ही पत्नी मान ली जावे अथवा किसी अप्रत्याशित दुर्घटना के कारण दूसरे की पत्नी के रूप में रहने लगें और उसे माग सूनी न करनी पड़े। इस स्थिति को एक पात्र रामानन्द के ससुर ने यों स्पष्ट किया है—

> "जब भी भगवान अनहोनी करेगा, छोटा तुम दोनों का एक साथ अपने घर में बिठावेगा—नहीं तो उसे छोटी भी नहीं मिलेगी। जो भी हो तुम दोनों में से किसी का भी अपनी माग सूनी करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।[१]

रामानन्द की मा ने भी यही सोचा था—

> "मा ने सोचा कि बेटा मर जा, पर वह राँड न हो, ऐसी कोई विध बिठानी चाहिये। तो फिर विध यों बैठी की ब्याह हो तेरे संग और घरवाली भग्गो बाजे मेरी। बस, यू समझ ले कि भग्गो का जिम्मा हो गिया।[२]

इस प्रकार के स्त्री-पुरुष संबंधों के चित्रण का माध्यम बना रामानन्द गोसाईं का परिवार। जब वह चालीस वर्ष का था तब उसका विवाह उन्नीस वर्षीया पार्वती से छोटे भाई सदानन्द से हुआ जो तब केवल ग्यारह वर्ष का था। अर्थात सदानन्द ही घोड़े चढ़ा, उसीने फेरे फिरे, कगना खेला तथा पटरा फेरा परन्तु पार्वती पत्नी मानी गई रामानन्द की। जब सदानन्द उन्नीस वर्ष का हुआ तब उसका विवाह पार्वती की छोटी बहिन सत्रह-अट्ठारह वर्षीया सरस्वती से उसके ससुर ने इस शर्त पर किया कि ब्याह होगा सदानन्द से पर वह रहेगी रामानन्द के[३] जिससे (?) वह पहिले ही गर्भवती हो गई थी। परिणामस्वरूप आठ महीने का पेट लेकर उसने सदानन्द के साथ फेरे फिरे। परन्तु रामानन्द ने वासनापूर्ति के लिए जो योजना बनाई थी वह सरस्वती को पसन्द नहीं आई और उसने अपनी बहिन से स्पष्ट कह दिया कि, "जो तू नू कहवै अक् मैं बडक् की खाट पै सोऊ, तो यो ई मेरे से नीं होने का। वो मेरे बाप के बराबर है···।"[४] सदानन्द भी इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाया। परिणामस्वरूप जो क्रिया-प्रतिक्रियाएं हुई और जिन परिस्थितियों में रामानन्द को अपना अधिकार छोड़ना पड़ा उसीकी कथा 'आठवीं भावर' है। विवाहित पुरुष से मिलते ही वह आठवीं भावर थी जो "मानव की सहज के बाद शेष जीवन में कभी-कभी अपरिहार्य हो जाती है।'[५] इस प्रकार भारतीय समाज के एक विशिष्ट वर्ग के जीवन की समस्याओं का चित्रण करनेवाला यह एक सफल आंचलिक उपन्यास है।

१९५८ में प्रकाशित श्री उदयशंकर भट्ट का उपन्यास 'लोक परलोक' भी

---

१ वही, पृष्ठ ४१।
२ वही, पृष्ठ २०।
३ वही, पृष्ठ २२।
४. वही, पृष्ठ १५६।
५ वही, पृष्ठ १९५।

तीर्थ स्थान की धार्मिक पृष्ठ-भूमि पर प्रतिस्थापित है। "इसके आचलिक होने का सबसे बडा आधार यही है कि इसमे चरित्रो के स्वतत्र विकास की ओर लेखक का ध्यान उतना न होकर सपूर्ण अचल को चरितार्थ करने की ओर दिखाई देता है। यही कारण है कि उपन्यास मे कई लघु लघु उपकथाए चलती रहती हैं।"[१] अचल है तीर्थ-ग्राम पद्मपुरी। यहा का ब्राह्मणो और ठाकुरो का देवी के चढावे के पीछे चलने वाला सघर्ष अनोखा है। धार्मिक आडम्बर के पीछे चलने वाली अनैतिकता, लोभ-वृत्ति और पाखण्ड का चित्रण उसी प्रकार सफल है जिस प्रकार 'काका' मे है। अन्तर इतना ही है कि जहा काका मे काव्य का माधुर्य है वहा लोक-परलोक मे यथार्थ की शुष्कता।

'ब्रह्मपुत्र (१९५६) म श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की "दृष्टि हिन्दी-भाषी प्रदेश को पार करके एक अहिन्दी भाषी प्रान्त के ऐसे लोगो के जीवन की ओर गई है जिनका उस प्रान्त मे भी अपना एक विशिष्ट स्थान है और वह है—ब्रह्मपुत्र के किनारे बसने वाले असम के जन साधारण का जीवन, उन नदी पुत्रो का जीवन जो सदा ब्रह्मपुत्र के उल्लास और कोप का लक्ष्य बनते हुए भी उसके सम्मुख नत-मस्तक हैं।'[२] 'ब्रह्मपुत्र' म कथा-वस्तु के आकर्षण का महत्त्व उतना नही है जितना दिमागमुख के अचल मे निवास करने वाले लोगो के जीवन एव समस्याओ का। कथा तो उसी जीवन के पक्षो के उद्घाटन का आधार बनकर आई है, यही कथा-तत्त्व की दुर्बलता है।

शैलेश मटियानी के तीनो उपन्यास 'चिट्ठीरसैन', 'हौलदार' और 'चौथी मुट्ठी' कुमाय के अचल से सबधित उपन्यास हैं। इन तीनो उपन्यासो की भाषा-शैली ने अन्य तत्त्वो पर इतना गहरा आचलिक रग चढा दिया है कि उनका प्रभाव आचलिक ही पडता है। 'हौलदार मे एक ऐसे नवयुवक की कथा है जो समाज मे अपना प्रभाव जमाने के लिए हौलदार बनना चाहता है परन्तु प्रशिक्षण-काल मे अपनी ही गोली से घायल होकर, टाग गवा कर, छ महीने मे ही गाव लौट आता है। शारीरिक अक्षमता ने उसके मन मे हीन-भावना जाग्रत कर दी है। उपन्यास का कथानक इसी हीनभावना-जनित क्रिया-प्रतिक्रियाओ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

'चिट्ठीरसैन (१९६१) एक छोटी-सी घटना पर आधारित है। मोहनसिंह की विधवा पत्नी रमौती को पीताम्बर चिट्ठीरसैन भ्रष्ट करने मे सफल हो जाता है। दूसरी ओर मोहनसिंह का बडा भाई हौलदार नार्यूसिंह अपने ही गाव के

१ श्री शिवजी सिंह, 'भट्ट जी का आचलिक उपन्यास—लोक परलोक', 'उदयशकर भट्ट व्यक्ति और साहित्यकार' (प्रथम सस्करण), सम्पादक बाके विहारी भटनागर, पृष्ठ १२०।

२. श्री शिवकुमार मिश्र, 'ब्रह्मपुत्र', मूल्याकन, 'आलोचना' जुलाई १९५७।

थोकदार की पुत्री को जो अपने वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट थी, आश्रय देक अपना लेता है। नाथूसिंह ने पेंशन प्राप्त कर अपनी नई पत्नी के साथ घर लौट पर थोकदार का क्रोध रमौती की कथा के परिप्रेक्ष्य में जिस विरोध के रूप प्रकट होता है उसका उपन्यास में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है भाषा, शैली एवं लोक-जीवन के प्रभावशाली चित्र उपन्यास को आंचलिक रू प्रदान करते है।

'चौथी मुट्ठी' (१९६२) कुमायूं के अंचल से संबंधित एक लघु उपन्यास जिसकी कथा केवल चौबीस घण्टों की कथा है परन्तु चरित्र-निरूपण में पहिले व घटनाओं का स्मरण के रूप में कुशलता से मुख्य कथा में समावेश कर दिया गय है। विशिष्टता यह है कि पहिले की घटनाओं के कारण ही चौबीस घण्टा व निर्जीव कथा रोचक बन पाई है। इस प्रकार दो अलग-अलग कथाओं में इस 'फ्लैश-बैक' पद्धति का प्रयोग कर उपन्यासकार ने विस्तृत काल-पक्ष की कथा व दी है। दो कथाएं है—रतनसिंह डोंगरी की पुत्रवधू कौशिला की, तथा राय फोटोग्राफर ब्रजेन्द्रसिंह की पत्नी मोतिमा मस्तानी की। कौशिला अपने पति सम्पूर्ण परिवार के सत्यानाश के लिए घात डालने और मोतिमा मस्तानी अप पुत्र एवं पुत्री की तलाश में गोल्ल देवता के दरबार में गई थी। दोनों की ही मां वहां पलट गई। कौशिला अपने पति की मंगल कामना करती हुई लौटी औ मोतिमा गाल्ल देवता के मंदिर के पुजारी नटवरसिंह की घरवाली बनकर बै गई। उपन्यास के संक्षिप्त कलेवर को देखते हुए कथा की गति, प्रवाह एवं प्रभा इसकी उपलब्धि ही मानी जायेगी।

१९६१ में प्रकाशित श्री रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' गोरखपु जिले के राप्ती और गोरी नदियों की धाराओं से घिरे एक विशाल भू-भाग क कथा कहता है। अपनी भूमिका (पूर्वाभास) में उपन्यासकार ने स्पष्ट किया है। यह विशाल भू-भाग युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धारा को लुटा कर विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार सारे सूत्रों से कटा यह प्रदेश अपने आप में एक संसार है। उपन्यास की क स्वाधीनता-प्राप्ति से पूर्व की है। स्वाधीनता समारोह की सूचना के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है। यद्यपि लेखक ने आगे की कथा इस उपन्यास दूसरे भाग में कहने की बात कही है (पूर्वाभास) तथापि यह भाग भी अपने अ में पूर्ण है। उपन्यास की मुख्य कथा सत असत के संघर्ष की कथा है। इस संघ से जुड़े आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष भी चल रहे है। पाण्डेपुरवा ग्राम के ज जीवन एवं समस्याओं का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण उपन्यास की विशेषता है लोकमान्यताओं, अन्ध-विश्वासों, परम्पराओं, लोक-गीतों और सम्पूर्ण ज जीवन को राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में प्रभावशाली ढंग से उद्घाटित कि

गया है। अपने मार्मिक चित्रण के कारण छोटा-सा पाण्डेपुरवा ग्राम 'मैला आचल' के मेरीगज का प्रतिद्वद्वी बन बैठा है।

श्री मनहर चौहान के उपन्यास 'हिरना सावरी' का प्रकाशन १६६२ में हुआ। छत्तीसगढ के जन-जीवन पर आधारित यह एक सुन्दर कृति है। इस पर यह आरोप लगाया गया है कि यदि इस उपन्यास में से छत्तीसगढी शब्द निकाल दिये जाए तो यह छत्तीसगढ-विषयक नही रह जायेगा।[१] इसका उत्तर भी लेखक के शब्दो मे है, "छत्तीसगढ मे अशिक्षा, अध-विश्वास, धन का असतुलित विभाजन तथा नारी शरीर की सहज सुलभता और साथ-साथ गावों का शहरो से सघर्ष। बेकारी के कारण गाव टूट रहे हैं और शहरो मे खुली गदगी है। 'हिरना सावरी' के पात्र इन्ही सबके प्रतीक है।"[२] उपन्यास मे छत्तीसगढ के रग और दर्द की यह कहानी हिरना उर्फ लछमी की जबानी (आत्म-कथात्मक शैली मे) कही गई है। ग्राम है करतरा और परिवार है, एक ग्वाला परिवार। कथा का उतार-चढाव प्राप्त होना है दाऊ दुखमोचन सिंह (जमींदार) की दानीपुर के मुरारी दाऊ की प्रतिद्वद्विता में और जब दाऊ दुखमोचन सिंह प्रतिद्वद्विता को निभाने में असफल हो जाते हैं तभी हिरना के परिवार की नौकरी भी छूट जाती है और उसे गाव छोडकर भागना पडता है। उसके उपरान्त दानीपुर मे परिवार की दरिद्रता की कथा आरभ होती है। उपन्यास की आचलिकता उसकी भाषा, विवरणो और ग्राम्य जीवन के चित्रणो मे है।

श्री शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' (१६६७) पूर्वी उत्तर-प्रदेश के वाराणसी क्षेत्र के ग्रामीण जीवन पर आधारित है। लेखक नही चाहता कि इसे आचलिक उपन्यास माना जावे[३] ऐसा दो कारणो से है। प्रथम, "वह आचलिकता के नाम पर चालू फैशन से बचना चाहता है"[४] द्वितीय, "यह देश के किसी एक अचल की ही कथा नही बल्कि एक भारतीय गाव की"[५] कथा कहता है। इसमे उस भारतीय समाज की कहानी है जो स्वतत्रता के बाद से एक नही अनेक क्रान्तियो की लगातार घोषणा के बाद भी आज वही ठहरा, ठिठका है और दिन पर दिन दो सामानान्तर जीवन दृष्टियो के विरोधाभास मे पिस रहा है।[६]

१ श्री मनहर चौहान, 'हिरना सावरी' (लेखक की भूमिका फिनिशिंग टच'), पृष्ठ ७।
२ वही, पृष्ठ ७।
३. "मैं लाख चाहूं पढ़नेवाले इसे आचलिक उपन्यासो की पक्ति में न डाल दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूं। हा, निवेदन सिर्फ इतना है कि पढ़ते समय उपन्यास यदि आचलिक लगे, तो आपकी दृष्टि आचलिक न हो' ' अलग-अलग वैतरणी, 'तट चर्चा' (लेखक की भूमिका)।
४ 'दिनमान' (३१ अगस्त १६६६), पृष्ठ ३७।
५ वही
६. श्री लक्ष्मीकात वर्मा, 'ज्ञानोदय', फरवरी १६६८।

उपन्यास करैता गाव की समस्याओ के चित्रण के माध्यम से ऐसे ही नाचिरागी मौजो की कथा कहता है—"नाचिरागी मौजा और करैत का ठनकना मेरे लिए नई चीजें नही हैं। जाने कितने गाव नाचिरागी मौजो मे बदल गए आज वहा झाड-झखाड के बीच सिर्फ करैत ठनकते हैं लेकिन किसान है कि उसमे भी बारिश के सगुन उचार लेता है। मैं बार-बार सोचता हू कि ये मौज़ा नाचिरागी क्या हुए। बाढ, विप्लव, युद्ध, सूखा, अकाल या और कुछ ?"[१] इस सबके माध्यम म लेखक ने भारत के ग्रामीण जीवन की टूटी आस्थाओ, विवशताओ और मजबूरियो का एक साथ प्रस्तुत करने के साथ भी बारिश के सुखद सगुन निचोड लेने की बलवती आशा को ही प्रस्तुत किया है।[२] इस प्रकार कथा वस्तु की दृष्टि से उपन्यास निश्चय ही अनाचलिक है।

परन्तु यदि उपन्यासकार को यह सन्देह था कि कहीं उसके उपन्यास को आचलिक उपन्यासो के अतर्गत परिगणित न किया जावे तो उसका कुछ आधार था। यह आधार उपन्यास की पात्र-कल्पना, चरित्र चित्रण तथा भाषा शैली का है। "उपन्यासकार पाठक को गाव के चरित्रो और घटनाओ के घात-प्रतिघात मे छोडकर अलग हो जाता है। हर चरित्र की कमजोरिया और विशेषताए साथ-साथ सामने आती हैं, न किसी को अतिरिक्त गरिमा से मडित किया गया है और न एक को उभारने के लिए दूसरे को गिराया गया है। लेखक की पूरी सवेदना सभी के साथ है लेकिन अतिरिक्त मोह या घृणा किसीके साथ नहीं। इस कारण हर चरित्र अपने पैरो पर खडा होता है, चलता है, लडखडाता भी है पर लेखकीय बैसाखी नही लगाता। जिस चरित्र मे जितना अधूरापन है उस लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श पूर्ण चरित्र रखने के फेर मे उसमे भराई नही की है। इन सभी पात्रो की अलग अलग पीडाए है—अलग अलग वैतरणिया है।"[३] उपन्यास की भाषा पर गहरा आचलिक रग है तथा लोक-जीवन के चित्र अत्यत प्रभावशाली है। इस प्रकार उपन्यास का समग्र प्रभाव आचलिक ही पडता है।

जन-जातियों अथवा अदिम-जातियो मे सबधित शुद्ध-आचलिक उपन्यासो की सख्या अत्यल्प है। इस वर्ग मे प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित है

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी—रथ के पहिये (१९५३)।
श्री उदयशकर भट्ट—सागर लहरें और मनुष्य (१९५५)।
श्री नागार्जुन—वरुण के बेटे (१९५७)।
श्री रागेयराघव—कब तक पुकारू (१९५७)।

---

१ 'अलग-अलग वैतरणी', 'तट चर्चा (लेखक की भूमिका)।
२ श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, ज्ञानोदय, फरवरी १९६८।
३ 'दिनमान' (३१ अगस्त १९६६), पृष्ठ ३७।

श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'—सूरज किरण की छाह (१९५६)।
जगल के फूल (१९६०)।

श्री योगेन्द्रनाथ सिन्हा—वन के मन मे (१९६२)।

श्री जयप्रकाश भारती—कोहरे मे खोए चादी के पहाड (१९६८)।

जिन तीन उपन्यासो मे गोडो के जन-जीवन का चित्रण हुआ है उनकी भी अपनी अलग विशिष्टता है। 'रथ के पहिये' का गोड जीवन अपेक्षाकृत सभ्य है और सभ्यता, चेतना एव विकास के मार्ग पर बढ रहा है। कथा प्रमुख रूप मे करजिया ग्राम मे घटित होती है जहा सभ्य समाज के दो पात्र (आनन्द और साम) मानवतावादी विचारधारा से प्रेरित होकर पहुचते है। इन्ही दोनो के प्रयत्नो से ग्राम्य जीवन की काया-पलट होने लगती है और जिस समय आनन्द मण्डल पटेल की पुत्री रुपी के साथ गाड-रीति मे विवाह कर बम्बई के लिए प्रस्थान करता है उस समय तक गाव मे युगान्तर उपस्थित हो चुका है। उपन्यास आदर्शवादी है और एक सदेश भी देता है—"वर्तमान काल म धरती पर दो सभ्यताए पनप रही है—एक तो भौतिक प्रगति की विकृत सभ्यता और दूसरी आदिवासियो की प्रकृत सभ्यता। यदि प्रगति के रथ को निरतर बढते रहना है तो उसमे ये दोनो पहिये के रूप मे अवश्य ही जोडी जायेंगी, उनमे से एक की भी उपेक्षा करके मानव-सभ्यता जी नही सकती।"[१]

'सूरज किरन की छाह' 'तृषित' जी का आचलिक उपन्यासो की शृखला मे एक विनम्र प्रयास है। इसकी कथा लेखक के निजी अनुभव मे पुष्ट है।[२] आदिवासियो के जीवन की एक अछूती समस्या को लेखक ने इस उपन्यास मे उठाया है। समस्या है, ईसाई मिशनरियो द्वारा आदिवासी-क्षेत्रो मे धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न की। भेंगा पटेल की पुत्री बजारी क्रिश्चियन गायता के पुत्र विलियम के बहकावे मे आकर भ्रष्ट हो जाती है और उसे ईसाई बनने को बाध्य होना पडता है। अपने पति जोसेफ की नीचता के कारण उसे भयकर कष्ट सहन करने पडते है परन्तु अत मे मजबूरी मे ईसाई बने, सुशिक्षित परतु इस प्रकार मजबूरी मे धर्म-परिवर्तन से सतुष्ट न रहने वाले, डाक्टर की सहायता से वह अपने पूर्व के जीवन मे पुन प्रवेश करने मे सफल होती है। वह अपने गाव लौट पडती है, गाव एव गाववालो की सेवा कर अपने पाप-मोचन करने और यह देखने कि "वहा की किसी बजारी को निर्वासित होकर फिर मिसेज बेंजो जोसेफ न बनना पडे।"[३]

'जगल के फूल' की कथा उपर्युक्त दोनो उपन्यासो की कथा से भिन्न प्रकृति

१ डा० सुधीन्द्र, 'रथ के पहिये, उपन्यास की एक नई दिशा', 'साहित्य सदेश', मार्च १९५५, पृष्ठ ३५२।

२ श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित', 'सूरज किरन की छाह' (लेखक की भूमिका)।

३ वही, पृष्ठ १९८।

की कथा है। उसमें गोंडो के अंतरंग जीवन के प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तर क्षेत्र का गोंड-समाज अपने जीवन की समग्रता में उपस्थित किया गया है। उपन्यास की प्रमुख समस्या भी आदिवासी गोंडों की प्रकृति के अनुकूल ही उनके अधिकारों की रक्षा की समस्या है। इस दृष्टि से कथानक एक ऐतिहासिक घटना (आदिवासियों के विद्रोह) पर आधारित है। परन्तु इस उपन्यास में आदिवासी समाज में जागृति और चेतना किसी बाहरी तत्त्व के सहयोग से नहीं आई है वह आदिवासी पात्रों द्वारा ही उद्भूत है। इस विद्रोह का बीज एक बहुत छोटी घटना में निहित दिखाया गया है। घटना है एक गोरे अफसर की गोंडो द्वारा रक्षा और उसके बदले में सरकार द्वारा दिये गए जमीन के पट्टे। इन पट्टों के पीछे गोंडो को सरकार की चाल दिखाई देती है— जमीन एवं जंगलों पर सरकार द्वारा अपने अधिकार का प्रदर्शन। इसी के साथ पुलिस के अत्याचार एवं शिक्षा-प्रसार आदि के प्रयत्न भी सम्मिलित हो जाते हैं और सुलकमाए, महुआ, झालरसिंह आदि की आंचलिक कथा नव जागृति की नवीन दिशा ग्रहण कर लेती है। गोंड जीवन के यथार्थ एवं प्रभावशाली चित्रण के कारण ही यह उपन्यास आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यासों में शीर्ष-स्थान प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

गोंडो के समान ही जंगल में निवास करने वाली एक अन्य जन-जाति 'हो' के जीवन का चित्रण श्री योगेन्द्रनाथ सिंह के उपन्यास 'वन के मन में' (१९६२) में हुआ है। यह 'हो' जाति बिहार के सिंहभूम के घने जंगलों में निवास करती है और सबाई घास, सरकण्डे और लकड़ी काटने से लेकर वन-रोपण और सड़क-निर्माण तक के कार्यों में मजदूरी करके अपना जीवन निर्वाह करती है। इन मजदूरों के डेरे नालों के आसपास लगते हैं। ऐसे डेरे अथाह वनों के भीतर छोटे-छोटे टापुओं जैसे लगते हैं। वनों के भीतर आबादी नाममात्र की होती है। पांच-दस मील के बाद दो-चार मड़ैयों का छोटा सा गांव मिल जाय तो बहुत समझिये। ये मजदूर जाड़े के आरंभ में चले आते हैं और गर्मी के अंत तक रहते हैं। किसी-किसी घर से तो परिवार का परिवार चला आता है क्योंकि गांव में इनके पास इतने कम खेत होते हैं कि उपज से गुजारा चंद दिनों ही चल सकता है, बाकी के लिए मजदूरी का भी कोई जरिया नहीं होता।[1] गांव में और पड़ावों में जंगली हाथियों, बाघों, रीछों आदि हिंसक प्राणियों का भय रहता है। जंगली हाथियों का गोल जब हमला करता है तो पूरी बस्ती रौंद डालता है।[2] इक्के दुक्के व्यक्ति के लिए तो हर समय कोई न कोई खतरा रहता है।

इस *'हो' समाज की अपनी विशिष्ट जीवन पद्धति और मान्यताएं हैं।* इनकी अपनी ही भाषा है जो 'हो' कहलाती है। उल्लासपूर्ण स्वच्छन्द जीवन व्यतीत

१ 'वन के मन में,' पृष्ठ ४२।
२ 'वन के मन में,' पृष्ठ ५६।

करने वाली इस 'हो' जाती के जन-जीवन का चित्रण 'लुकना हो' और मे जो कुई की प्रेम-कथा के माध्यम से हुआ है। यही उपन्यास का प्रमुख आकर्षण भी है अन्यथा 'हो' समाज के जीवन के वैविध्य के विस्तृत विवरण इसमे नही हैं। लेखक का वन-जीवन का अपना पैतीस वर्ष का अनुभव जो उसे वन-विभाग की नौकरी के दौरान प्राप्त हुआ था, उसका मार्ग-दर्शक रहा है। उपन्यास पर यदि गहरा आचलिक रग चढा नही दीखता तो उसका कारण आचलिक भाषा का सीमित प्रयोग है। केवल व्यक्ति अथवा वस्तु के नामो, गीतो और प्रथाओ आदि के विवरणो मे आचलिक शब्दो का प्रयोग किया गया है अन्यथा आचलिक पात्रो के वार्तालाप तक की भाषा सामान्य हिन्दी है। इन सीमाओ के उपरान्त भी उपन्यास विशिष्ट आचलिक जीवन का चित्रण करने मे सफल हुआ है।

श्री उदयशकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर बबई के निकट बसे बरसोवा ग्राम के मछलीमारो के जीवन की कथा कहता है। उपन्यास की रचना की प्रेरणा लेखक का मार्च १९५३ मे अपनी बम्बई यात्रा के दौरान प्राप्त हुई थी। बरसोवा का समुद्र एव वहा का जीवन उन्हे अत्यत आकर्षक लगा। वे अपने आपको भूल गये और उन्होने अनुभव किया कि सागर की भी एक कहानी है और इन सागर-पुत्रो की भी।[१] उन्होने यह भी अनुभव किया कि हिन्दी-साहित्य मे समुद्र का नितात अभाव है, उन्होने उसी अभाव की पूर्त्ति के निमित्त इस उपन्यास का सर्जन किया।[२] बरसोवा से बबई की निकटता ने वहा के सामाजिक जीवन मे भी वर्तमान भौतिक सभ्यता के उन बीजो का वपन कर दिया है जिनकी अधाधुध बाढ मे राष्ट्रीय जीवन त्रस्त है। रत्ना और माणिक के माध्यम से इसी कुप्रभाव की कथा कही गई है। उपन्यास का अत आदर्शवादी एव प्रेरणादायक है।

श्री नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' भिन्न प्रकार के मछलीमारो का जीवन चित्रित करता है। ये मछलीमार देश के भीतरी भाग के ताल-तलैयो मे मछली मारते हैं। श्री नागार्जुन की राजनीतिक मान्यताओ का इस उपन्यास के कथानक पर भी प्रभाव पडा है। जमीदारी, पूजीवादी और राजनीतिक शोषण की चक्की मे ये सरल प्राणी भी पिस रहे है। जमीदार है सतघरा का रईस, पूजीपति है सुरखुन के ही समाज का सम्पन्न भोला और राजनीतिक शोषण के अस्त्र है नेता एव सरकारी अधिकारी। राष्ट्रीय योजनाओ मे भ्रष्टाचार एव श्रमदान के पाखण्ड का भी भण्डा-फोड उपन्यासकार ने कुशलता से किया है। नवीन जागृति मोहन माझी और मधुरी के माध्यम से ग्राम-समाज मे प्रवेश कर रही है। अपने

१ 'उदयशकर भट्ट—व्यक्ति और साहित्यकार,' सम्पादक बाके बिहारी भटनागर, पृष्ठ १२१।
२ वही, पृष्ठ १२२।

अधिकारो की लडाई मे यह शोषित समाज भी सफल होगा, उपन्यास अव्यक्त रूप से इस ओर सकेत भी करता है।

'कब तक पुकारू' एक वृहत् उपन्यास है जो जरायमपेशा एव तिरस्कृत नट जाति के जीवन की गाथा प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान और स्वतत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण जीवन एव जन-जातियो की ओर जो देशवासियो का ध्यान आकर्षित हुआ उसी की प्रेरणा इस उपन्यास के सर्जन मे भी निहित रही होगी। अपनी भूमिका मे भी श्री रागेयराघव ने स्पष्ट किया है कि शोषण का केवल आर्थिक पहलू ही देखना काफी नही है। शहरो मे बैठने वाले आधुनिकता के नज़रिये से सब कुछ देख डालते हैं पर असली भारत गावो मे है जो अभी भी मध्यकालीन समस्याओ से ग्रस्त है। वे विश्वास मध्यकालीन व्यवस्था से नियत्रित हैं—सारी व्यवस्था अध-विश्वासो पर जमी हुई है। सामाजिक एव यौन-शोषण के एक पहलू को श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'गोली' मे उद्घाटित किया है। उसीके एक अन्य पहलू को श्री रागेयराघव ने 'कब तक पुकारू' मे रूपायित किया है। जमीदारो के गाव मे तो यह प्रथा भी रही थी कि करनटो की हर लडकी जब जवान होती थी तब पहिले उसे ठाकुरो के पास रात बितानी पडती थी। फिर वह करनटो की हो जाती थी। जमीदार, पुलिस, सभी इस जाति को अपने उद्देश्यो की सिद्धि का साधन बनाने थे। सामन्ती व्यवस्था की शिकार ऐसी जातिया अब समाप्त होती जा रही हैं परन्तु उनके सामाजिक शोषण का सत्य 'कब तक पुकारू' जैसे उपन्यासो के माध्यम से ही सदा जीवित रहेगा।

नटो के समान ही एक अन्य जाति के शोषण की कथा श्री जयप्रकाश भारती का उपन्यास 'कोहरे मे खोए चादी के पहाड' (१९६८) कहता है। इस उपन्यास का कथाचल देश के उत्तरी सीमात पर स्थित जौनसार-बावर और रवाई का वह पर्वतीय क्षेत्र है जो अब तक उपेक्षित एव पिछडा हुआ रहा है। यहा के निवासियो की, जो अपने को पाण्डवो का वंशज मानते हैं, विशिष्ट सामाजिक-नैतिक मान्यताए हैं। यहा केवल बडा भाई ही विवाह का अधिकारी होता है और उसकी सभी पत्निया अन्य छोटे भाइयो की भी स्त्रिया मानी जाती हैं। अज्ञान, अधविश्वास और गरीबी के कोहरे मे खोए चादी से उज्ज्वल पहाडो के इस प्रदेश के सामाजिक शोषण की भी दु खपूर्ण कथा है। प्रगति के चरण अब इस उपेक्षित प्रदेश की ओर भी शिक्षित माधोसिह जैसे आचलिक पात्रो और सरकारी योजनाओं के माध्यम से बढ रहे हैं।

उपन्यासकार कथा को रोचक बनाने के फेर मे असली चुनौती को अनदेखा कर गया है। यह असली चुनौती है प्राचीन काल से चली आ रही अध परम्पराओं की जिनमे फसी नारिया असमय ही वृद्धाए हो जाती है,[1] जिनमे ग्रस्त पिता अपनी

१. 'कोहरे मे खोए चादी के पहाड', पृष्ठ १५।

सुकुमार कन्याओं को पतिवियों की अनगामिनी बनाने में हिचकते नहीं,[1] जिनमें आबद्ध मरत-अज्ञानी लोग गंदे और नग्नप्राय रहने में ही अपना हित देखते हैं[2]। 'दिनमान' के पुस्तक-समीक्षक का यह मत सर्वथा उचित है कि 'भावुकतापूर्ण आदर्श और प्रेम के चित्रण की उपन्यास में जरूरत न पड़ती यदि भारती ने वास्तविक चुनौति स्वीकार की होती। दुर्गम पर्वतीय क्षेत्र में सड़क-निर्माण पर ही एक मार्मिक उपन्यास लिखा जा सकता था। इस उपन्यास में इस पर एक परिछेद है।"[3]

उपन्यास की भाषा-शैली 'वन के मन में' और 'सागर के तट पर' उपन्यासों जैसी है इसमें आंचलिकता का अवश्य ह्रास हुआ है। स्वयं भारती का भी लगता था कि 'सम्भव है शास्त्रीय कसौटी पर इसमें आंचलिक उपन्यास की विशेषताएं न हों'' लेकिन एक पत्रकार का आंखों देखा वर्णन या रिपोर्ताज यह अवश्य है।"[4] जो भी जौनसार—भाई की पृष्ठभूमि पर अब तक कोई उपन्यास नहीं लिखा गया है, इस दृष्टि से श्री भारती का यह प्रयास स्तुत्य है[5]।

भीलों के जीवन पर आधारित श्री श्याम परमार का 'मोरझाल' (१९६३) भी इसी श्रेणी में आता यदि उसकी आंचलिकता का रंग हल्का न होता। उस पर मिश्रित आंचलिक उपन्यासों के अंतर्गत विचार किया जायेगा।

मिश्रित अथवा अर्द्ध आंचलिक उपन्यास सामान्य उपन्यासों तथा आंचलिक उपन्यासों के बीच के वर्ग के उपन्यास होते हैं। उन्हें सामान्य उपन्यासों से भिन्न इसलिए करना पड़ता है क्योंकि उनमें कोई एक या अधिक तत्त्व सामान्य उपन्यासों के तत्त्व से भिन्न और आंचलिक उपन्यासों के तत्त्वों से मिलते हुए होते हैं। ऐसे उपन्यास स्वतः ही सामान्य उपन्यासों से भिन्न लगते हैं। यही कारण है कि 'मुकनावली', 'नेपाल की वो बेटी', 'सत्तीमैया का चौरा', 'नदी फिर बह चली', 'सेठ बांकेमल', 'बहती गंगा', जैसे उपन्यासों को कई विद्वानों ने आंचलिक उपन्यास मान लिया है। इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि इन सभी उपन्यासों की आंचलिकता एक जैसी नहीं है। कहीं यह केवल कथा में निहित है, कहीं कथा और चरित्रों में, कहीं केवल भाषा-शैली में, इस स्थिति पर किंचित विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है।

श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों में आंचलिकता प्रमुख रूप से भाषा-शैली

---

१ वही, पृष्ठ ६९।
२ वही, पृष्ठ ५२।
३ 'दिनमान' ११ मई १९६६, पृष्ठ ३६।
४ 'कोहरे में खोए चांदी के पहाड़,' ऊंची नीची धरती (लेखक की भूमिका)।
५ इसी पुस्तक को 'हिमालय की पुकार' नाम से श्री भारती ने नये रूप में शुभकामना प्रकाशन से नवम्बर १९६६ में पुनः प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित किया।

तत्त्व म ही निहित है। उनकी हिमालय कथामाला का प्रथम उपन्यास है 'मुक्तावती' (लिखित १९५५) जिस पर विचार व्यक्त करते हुए परिचय मे कहा गया है—

> "लेखक ने अदम्य साहसी परन्तु साधन विहीन युवक के रूप म अपनी पीठ पर कबल लादकर हिमालय को रौंद दिया और वर्षों इसी साधना मे बिता दिए। आखें खोलकर कुल्लू देखा गढवाल देखा कैलास देखा और दसे मणिपुर व दार्जिलिग देखे ही नहीं उन्हे परखा भी। वहा की भूमिका, वहा के समाज का, सामाजिक रीति रिवाजा का और शासन प्रणाली का आखें खोलकर गहन अध्ययन किया। और उस अध्ययन का परिणाम है उनके हिमालय के जीवन पर लिखे आधे दर्जन से भी अधिक उपन्यास।'[1]

परन्तु इन सभी उपन्यासा की प्रवृत्ति एक जैसी ही है अर्थात इन सभी की आचलिकता विवरणा एव वर्णना मे ही निहित है, कथा एव पात्रो मे नही। मुक्तावती' प्रमुख रूप से मणिपुर के सामन्ती जीवन की कथा कहता है। समस्या है वर्ग भावना की। समान्ती वर्ग माइतेई युवक चन्द्रावत को उच्च प्रशासनिक पद दिया जाना सहन नही कर सकता। मणिपुरी एव गैर मणिपुरिया का झगडा भी इसी के साथ सबद्ध हो जाता है। प्रान्तीयता एव जातीयता की इस भावना के साथ लगी हुई चलती है ब्रह्म-सभा के पाखण्ड एव शोषण की कथा। उपन्यासकार के उत्साह ने प्रादेशिक जीवन के सीमित सघर्ष को राष्ट्रीय आन्दोलन के व्यापक सघर्ष का रूप प्रदान कर दिया है। उपन्यास की आचलिकता प्रमुख रूप से मणिपुरी लोक जीवन, मान्यताओ, विश्वासो, उत्सवो एव वहा के खान पान, वस्त्राभूषण आदि के विवरणा मे है। इस दृष्टि से प्रारम्भ के सत्तर-अस्सी पृष्ठ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

कुल्लू प्रदेश के जन जीवन पर लिखे गए लेखक के उपन्यास 'आदित्यनाथ' (१९५८) मे आचलिक रग कुछ अधिक गहरा है। यह उपन्यास लेखक न १९५४ मे आरम्भ के तीन महीनो मे मणिपुर-प्रवास के दौरान लिखा था।[2] इसके लखन का उपन्यासकार का उद्देश्य था जिसे लखक ने अपनी भूमिका 'पाठका से' मे इस प्रकार स्पष्ट किया है, "ताकि नव-रक्त की भावुकता भरी लहरा मे स्वामी सोमानन्द की तरह बहकर बाद मे विनष्ट न हो जाए, स्वामी सत्यकेतु और वीरेन्द्र वर्मा जैसे लोग स्वय आदित्यनाथ के जीवन से कुछ सीख सकें, स्वस्थ, स्वाभाविक जीवन के मूल्य को पहिचान सकें।" उपन्यास की कथा-भूमि है हिमालय की कुल्लू उपत्यका की एक अनोखी अनजान घाटी। परन्तु उस

१ मुक्तावती (परिचय), पृष्ठ 'ज'।
२ 'आदित्यनाथ', पाठको म (भूमिका)।

घाटी का जीवन जो निश्चय ही आंचलिक है केवल एक-सौ-बीस पृष्ठों में है, शेष दो-सौ-ग्यारह पृष्ठों में कुल्लू में पनपती राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष की कथा है जो पूर्णतः अनांचलिक है। इस प्रकार उपन्यास की आंचलिकता सीमित ही है।

'नेपाल की वो बेटी' (१९५९) में आंचलिकता और भी अधिक सीमित हो गई है। इसमें नेपाल के जिस वर्ग का जीवन चित्रित किया गया है वह वास्तव में नेपाल का सामान्य मध्यमवर्ग है अतः वह जीवन आंचलिक नहीं, राष्ट्रीय है। उपन्यास की भूमिका भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है—

"नेपाल के सैकड़ों मील लम्बे समस्त पश्चिमी भाग का ठेठ पहाड़ी ग्रामीण जीवन इस उपन्यास में चित्रित जीवन से भिन्न नहीं है। सामन्ती शासन एवं संस्कृति की बेड़ियों में जकड़ा हुआ वह जीवन जैसे जड़वत् आज भी जहां का तहां मौजूद है।"[१]

"*नेपाल के सामान्य जन जीवन में से ही हेमा, कुसुम और हरिशंकर को* ढूंढकर मैंने पाठकों के समक्ष पेश कर दिया है।"[२]

कथा का आग्रह प्रमुख रूप से सामाजिक है और उसमें आंचलिक वातावरण एवं चित्रण का भी अभाव है। परन्तु वेश-भूषा, रहन सहन, खान-पान, आदि के विवरण तथा बोलचाल की भाषा के शब्द अपने आप में विशिष्ट होने के कारण आंचलिकता की अवतारणा में सहायक होते हैं। वातावरण के हल्के रूप लोक-जीवन, संस्कार, उत्सव तथा धार्मिक एवं नैतिक मान्यताओं में प्राप्त होते हैं परन्तु उन्हें पर्याप्त महत्त्व नहीं मिल पाया है। फिर भी लोक-जीवन की विशेषताओं का जैसा भी और जितना भी चित्रण इसमें है वह इसे सामान्य उपन्यासों से भिन्न अवश्य कर देता है।

भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्तीमैया का चौरा' (१९५९) उत्तर-प्रदेश के ग्राम पियरी से संबंधित है। इसमें गांव के मुसलमान जमींदार मन्ने एवं उसके अब्बा की कथा कही गई है। उपन्यास का लगभग आधा भाग इस जमींदार की पारिवारिक कथा मात्र बनकर रह गया है। शेष भाग में ग्राम में पनपने वाली गंदी राजनीति की कथा कही गई है जिसका आधार है साम्प्रदायिकता। इससे मिली-जुली सामाजिक जीवन की अन्य कथाएं भी चलती रहती हैं जो उपन्यास को यथार्थवादी अधिक बनाती हैं, आंचलिक कम। फिर भी गांव की मान्यताओं एवं जीवन-पद्धति के विवरण तथा इसकी भाषा एवं शैली इसे आंचलिकता के हल्के रंग में रंजित कर ही देते हैं।

श्री हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'लोहे के पंख' (१९५७) में एक अछूत

१ 'नेपाल की वो बेटी', प्रस्तावना (पाठकों से), पृष्ठ 'भ'।
२ वही, पृष्ठ 'य'।

माने जाने वाले वर्ग (चमार) से संबंधित कथा है परन्तु यह सम्पूर्ण जाति सामाजिक शोषण या उत्पीड़न का शिकार चित्रित नहीं की गई है। शोषणकर्ता केवल जमींदार है जो एक परिवार मात्र (मगरुआ का परिवार) के प्रति क्रूरता प्रदर्शित करता है। इस प्रकार उपन्यास में कहीं भी जाति-व्यवस्था के दोषों अथवा उससे उत्पन्न समस्याओं का चित्रण नहीं है। मगरूआ को ही गांव से भगाकर औद्योगीकरण के कुप्रभावों एवं पूंजीवादी शोषण की कथा कह दी गई है। सारे उपन्यास पर उपन्यासकार के विशिष्ट दृष्टिकोण (समाजवादी) का झीना आवरण पड़ा हुआ है। उपन्यासकार का आदर्श भी इस पर हावी है परिणामस्वरूप उपन्यास का अंत भी आदर्शवादी हो गया है। उपन्यास की आंचलिकता उसकी भाषा-शैली एवं जाति-विशेष के जीवन के निरूपण में ही प्रमुख रूप से निहित है।

लगभग ऐसी ही स्थिति लेखक के दूसरे उपन्यास 'नदी फिर बह चली' की भी है। इसकी नायिका परबतिया पारिवारिक शोषण का शिकार बनकर नवीन दृष्टि प्राप्त करती है और किसानों एवं मजदूरों की नेता बनकर पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में उनका *मार्गदर्शन करती है। इस उपन्यास में भी आंचलिकता* कथा-वस्तु एवं चरित्र-चित्रण में न होकर, अंध-विश्वासों, मान्यताओं, लोक-कथाओं एवं लोक-जीवन के प्रभावशाली चित्रणों में है। इसकी भाषा एवं शैली भी आंचलिक उपन्यासों के उपयुक्त ही है। इस दृष्टि से 'लोहे के पंख' की तुलना में यह अधिक सफल आंचलिक कृति है।

नागार्जुन के दो उपन्यास 'बलचनमा' (१९५२) एवं 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४) प्रमुख रूप से आर्थिक संघर्ष की कथा कहते हैं। बलचनमा में यह संघर्ष अधिक तीव्र है। उसमें एक गोप परिवार (बलचनमा का परिवार) ही जमींदारी शोषण का शिकार बनता है। जमींदारी शोषण का विस्तृत परिप्रेक्ष्य में चित्रण नहीं है। काफी समय पटना में रह जाने के बाद बलचनमा में नवीन चेतना आ गई है। अपनी बहिन के साथ जमींदार के बलात्कार के प्रयत्न के बाद वह जमींदारों के विरुद्ध किसानों के संघर्ष में सम्मिलित हो गया। 'बाबा बटेसरनाथ' में ग्राम रुपउली को आधार बनाकर यह समस्या दूसरी प्रकार से उठाई गई है। जमींदारी-उन्मूलन का लाभ भी जमींदारों को ही मिला। एक ओर उन्होंने सार्वजनिक उपयोग की भूमियों को चुपके-चुपके बेचना आरम्भ कर दिया दूसरी ओर सरकार भी उन्हें ज्यादा से ज्यादा हरजाना देने की तिकड़म भिड़ाने लगी। इस प्रकार जमींदारी-प्रथा का जो *'नकली श्राद्ध' कांग्रेसी लोगों ने किया* वह शोषण का एक नया अस्त्र ही सिद्ध हुआ।

'लोक लाज खोई' (१९६३) श्री सुरेन्द्रपाल का ग्रामीण जीवन से संबंधित एक उपन्यास है। इसका सामाजिकता का आग्रह नागार्जुन के 'दुखमोचन' जैसा

ही है और हवलदारिन भौजी भी दु:खमोचन के समान सशक्त रूप में उभरी है परन्तु इसका कथाचल जैनाथपुर, टमका-कोइली के समान नहीं उभर पाता है इसी कारण इसे शुद्ध आंचलिक उपन्यास स्वीकार करने में सकोच होता है फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि सामाजिक परिवेश इसमें अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उद्घाटित हुआ है। यह उपन्यास प्रमुख रूप में अपनी कथा-वस्तु, भाषा तथा शैली के कारण आंचलिक बना है। सम्पूर्ण कथानक सोलह अध्यायों में विभाजित है जिनमें प्रथम एवं एकादश अध्यायों को छोड़कर शेष चौदह अध्यायों में चौदह भिन्न कथाएं कही गई है। प्रथम अध्याय उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हवलदारिन भौजी के व्यक्तित्व की एक झलक उपस्थित करता है एकादश अध्याय ग्रामीण जीवन की एक वैवाहिक प्रथा, महतूल जगाने, से सबंधित है। हवलदारिन भौजी का व्यक्तित्व अन्य दृष्टियों से स्वतन्त्र शेष अध्यायों की चौदह कथाओं को एक कथा-सूत्र में ग्रथित करके आंचलिक कथा वस्तु की आवश्यकता की पूर्ति करता है। आंचलिकता की अवतारणा का प्रमुख श्रेय उपन्यास की भाषा एवं शैली को है। भाषा में पूर्वी उत्तर-प्रदेश की जन-भाषा का अत्यंत स्वाभाविक एवं सशक्त रूप प्रकट हुआ है और शैली विघटन की उस प्रवृत्ति का परिचय देती है जो आंचलिक शैली की प्रमुख विशेषता होती है। संक्षेप में, यह उपन्यास अर्द्ध आंचलिक उपन्यासों का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्री जगदीशचन्द्र पाण्डेय का उपन्यास 'गगास तट पर' (१९६८) केवल विषय-वस्तु की दृष्टि से आंचलिक है और इसी कारण श्री अज्ञेय ने इसे आंचलिक जीवन की व्यथा-कथा कहा है।[१] वास्तव में यह सम्पूर्ण व्यथा कथा भी नहीं केवल आंचलिक जीवन का खण्ड-चित्र प्रस्तुत करनेवाली कृति है इसीलिए इसे एक आंचलिक झाकी[२] भी कहा जा सकता है। नि:सन्देह इसमे "छोटे पैमाने पर आंचलिक जीवन की वह सारी सामग्री मौजूद है जिससे एक मार्मिक कथा-कृति की रचना संभव होती है[३] परन्तु उसका सफल उपयोग नहीं हो पाया है। कुमाऊ भूमि-सुधार कानून की पृष्ठ-भूमि में जिन समस्याओं का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है वे वास्तव में अखिल भारतीय समस्याओं का कुमाऊनी सस्करण हैं क्योंकि वहा ब्राह्मण और क्षत्रिय भूमि के मालिक होते हुए भी हल नहीं जोतते। सारी खेती अछूतों द्वारा की जाती है जिन्हें मजदूरी के रूप में खाने-कमाने के लिए दो-चार खेत दे दिये जाते है। विश्वास और सद्भाव पर आधारित व्यवस्था को भूमि-सुधार कानून ने छिन्न-भिन्न कर दिया। परिणामस्वरूप डोमो से जमीन छीनी जाने लगी। भूमि-व्यवस्था के लिए जिम्मेदार राजकीय कर्मचारी भी

१ 'गगास के तट पर' भूमिका, पृष्ठ ७।
२ 'दिनमान (साप्ताहिक) ११ मई, १९६९, पृष्ठ ३९।
३ डॉ० नामवरसिंह, 'गगास के तट पर', बाह्य आवरण (पृष्ठ भाग)।

अभिजात्य वर्ग का मुख और रुख देखकर कार्य करने लगे और अछूत बेचारे चक्की के दो पाटों के बीच पिस गए।

कथा का यह स्वरूप निश्चय ही आंचलिक है परन्तु अन्य तत्वों में आंचलिकता का निर्वाह किंचित मात्र भी नहीं हो पाया है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उपन्यास की भाषा इतनी अनांचलिक है कि यदि व्यक्तिगत स्थानगत और वस्तुगत नामों के स्थान पर दूसरे नाम रख दिए जाय तो भी कथा की प्रवृत्ति और भाषा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आवेगा। जिस गगास नदी के नाम को इतना महत्त्व दिया गया है उसका उपन्यास में इतना ही उपयोग है कि उसके किनारे में बन्दोबस्त आरम्भ होता है और वह गांव की सीमारेखा भी बनाती है। इस नदी के बदले यदि अन्य किसी पहाड़ी नदी का नाम रख दिया जाय तो भी विषय वस्तु अथवा समस्या निरूपण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। मिश्रित आंचलिक एवं कई अनांचलिक उपन्यासों में भी कम से कम वार्तालाप की भाषा स्थानीयता का पुट लिए होती है परन्तु इस उपन्यास में वह भी सामान्य हिन्दी ही है। संक्षेप में, अनांचलिक शैली में लिखा गया यह उपन्यास यदि आंचलिक लगता है तो इसका एकमात्र कारण है विशिष्ट आंचलिक समस्या का प्रभावशाली निरूपण।

केवल भाषा के कारण आंचलिक माने जाने वाले उपन्यासों में श्री अमृतलाल नागर का 'सेठ बांकेमल' (१९५५) का विशिष्ट स्थान है। इसका कथानक सोलह कहानियों में विभाजित है। सभी कहानियां चौबे परसराम के साहसिक कृत्यों से संबंधित है। परन्तु ये चौबजी अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते क्योंकि वे सामान्य चौबे नहीं, अनेक विशिष्ट व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त हैं। उपन्यास का वातावरण आंचलिक तो है ही नहीं, किसी स्थान का विशेष भी नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में, उपन्यास की सारी आंचलिकता उसके भाषा शैली तत्त्व में निहित है। आगरे की बोली का अत्यंत स्वाभाविक रूप इस उपन्यास में प्रकट हुआ है।

'बहती गंगा' (१९५२) को ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है परन्तु उस पर आंचलिकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। उपन्यास की काशी नगरी का वातावरण तथा वहां के निवासियों की प्रकृति, एक नगर की विशेषता न होकर स्थानीय विशेषताएं ही अधिक है। इसी विशिष्टता को श्री 'रुद्र' ने अपनी 'सर्दशिका' में एक अंग्रेज इतिहासकार का मत देकर स्पष्ट किया है—

> "बनारस के वासी अभिमानी और दुर्दान्त थे। वे प्राचीन प्रथाओं के प्रेमी थे और नवीनता के प्रति असहनशील। सन् १८५१ से पहिले तक उन्होंने अपनी प्रथाओं में हस्तक्षेप के सभी प्रयत्नों का सफलतापूर्वक विरोध किया था।"[1]

---

1 'बहती गंगा', सर्दशिका, पृष्ठ १०।

बनारस की स्थानीय विशेषताओं को संग्रह भिन्न कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। यद्यपि ये सभी कथाएं ऊपर से स्वतंत्र दिखाई देती है परन्तु इनमे आतरिक एकता है। तलवारिया दातारांम, नागर, भगड भिक्षुक, गौरी, चित्रकार रामदयाल, अमीरन मिवनाथ-बहादुरसिंह आदि से संबधित कथाएं आंचलिक-निरूपण की शैली की आवश्यकता की पूर्ति कर देती है। इसकी भाषा की सबसे बडी विशेषता यही है—

> "इसमे तनिक मिलावट नही, बनावट नही, सीधी, मुहावरेदार, सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी कि आप एक एक वाक्य को दस-दस बार भी पढे तो जी न भरे।"[१]

इस प्रकार कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण, भाषा-शैली सभी पर जो गहरा आंचलिक रंग चढा हुआ है उसने एक ऐतिहासिक उपन्यास की प्रवृत्ति को ही बदल दिया है।

डा० श्याम परमार का 'मोरझाल' (१९६३) मालव प्रदेश के भीलो के जीवन पर आधारित एक लघु उपन्यास है। भील एक आदिवासी जाती है अत आंचलिक निरूपण के लिए पूर्ण उपयुक्त भी है परन्तु उपन्यासकार ने नाथ्या, सुन्दर्या और बना की कथा के समकक्ष ही सोम और माधवी जैसे अनाचलिक पात्रों की कथा को महत्व प्रदान कर दिया है। उपन्यास का शीर्षक भी इस अनाचलिकता की पुष्टि करता सा लगता है। फिर भी उपन्यास की भाषा एव शैली आंचलिक उपन्यास के अनुरूप ही है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानो द्वारा आंचलिक उपन्यासो के अतर्गत परिगणित कृतियों पर विस्तार से विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुचने हैं कि अंचल के सबंध म विद्वानो की भिन्न मान्यताओ के कारण ही आंचलिक उपन्यासो की प्रवृत्ति के संबध मे निश्चित धारणा बनाना कठिन रहा है। इसी कारण आंचलिक उपन्यासों की प्रत्येक विद्वान की अपनी अलग सूची मिलती है। 'भूमिका' मे अंचल एव आंचलिकता की परिभाषा प्रस्तुत करके भिन्न मान्यताओ के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। उसी समन्वित मत के आधार पर उपर्युक्त, विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है जो साहित्य-जगत् मे आंचलिक उपन्यासो के संबध मे फैली हुई भ्रान्ति को दूर करने में सहायक होगा।

इस वर्गीकरण से हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो की यह विशेषता भी स्पष्ट हो गई है कि जन-जीवन से संबधित आंचलिक उपन्यासो की तुलना मे जन-जातियो से संबधित आंचलिक उपन्यासो की संख्या बहुत कम है। आंचलिक उपन्यासो की विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक था अन्यथा उपन्यासो के वर्गीकरण के और भी आधार होते है। श्रीनारायण अग्निहोत्री ने

१ वही, परिचय, पृष्ठ ७-८।

ऐसे तेरह आधार प्रस्तुत किये है।[१] इन तेरह मे भी कई वर्गों के अनेक उप वर्ग बन गए है। उदाहरणार्थ, वर्गीकरण के प्रथम आधार 'वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से' मे पुन सात वर्ग बन गए है 'शैली की दृष्टि से' के चार और 'उद्देश्य की दृष्टि से' के पुन सात। यह वर्गीकरण और उप वर्गीकरण आचलिक उपन्यासो की दृष्टि मे विशेष महत्त्व नही रखता क्योकि आचलिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य की एक विधा है और उसके अतर्गत आने वाले उपन्यासो की सख्या बहुत कम है। यदि इन सभी आधारो पर वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया भी जाए तो कई वर्गो मे केवल एक ही उपन्यास का नाम आयेगा और कई के अतर्गत एक का भी नही। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचलिकता एक प्रवृत्ति है जो वर्गीकरण के अन्य आधारो की अपेक्षा नही रखती फिर भी इस प्रबध म आचलिक उपन्यासो की प्रवृत्ति की दिशाओ पर आवश्यकतानुसार विचार कर लिया जायेगा।

---

१. श्रीनारायण अग्निहोत्री, 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन', पृष्ठ २७५।

तृतीय अध्याय

वस्तु-शिल्प

उपन्यास व्यापक जीवन की कथा कहता है परन्तु एक केन्द्रीय कथा के माध्यम से, अत उसकी कथा-वस्तु मे फैलाव होने के साथ आतरिक एकात्म्य भी होता है। यह एकात्म्य कथा की प्रवृत्ति के आधार पर कई रूपो मे प्रा त होता है। यदि चरित्र-प्रधान उपन्याम मे चरित्र ही केन्द्रीय वस्तु बन जाता है तो मनो-वैज्ञानिक उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और ऐतिहासिक उपन्याम म ऐतिहासिक दृष्टि। इस दृष्टि से देखा जाय तो आचलिक उपन्याम की कथा-वस्तु मे अन्य उपन्यासो की कथा-वस्तु की तुलना म एक प्रमुख अनर दिखाई दता है। जहा अन्य उपन्यासो की कथा-वस्तु मे फैलाव (विस्तार) होता है वहा आचलिक उपन्यास की कथा-वस्तु मे बिखराव। अर्थात् शुद्ध वस्तु की दृष्टि स कथा मे एक-सूत्रता अथवा सुसबद्धता नही दिखाई देती। 'परती परिकथा पर तो प्रमुख आरोप ही यह लगाया जाता है कि उसमे कोई केन्द्रीय कथा-वस्तु नही है। आरोप उचित भी है और नही भी। यदि केन्द्रीय कथा वस्तु से अभिप्राय पात्र विशेष की कथा अथवा केन्द्रीय विचार से हो (इस आरोप क पीछे यही अभिप्राय है) तब तो अवश्य यह उचित है, परन्तु आचलिक कथा मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति होती ही नही, उसमे बिखराव की प्रवृत्ति होती है क्योकि उसका उद्देश्य अचल के जीवन को उसके समग्र रूप मे प्रस्तुत करना होता है। इस बिखराव मे भी एक-रूपता नही होती। कही यह कथागत होता है और कही जीवन-गत। 'परती परिकथा', 'सागर लहरे और मनुष्य', 'वरुण के बेटे', 'बहती गगा, जैसे उपन्यासो मे यह कथागत है और 'कब तक पुकारू', 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'काका', जैसे उपन्यासो मे जीवन-गत।

कथागत बिखराव

कथागत बिखराव म कथा की अनेक दिशाए होती है और उनके अनेक पात्र, जीवन-गत बिखराव मे पात्र कम होते है परन्तु जीवन की नाना अवस्थाए उद्-घाटित हो जाती है। यह भी कह सकते है कि प्रथम प्रकार के बिखराव मे उपन्यास

सामाजिक दीखता है और दूसरे प्रकार के बिखराव मे चरित्र-प्रधान। प्रथम मे केन्द्रीय कथा नही मिलती, द्वितीय मे किसी एक पात्र की कथा केन्द्रीय कथा होने का आभास देती है परन्तु वह आचलिक जीवन के उद्घाटन का माध्यम मात्र होती है क्योकि वह पात्र अन्य पात्रो की तुलना मे विशिष्ट स्थिति रखता है। इन दोनो कथा प्रकारो पर किंचित विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

'बहती गगा' मे सत्रह भिन्न कथाओ की सयोजना है परन्तु वे सब मिलकर काशी नगरी के दो-सौ वर्षों के जीवन को प्रभावशाली रूप मे उद्घाटित करती है। इसी प्रकार 'परती परिकथा' मे जितेन्द्र, शिवेन्द्र, मिसेज रोजउड, ताजमनी, मलारी आदि अनेक पात्रो की छोटी-बडी कथाए मिलकर परानपुर ग्राम के जीवन की गाथा अत्यन्त प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करती हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' मे तो कथा का विभाजन ही प्रमुख पात्रो की कथा के अनुसार अलग-अलग खण्डो मे किया गया है। यही नही, प्रत्येक खण्ड का नामकरण भी उस खण्ड की कथा के प्रमुख पात्र के नाम पर किया गया है। 'वरुण के बेटे' मे पात्रो की कथा इतनी नही उभरती जितनी विभिन्न पात्रो के माध्यम से मछुओ के जीवन की। 'मैला आचल' मे से कितनी ही कथाए अलग-अलग निकाली जा सकती है—बालदेव की कथा, लछमीदासी की कथा, डा० प्रशान्त की कथा, बामनदास की कथा, आदि। 'लोक परलोक' उत्तर-प्रदेश एक तीर्थ-ग्राम के जीवन का चित्रण करता है, उसमे भी कथा केन्द्रीकृत नही है। "इसके आचलिक होने का सबसे बडा आधार यही है कि इसमे चरित्रो के स्वतत्र विकास की ओर लेखक का ध्यान उतना न होकर सम्पूर्ण अचल हो चरितार्थ करने की ओर दिखाई देता है। यही कारण है कि उपन्यास मे कई लघु-लघु उप-कथाए चलती है।"[१] 'जगल के फूल' मे यह स्थिति कुछ भिन्न प्रकार से आई है। ऊपर से देखने पर यह सुलकसाए और महुआ की कथा होने का आभास दे सकता है। परन्तु वास्तव मे वह जगल के अनेक फूलो की कथा है। सुलक एव महुआ की प्रेम-कथा उसकी केवल एक उप-कथा है। 'अलग अलग वैतरणी' की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। उपन्यास की कथा विपिन के करैता आगमन के समय से आरभ होती है और उसके नौकरी के लिए करैता छोडकर जाने के साथ ही समाप्त हो जाती है। इससे ऐसा लग सकता है जैसे वह उपन्यास का नायक हो परन्तु वह तो बुझारथसिंह, जैपालसिंह, जगन मिसिर, शशिकान्त और दयाल महाराज जैसा ही एक पात्र है जो स्वय भी ग्राम-जीवन के प्रवाह मे बहता है उसे नियन्त्रित नही करता। कुछ पात्रो की कथाए तो अपने आप मे इतनी पूर्ण है कि पृथक् से छप सकती थी जैसे बत्तीस पृष्ठो मे फैली शशिकान्त की कथा 'धर्मयुग' मे और चवालीस पृष्ठो मे फैली जगन मिसिर की

१ उदयशकर भट्ट व्यक्ति और साहित्यकार,' (भट्टजी के आचलिक उपन्यास), पृष्ठ १३०।

कथा 'सारिका' मे धारावाहिक रूप मे छपी। द्वितीय अध्याय की राजो और देवपाल की प्रेम-कथा ता एक अलग ही पूर्ण कथा है। 'ब्रह्मपुत्र' की स्थिति और भी विशिष्ट है। उसमे सभी पात्र लगभग समान महत्त्व प्राप्त कर गये है। अतुल, देवकान्त, जूनतारा, आरती साधन मीरी, राखाल काका, नीरद आदि किस की कथा को अधिक महत्त्व दें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। सत्य तो यह है कि किसी एक पात्र की कथा को महत्त्व मिला ही नही है। इस प्रकार के बिखराव का सुन्दरतम रूप श्री सुरेन्द्रपाल के 'लोक लाज खोई' मे अभिव्यक्त हुआ है। उपन्यास मे सोलह अध्याय हैं और केवल ग्यारहवें अध्याय को छोडकर प्रत्येक अध्याय में एक भिन्न कथा कही गई है। इस प्रकार लगड पडित पर्त्तेसिह, तुलसी साहू, सुरसा काकी, मगरी, देवबरन, महेन्दर कोहार चन्दुआ नचनिया आदि की कथाए मिलकर जैनाथपुर के सामाजिक जीवन को कुशलता से उद्घाटित करती है।

जीवन-गत बिखराव

जीवन-गत बिखराव जिन उपन्यासो मे होता है उनमे कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते है परिणामस्वरूप पात्र-सयोजना मे सकोच आ जाता है। अत ऐसे उपन्यास किसी सीमा तक चरित्र-प्रधान दीखने लगते है। 'कब तक पुकारू' इसी कोटि के उपन्यासो का सुन्दर उदाहरण है। प्रथम, वह जाति विशेष (नट) के जीवन को उद्घाटित करने वाला है (अचल को नही), द्वितीय, उसकी शैली आत्मकथात्मक है। अत वह चरित्र प्रधान होने का निश्चित आभास देता है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। सुखराम के चरित्र के समकक्ष ही प्यारी, कजरी एव रुस्तम खा के चरित्र भी प्रभावशाली ढग से उद्घाटित हुए है। फिर भी यह कम महत्त्व की बात नही कि लगभग साढे छ सौ पृष्ठो के इस वृहत् उपन्यास मे इतने ही पात्र उभर पाते हैं। 'रतिनाथ की चाची' मे गौरी (रतिनाथ की चाची) और रतिनाथ दोनों ही लगभग समान महत्त्व प्राप्त कर लेते है, अन्य सभी पात्र मिथिला के ग्राम-समाज की प्रवृत्तियो का उद्घाटन मात्र करते हैं। 'दु खमोचन' मे दु खमोचन ही सबके ऊपर छाया हुआ है। शैलेश मटियानी के 'चिट्‌ठीरसैन' एव 'हौलदार मे क्रमश हौलदार नाथूसिह और डूगरसिह सबसे अधिक उभरते हैं और कथा के अधिकतम भाग से सबद्ध है। इन उभरे पात्रो के सहयोग से अन्य पात्र आचलिक जीवन का व्यापक रूप उद्घाटित करते है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो प्रकार के बिखराव अन्त मे आचलिक कथा की सिद्धि मे सहायक होते है—कथानक अथवा पात्र के माध्यम से।

क्षेत्रिय कथा-वस्तु, रूप एव विशिष्टताए

आचलिक कथा-वस्तु की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह क्षेत्रीय कथा कहनी है। उपन्यासकार एक अचल चुन लेता है और उसी के जीवन को समग्र रूप मे प्रस्तुत करता है। यह जीवन सामान्य देशीय जीवन मे भिन्न एव अपने आप मे विशिष्ट होता है। 'क्षेत्रीय जीवन' शब्द से कोई भ्रम न हो इसलिए यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहा क्षेत्रीय जीवन से तात्पर्य स्थान विशेष अथवा वर्ग-विशेष के जीवन से है क्योकि दोनो का आधार लोक-जीवन होता है—ऐसा लोक-जीवन जो अन्य स्थानों या अन्य वर्गों मे नही मिल सकता। इस दृष्टि से जैसे एक स्थान पर बसे गोडो के जीवन की अपनी विशिष्टता होती है उसी प्रकार विभिन्न स्थानो मे घूमने वाले नटो की भी अपना एक विशिष्ट प्रकार का जीवन होता है। अत सीमित क्षेत्र का अर्थ केवल भौगोलिक सदर्भ मे ही नही, विशिष्ट जीवन प्रणाली के सदर्भ मे भी लगाया जा सकता है।

आचलिक कथा क्षेत्रीय कथा होती है अर्थात् क्षेत्र विशेष के जीवन से ही सबद्ध होती है। किसी भी आचलिक उपन्यास की कथा से इस मत की पुष्टि की जा सकती है। कुछ प्रमुख उपन्यासो (आचलिक) के उदाहरण ले लेना अधिक युक्ति-सगत होगा। 'मैला आचल' मे बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगज गाव की कथा है पूर्ण जिले अथवा राज्य से उसका कोई सबध नहीं। इसी प्रकार परती परिकथा' दुलारीदाय के अचल मे फैले हुए धूसर वीरान अन्तहीन प्रान्तर—परती जमीन, वध्या धरती की कथा है। शैलेश मटियानी के उपन्यासो 'होलदार', 'चिटठीरसैन' एव 'चौथी मुट्ठी' मे अलमोडा के अचल मे निवास करने वाले पर्वतीया की कथा है। 'ब्रह्मपुत्र' मे ब्रह्मपुत्र के अचल मे बसे दिसागमुग्न के उठते-गिरते जीवन की कथा है। क्षेत्र के अन्य रूप जाति अथवा वर्ग की कथा के उदाहरण 'कब तक पुकारू', 'वरुण के बेटे', 'जगल के फूल', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'रथ के पहिये', 'काका', 'लोक परलोक', 'आठवी भावर' आदि से दिये जा सकते है जहा नटो, मछुओ, गाडा, पण्डो और गोमाइया का जीवन अभिव्यक्त हुआ है। केवल कथा के कारण जिन उपन्यासो को आचलिक उपन्यासो की श्रेणी मे रख दिया जाता है उनकी कथा भी क्षेत्रीय कथा होती है। वनभद्र ठाकुर के उपन्यास इसी कोटि के अतर्गत आवेंगे। यदि 'मुक्तावती' मणीपुरी जन-जीवन का चित्रण करता है तो 'आदित्यनाथ' कुल्लू उपत्यका की एक अनजान परन्तु अनोखी घाटी के निवासियो का और 'नेपाल की वो बेटी' पश्चिमी नपाल के एक विशेष क्षेत्र—कालीगडक की उपत्यका के ग्रामीण क्षेत्र—की कथा कहना है। रेणु के 'जुलूस' एव रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' को भी इसी दृष्टि से आचलिक माना जा सकता है। 'जुलूस' की विशेपता ही यह है कि उसकी नायिका पविना के अनाचलिक पात्र होने पर भी वह एक आचलिक उपन्यास बन गया है क्योकि गोढियार

गाव और बंगाली शरणार्थियो की कालोनी ने कथा को क्षेत्रीयता प्रदान कर दी है। इसी प्रकार 'पानी के प्राचीर' गोरखपुर जिले के राप्ती और गौरी नदियो की धाराओ से घिरे हुए एक विशाल भू-भाग की कहानी है।

जिन उपन्यासो मे क्षेत्रीय कथा आचलिक कथा का रूप नही ले पाती है उन्हे अन्य तत्त्वो मे आचलिकता होते हुए भी वस्तु की दृष्टि से आचलिक नही माना जा सकता यद्यपि ऐसे उपन्यासो को भ्रमवश आचलिक उपन्यास की सज्ञा दे दी जाती है।[१] ऐसे उपन्यासो मे 'कोहबर की शर्त' (केशवप्रसाद मिश्र), 'गगा मैया' (भैरव-प्रसाद), 'बया का घोसला और साप' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'मैत्रेय' (गोविंद-वल्लभ पत), 'अविरल आसू' (महन्त धनराज पुरी), 'दीर्घतपा' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'बबूल' (विवेकी राय) आदि प्रमुख है।

यथार्थ जीवन का आधार

आचलिक उपन्यास की कथा क्षेत्र-विशेष की कथा होती है और इस क्षेत्र विशेष मे आचलिकता उस क्षेत्र विशेष के यथार्थ जीवन पर दृष्टि होने के कारण अवतरित होती है। इस यथार्थ का आभास इस कारण होता है कि अचल विशेष की स्थिति एव समस्याओ का प्रभावशाली ढग से निरूपण किया जाता है। ये स्थिति एव समस्याए वहा की जानी-पहिचानी, परन्तु अपने आप मे विशिष्ट होती हैं। उदाहरण-स्वरूप यदि 'जगल के फूल' मे गोडो की अशान्ति के कारण पर दृष्टि-पात करें तो वह इतिहास सगत ही दीखेगा। गोडो की शिकायत है कि, "आजकल हमारे राजा रुद्र प्रताप देव ने बाहर से गोरो को बुला लिया है 'आज-कल सारा काम गोरे करने लगे हैं। हमारा राजा बस नाम के लिए है।"[२] एक विदेशी उनके ऊपर शासन की देखभाल करने के लिए थोप दिया गया था। इस बात की पुष्टि 'द इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया' भी करता है।[३]

गोडो का विद्रोह भी एक वास्तविक घटना थी और उनके जीवन की प्रणाली एक आचलिक सत्य है। इसी यथार्थ धरातल पर महुआ, सुलकसाए, गुण्डाधूर, झालरसिंह आदि के विद्रोह की कथा की अवतारणा की गई है। परिणाम जो हुआ वह भी एक वास्तविकता थी, परन्तु इस माध्यम से गोडो के वास्तविक

---

१ परन्तु कई बार कथा के क्षेत्रीय होने के बाद भी उपन्यास को आचलिक नही माना जाता क्योकि आचलिकता एक दो तत्त्वो में ही निहित नही होती। पात्र, भाषा, शैली, मे आचलिकता के साथ उपन्यास की आत्मा मे भी आचलिकता होनी चाहिए। इस सबध मे विशेष विवरण के लिए अध्याय २ (आचलिक उपन्यासो का वर्गीकरण) का पुन अवलोकन उपयुक्त होगा।

२ 'जगल के फूल', पृष्ठ १५१।

३. 'द इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया', खण्ड ७ (१९०८), पृष्ठ १२२।

जीवन को कुशलता से उभारा गया है। गोंडों के जीवन एवं गोंड राष्ट्रवाद की यथार्थ पृष्ठ-भूमि पर सारे उपन्यास की काल्पनिक कथा आधारित है।

'बहती गंगा' को तो श्री सीताराम चतुर्वेदी ने ऐतिहासिक उपन्यास ही मान लिया है।[1] लेखक ने भी अपनी 'सन्दर्शिका' में लिखा है—

"बहती गंगा की प्रत्येक तरंग का आधार कोई न कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति, प्रथा या परम्परागत जनश्रुति है।'[2]

"शेष अध्यायों (आधुनिक काल से सम्बंधित) में वर्णित घटनाओं की मुझे प्रत्यक्ष जानकारी रही है।···उनके कुछ पात्र अब भी जीवित हैं।'[3]

कहने की आवश्यकता नहीं कि तलवारिया दाताराम, नागर, भगड भिक्षुक, गौरी, चित्रकार रामदयाल, अमीरन रंडिया, शिवनाथ एवं बहादुरसिंह से सम्बंधित कथाएं यथार्थ की पृष्ठ भूमि पर कल्पना की सुन्दर अवतारणा का अनुपम उदाहरण हैं।

'मैला आंचल' में बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव के जीवन में जिस सामाजिक अशांति का चित्रण किया गया है वह १९४६-४८ के काल की वास्तविकता थी। यह काल वास्तव में राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक जागृति और आर्थिक समस्याओं का काल था। भूमि का नया बन्दोबस्त हो रहा था और मलेरिया उन्मूलन अभियान प्रारम्भ हो गया था। इसी यथार्थ आधार पर डा० प्रशान्त के माध्यम से सेवा-धर्म, बालदेव के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना, खेलावन यादव, कालीचरण, हरगौरी सिंह, तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद, रामकिरपाल सिंह आदि के माध्यम से सामाजिक जीवन और जोतखीजी तथा लक्ष्मीदासी के माध्यम से धार्मिक जीवन के काल्पनिक चित्र खींचे गए हैं। ट्रैक्टर या मशीन के लिए प्रयास एवं मिलों की स्थापना जीवन पर किस प्रकार प्रभाव डाल रही थी इसका भी उपन्यासकार ने कुशलता से समावेश कर दिया है। 'परती परिकथा' में बिहार के विगत सामन्तवाद तथा वर्तमान राजनीतिक अखाड़ेबाजी का ही चित्रण नहीं है, कोसी-योजना तथा तज्जनित वास्तविक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में धूसर धरती की कथा की भी सुन्दर कल्पना की गई है।

श्री रांगेयराघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूं' की सुखराम एवं प्यारी की कथा का आधार यह सामाजिक यथार्थ है कि करनट जरायम पेशा जाति होती है जिसमें मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं; उनमें 'शील' के अपहार पर कोई बुराई नहीं मानी जाती, वे सत्ताविहीन होते हैं और अनुशासक वर्ग द्वारा शोषित होते हैं।

---

१ श्री सीताराम चतुर्वेदी, 'बहती गंगा' (परिचय), पृष्ठ ६।
२ श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'बहती गंगा' (सन्दर्शिका), पृष्ठ १०।
३ श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', 'बहती गंगा' (सन्दर्शिका), पृष्ठ १२।

श्री आनन्द प्रकाश जैन के उपन्यास 'आठवी भावर' में गोमाइयों में प्रचलित आटे-साटे विवाह की प्रथा तथा पति-पत्नी संबंधों की विशिष्टता को कथा का आधार बनाया गया है। गोमाइयों में फेरे केवल रीति-निर्वाह के लिए होते हैं। 'बैठने की खातर नी होंवे'।[1] इसी प्रकार 'कोहरे में खोए चादी के पहाड' में जौनसार-बावर में प्रचलित बहुपतीत्व तथा उससे संबंधित समस्याओं को कथा के माध्यम से उद्घाटित किया गया है।

कल्पना का स्थान

आंचलिक उपन्यासों में अधिकतर उपन्यास ऐसे हैं जिनका यथार्थ धरातल उन अंचलों की विभिन्न समस्याएं तथा वहां का लोक-जीवन है। इन्हीं को काल्पनिक कथानक द्वारा उद्घाटित किया गया है। इस प्रकार 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा 'वरुण के बेटे' में मछुओं का जीवन एवं उनकी समस्याएं हैं, 'काका' एवं 'लोक-परलोक' में पण्डों का जीवन तथा श्री शैलेश मटियानी के सभी उपन्यासों में अलमोड़ा प्रदेश का जन-जीवन चित्रित है। श्री नागार्जुन के 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ' आदि उपन्यासों में मिथिला का जन-जीवन अत्यन्त मुखर हो उठा है। मध्य-प्रदेश के गोंडों के जीवन पर दो उपन्यास हैं देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' और राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरन की छांह'। सत्यार्थी जी के 'ब्रह्मपुत्र' में असम का सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का दर्शन होता है तथा 'पानी के प्राचीर' (रामदरश मिश्र), 'सत्ती मैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त) आदि में उत्तर-प्रदेश के जन-जीवन का। वैसे भी उपन्यास की कथा वास्तविकता की आधार भूमि पर कल्पना का भवन निर्माण करती है और आंचलिक उपन्यास भी उपन्यास होता है इसलिए यथार्थ की आधार भूमि को वह छोड़ नहीं सकता। अंतर इतना होता है कि जहां अन्य उपन्यासों का यथार्थ सामान्य यथार्थ होता है, वहां आंचलिक उपन्यासों का यथार्थ, विशिष्ट यथार्थ होता है क्योंकि वह अंचल की विशिष्ट समस्याओं एवं जीवन पर आधारित होता है। इस तथ्य की विवेचना इसी भाग में आगे विस्तार से की गई है अतः इस स्थान पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आंचलिक यथार्थ, जिसका संबंध उस अंचल के जन-साधारण से होता है, आंचलिक कथा-कल्पना का आधार बनता है।

इस काल्पनिक यथार्थ की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि यथार्थ एवं कल्पना को भावना की पृष्ठ-भूमि पर अंकित किया जाता है। जितना ही शुद्ध आंचलिक उपन्यास होगा, भावना की पृष्ठ-भूमि उतनी ही अधिक मुखर होगी। इस भावनात्मक पृष्ठ-भूमि का निर्माण कथा की योजना में प्रयुक्त तत्त्वों

---

१. आठवी भावर, पृष्ठ १०३।

से होता है। ये तत्त्व है—प्रेम प्रसग, लोक कथाए, लोक गीत, लोक उत्सव एव समारोह तथा विशिष्ट शैली। अग्रिम पृष्ठो मे इन पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

कथा की योजना

आचलिक उपन्यास की कथा का कलेवर अत्यत व्यापक एव बिखरा हुआ होता है। सम्पूर्ण अचल को सशक्त रूप से उदघाटित करने के लिए यह आवश्यक भी होता है। यद्यपि उपन्यास मे सामान्य रूप से आधिकारिक कथा, प्रासगिक कथा एव उप कथाओ की मिश्रित सयाजना रहती है तथापि आचलिक उपन्यास मे इस प्रकार के कथानक विभाजन के लिए सुदृढ आधार प्राप्त नही होता। किसी कथा को आधिकारिक कथा कहने का तात्पर्य है, उस कथा से सबधित पात्र को नायक मान लेना और उस मानवीय कथा को कथानक का आधार स्वीकार कर लेना। परन्तु आचलिक कथानक का नायक तो अचल होता है कोई मानव नही। इसलिए जिस सीमा तक मानवीय कथा को प्रामुख्य प्राप्त होता है उसी सीमा तक कथानक को आचलिकता का भी ह्रास हो जाता है। उदाहरणार्थ श्री भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गगा मैया' मे गोपी, मटरू, और गोपी की भाभी की कथाए उपन्यास पर इस तरह छाई रहती है कि अचल की कथा गौण हो जाती है। इसी प्रकार 'कोहबर की शर्त' मे चदन, ओकार और गुजा की कथा एव उनके चरित्र के मनोवैज्ञानिक निरूपण को ही सपूर्ण महत्त्व प्राप्त हुआ है। श्री लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोसला और साप' तो सुभागी के जीवन सघर्ष की गाथा मात्र बनकर रह गया है। श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'नेपाल की वो बेटी', 'मुक्तावती' और 'आदित्यनाथ' भी सामाजिक उपन्यास कहलाने के अधिकारी अधिक हैं, आचलिक कम क्योकि आचलिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन का उदघाटन ही वे अधिक कुशलता मे करते हैं फिर भी इनके कुछ तत्त्वो मे आचलिकता है।

इसमे सदेह नही कि आचलिक उपन्यासो मे कई बार कोई मानवीय कथा आधिकारिक कथा होने का आभास देने लगती है। ऐसा प्राय दो कारणो से होता है—प्रथम, पात्र विशेष के प्रखर व्यक्तित्व के कारण, द्वितीय, पात्र विशेष के भावात्मक निरूपण के कारण। इन दोनो ही स्थितियो मे कोई एक कथा अन्य कथाओ की तुलना मे प्रामुख्य पा लेती है। उदाहरणार्थ, 'सागर लहरें और मनुष्य' मे रत्ना की कथा, 'कब तक पुकारू' मे सुखराम की कथा, 'आठवी भावर' मे सदानन्द की कथा, 'मैला आचल' मे डाक्टर प्रशान्त व कमला की कथा अथवा 'परती परिकथा' मे जितन व ताजमनी की कथा, आधिकारिक कथा होने का आभास देती है, परन्तु वास्तव मे ऐसा है नही। 'सागर लहरें और मनुष्य' मे मछुआ

समाज के जीवन, समस्याओ एव अभावो का चित्रण है और 'कब तक पुकारू' मे नटा के जीवन की विभीषिका का। दो प्रखर पात्रो के कारण दोनो ही उपन्यासो के चरित्र प्रधान होने का भ्रम होने लगता है। इसी प्रकार डा० प्रशान्त व कमला की कथा तथा जितन व ताजमनी की कथा, दोनो ही उपन्यासो की अत्यत गौण कथाए हैं परन्तु अनुभूति की जिस गहराई से इन चारो पात्रो का चित्रण किया गया है वे हमारी भावना को इस सीमा तक जाग्रत् कर देते है कि उनकी कथाओ मे हमे गहरी रसानुभूति प्राप्त होने लगती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मेरीगज के जीवन एव समस्याए तथा परती भूमि की कथा महत्त्व खो बैठती है। मस्तिष्क पर तो छाप जन-जीवन की समस्याओ को ही पडती है, हृदय अवश्य उन कथाओ मे बह जाता है। भावाकुलता के शान्त हो जाने पर सम्पूर्ण अचल मानस-पटल पर अपनी पूर्णता मे चित्रित हो जाता है। वस्तु-शिल्प की दृष्टि से भी इन चारो उपन्यासो मे पूर्ण बिखराव है। 'सागर लहरें और मनुष्य' के प्रथम खण्ड म *वशी एव विट्ठल की कथा के माध्यम से बरसोवा के मछुओ के जीवन का अत्यत* कुशलता से चित्रण किया गया है परन्तु उसी के साथ रत्ना के माध्यम से मछुआ समाज मे शिक्षित लडकियो की स्वच्छन्दता एव तत्सबधी समस्याओ का भी चित्रण हो गया है। दूसरे भाग मे माणिक की कथा मछुआ समाज के जीवन से हटकर चलने वाली कथा है, इसी प्रकार तीसरे खण्ड की रत्ना की कथा उपन्यास की प्रमुख समस्या, शिक्षित मछुआ कन्या की समस्या, का उद्घाटन करती है। अतिम खण्ड मे यशवत की कथा है जो मछुआ समाज मे प्रवेश करती हुई नई चेतना को व्यक्त करती है। इस प्रकार उपन्यास की कथा-वस्तु की सम्पूर्णता के परिप्रेक्ष्य मे रत्ना की कथा चार कथाओ मे एक कथा मात्र रह जाती है।

'कब तक पुकारू' मे सुखराम सारी कथा को सुनाने वाला अवश्य है परन्तु उसकी कथा नट-जाति के जीवन के जिस अभिशाप को व्यक्त करती है वह उसकी स्वय की कथा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण प्यारी, कजरी, रुस्तम खा तथा चन्दा और नरेश की कथाए सम्पूर्ण कथानक को तीन भिन्न दिशाओ मे खीचती है। ये तीनो ही कथाए सुखराम की कथा के साथ मिलकर ही नटो के यथार्थ जीवन की झाकी प्रस्तुत कर पाती हैं। यही स्थिति 'आठवी भावर' की भी है जिसमे पति पत्नी सबधो की कथा ही प्रमुख है, सदानन्द के मनोवैज्ञानिक सघर्ष की नही।

'मैला आचल' मे डा० प्रशान्त और कमला सभवत सबसे गौण पात्र हैं परन्तु डा० प्रशान्त ग्रामवासिनी भारत-माता के आचल के तले, आसू से भीगी धरती पर, प्यार की खेती करने के लिए प्रतिश्रुत है। उसका चरित्र, त्याग, प्रेम एव सहिष्णुता के भावो से परिव्याप्त है, और कमला ? वह तो बस प्रेम करती है—यह प्रेम उपन्यास की गहराई है, परन्तु बिखराव अन्य अधिक सक्रिय एव

प्रभावशाली पात्रों के जीवन की समस्याओं में व्यक्त हुआ है और वहीं आंचलिक जीवन के यथार्थ का निरूपण भी। इस दृष्टि से यह प्रेम-कथा प्रासंगिक कथा से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहती। यही बात बालदेव की कथा, बावनदास की कथा, लक्ष्मी-दासी की कथा आदि के संबंध में भी कही जा सकती है। संक्षेप में, इस उपन्यास में या तो कोई कथा आधिकारिक कथा नहीं है या सभी कथाएं आधिकारिक हैं।

'परती परिकथा' की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं। वहां तो जितेन्द्र एवं ताजमनी की कथा के समकक्ष शिवेन्द्र मिश्र एवं गीता रोजउड की कथा की संयोजना भी है। यह दूसरी कथा अधिक प्रखर है। परन्तु परानपुर ग्राम के संपूर्ण जीवन की कथा तो लुत्तो, मलारी, भिम्मल मामा, गरुड्ध्वज झा, जैसे पात्रों की कथाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई है। उसका राजनैतिक पक्ष कुबेरसिंह एवं मकबूल की कथाओं के अभाव में अपूर्ण ही रह जाता। यहां भी कोई एक कथा सर्व प्रमुख नहीं है, सभी कथाएं आंचलिक जीवन को उद्घाटित करने के लिए परमावश्यक हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यास में कोई एक कथा आधिकारिक होने का आभास दे सकती है परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। इसके विपरीत ऐसे आंचलिक उपन्यासों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें कोई एक कथा केन्द्रीय कथा होने का आभास नहीं देती और कथानक का बिखराव भी अत्यंत मुखर होता है। इन उपन्यासों की कथा-वस्तु पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा।

श्री राजेन्द्र अवस्थी का उपन्यास 'जंगल के फूल' का प्रारंभ सुलकमाए और महुआ की कथा से होता है, परन्तु भुमरी-काण्ड और सुलक के गांव छोड़कर भाग जाने के बाद यह प्रेम कथा रुक जाती है और गांडा के सामाजिक-राजनीतिक जीवन की कथा प्रमुख कथा बन जाती है। सुलक और महुआ मिलते अवश्य हैं परन्तु अब प्रेम उनके जीवन का लक्ष्य नहीं रहा। सुलक स्पष्ट रूप में महुआ से कह देता है—' हम अपनी जाति के ढंग से बिहाव नहीं करेंगे, अनबिहाए रहकर भी हम एक साथ रहेंगे और इस तरह घोटुल की जिंदगी भर सेवा करेंगे।'[१] प्रथम प्रेम के चित्रण के बाद अन्त तक उपन्यास में अधिकारों के लिए संघर्ष की कथा कही गई है जो गांडा के जीवन की कथा के विभिन्न पक्ष उद्घाटित करती है। प्रथम-प्रेम के दौरान भी गोंडों के सामाजिक जीवन की कथा ही अधिक उभरती है। इस प्रकार प्रमुख कथा तो बस्तर राज्य के जन-जीवन एवं जन-आन्दोलन की है, अन्य कथाएं उसके कलेवर में विविधता तो लाती है परन्तु प्रासंगिक कथाएं ही बनकर रह जाती हैं।

'वरुण के बेटे' में यह बिखराव और भी अधिक मुखर हो उठा है। प्रारंभ में

१ 'जंगल के फूल', पृष्ठ २२५।

समाज के जीवन, समस्याओ एव अभावो का चित्रण है और 'कब तक पुकारू' मे नटो के जीवन की विभीषिका का। दो प्रखर पात्रो के कारण दोनो ही उपन्यास के चरित्र प्रधान होने का भ्रम होने लगता है। इसी प्रकार डा० प्रशान्त व कमला की कथा तथा जितन व ताजमनी की कथा, दोना ही उपन्यासो की अत्यत गौण कथाए हैं परन्तु अनुभूति की जिस गहराई से इन चारो पात्रा का चित्रण किया गया है वे हमारी भावना को इस सीमा तक जाग्रत् कर देते है कि उनकी कथाओ मे हमे गहरी रसानुभूति प्राप्त होने लगती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मेरीगज के जीवन एव समस्याएं तथा परती भूमि की कथा महत्त्व खो बैठती है। मस्तिष्क पर तो छाप जन जीवन की समस्याओ को ही पडती है हृदय अवश्य उन कथाओ मे वह जाता है। भावाकुलता के शान्त हो जाने पर सम्पूर्ण अचल मानस पटल पर अपनी पूर्णता मे चित्रित हो जाता है। वस्तु-शिल्प की दृष्टि से भी इन चारो उपन्यासो मे पूर्ण बिखराव है। 'सागर लहरें और मनुष्य' के प्रथम खण्ड म वशी एव बिट्ठल की कथा के माध्यम से बरसोवा के मछुआ के जीवन का अत्यत कुशलता से चित्रण किया गया है परन्तु उसी के साथ रत्ना के माध्यम से मछुआ समाज मे शिक्षित लडकियो की स्वच्छन्दता एव तत्सवधी समस्याओ का भी चित्रण हो गया है। दूसरे भाग मे माणिक की कथा मछुआ समाज के जीवन से हटकर चलने वाली कथा है, इसी प्रकार तीसरे खण्ड की रत्ना की कथा उपन्यास की प्रमुख समस्या, शिक्षित मछुआ कन्या की समस्या, का उद्घाटन करती है। अतिम खण्ड मे यशवत की कथा है जो मछुआ समाज मे प्रवेश करती हुई नई चेतना को व्यक्त करती है। इस प्रकार उपन्यास की कथा-वस्तु की सम्पूर्णता के परिप्रेक्ष्य मे रत्ना की कथा चार कथाओ मे एक कथा मात्र रह जाती है।

'कब तक पुकारू मे सुखराम सारी कथा को सुनाने वाला अवश्य है परन्तु उसकी कथा नट-जाति के जीवन के जिस अभिशाप को व्यक्त करती है वह उसकी स्वय की कथा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण प्यारी, कजरी, रुस्तम खा तथा चन्दा और नरेश की कथाए सम्पूर्ण कथानक को तीन भिन्न दिशाओ मे खीचती हैं। ये तीनो ही कथाए सुखराम की कथा के साथ मिलकर ही नटो के यथार्थ जीवन की झाकी प्रस्तुत कर पाती हैं। यही स्थिति 'आठवी भावर' की भी है जिसमे पति पत्नी सबधो की कथा ही प्रमुख है, सदानन्द के मनोवैज्ञानिक सघर्ष की नही।

'मैला आचल' मे डा० प्रशान्त और कमला सभवत सबसे गौण पात्र हैं परन्तु डा० प्रशान्त ग्रामवासिनी भारत माता के आचल के तले, आसू से भीगी धरती पर, प्यार की खेती करने के लिए प्रतिश्रुत है। उसका चरित्र, त्याग, प्रेम एव सहिष्णुता के भावो से परिव्याप्त है, और कमला ? वह तो बस प्रेम करती है—यह प्रेम उपन्यास की गहराई है, परन्तु बिखराव अन्य अधिक सक्रिय एव

प्रभावशाली पात्रो के जीवन की समस्याओ मे व्यक्त हुआ है और वही आचलिक जीवन के यथार्थ का निरूपण भी। इस दृष्टि से यह प्रेम-कथा प्रासगिक कथा से अधिक महत्त्वपूर्ण नही रहती। यही बात बालदेव की कथा, बावनदास की कथा, लक्ष्मी-दासी की कथा आदि के सबध से भी कही जा सकती है। सक्षेप मे, इस उपन्यास मे या तो कोई कथा आधिकारिक कथा नही है या सभी कथाए आधिकारिक हैं।

'परती परिकथा' की स्थिति भी इससे भिन्न नही। वहा तो जितेन्द्र एव ताजमनी की कथा के समकक्ष शिवेन्द्र मिश्र एव गीता रोजउड की कथा की सयोजना भी है। यह दूसरी कथा अधिक प्रखर है। परन्तु परानपुर ग्राम के सपूर्ण जीवन की कथा तो लुत्तो, मलारी, भिम्मल मामा, गरुडध्वज झा, जैसे पात्रो की कथाओ के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई है। उसका राजनैतिक पक्ष कुबेरसिंह एव मकबूल की कथाओ के अभाव मे अपूर्ण ही रह जाता। यहा भी कोई एक कथा सर्व प्रमुख नही है, सभी कथाए आचलिक जीवन को उद्घाटित करने के लिए परमावश्यक हैं।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचलिक उपन्यास मे कोई एक कथा आधिकारिक होने का आभास दे सकती है परन्तु वास्तव मे ऐसा होता नही। इसके विपरीत ऐसे आचलिक उपन्यासो की सख्या बहुत अधिक है जिनमे कोई एक कथा केन्द्रीय कथा होने का आभास नही देती और कथानक का बिखराव भी अत्यत मुखर होता है। इन उपन्यासो की कथा वस्तु पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा।

श्री राजेन्द्र अवस्थी का उपन्यास 'जगल के फूल' का प्रारभ सुलकसाए और महुआ की कथा से होता है, परन्तु भुसरी-काण्ड और सुलक के गाव छोडकर भाग जाने के बाद यह प्रेम कथा रुक जाती है और गोडा के सामाजिक-राजनीतिक जीवन की कथा प्रमुख कथा बन जाती है। सुलक और महुआ मिलते अवश्य हैं परन्तु अब प्रेम उनके जीवन का लक्ष्य नही रहा। सुलक स्पष्ट रूप मे महुआ से कह देता है—' हम अपनी जाति के ढग से बिहाव नही करेंगे, अनबिहाए रहकर भी हम एक साथ रहेगे और इस तरह घोटुल की जिंदगी भर सेवा करेंगे।'[1] प्रथम-प्रेम के चित्रण के बाद अन्त तक उपन्याम म अधिकारो के लिए सघर्ष की कथा कही गई है जो गोडा के जीवन की कथा के विभिन्न पक्ष उद्घाटित करती है। प्रथम प्रेम के दौरान भी गोडा के सामाजिक जीवन की कथा ही अधिक उभरती है। इस प्रकार प्रमुख कथा तो बस्तर राज्य के जन-जीवन एव जन-आन्दोलन की है, अन्य कथाए उसके कलेवर मे विविधता तो लाती है परन्तु प्रासगिक कथाए ही बनकर रह जाती है।

'वरुण के बेटे' मे यह बिखराव और भी अधिक मुखर हो उठा है। प्रारभ मे

१ 'जगल के फूल', पृष्ठ २२५।

भोला एव खुरखुन के धधे तथा उनकी सामाजिक सम्पन्नता विपन्नता का विवरण है, तदनतर मधुरी एव मगल की सक्षिप्त प्रेम-कथा और उसके तुरत बाद मोहन माझी के माध्यम से नवीन सामाजिक एव राजनीतिक चेतना का प्रवेश और जमीदारो के हथकण्डो की कथा प्रारभ हो जाती है और इसी अधिकारा की लडाई क प्रारभ के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'लोक परलोक' मे विभिन्न वर्ग के पात्रो की कथाए बिलकुल अलग-अलग चलती हैं और उपन्यास का कथानक होने के स्थान पर वर्गो की कथा होने का अधिक आभास देती है। इनमे से किसी एक कथा को आधिकारिक कथा नही माना जा सकता सभी प्रासगिक कथाए है और पद्मपुरी के धार्मिक सामाजिक जीवन को स्पष्ट करने का कार्य करती हैं। इस प्रकार आधिकारिक कथा है पद्मपुरी का जीवन चित्रण।

श्री रागेयराघव के 'काका' म मथुरा के पण्डो के जीवन की कथा है, परन्तु किसी एक पात्र की कथा प्रमुख नही। यदि काका परसराम की कथा प्रारभिक भाग म महत्त्वपूर्ण है तो मध्य तथा अतिम भाग मे बिन्दिया एव रामधुन की कथा। परन्तु जो नायक दीखता है (काका) उसकी कथा से अधिक प्रभावशाली अन्य पात्रा की कथाए है। यही नही, उनका चरित्र भी अधिक प्रखर है। काका तो बस कथानक के सूत्रा को जोडे रखने का कार्य करते है क्योकि उन्ही के माध्यम से परमसुख, बिन्दिया, रामधुन और कान्ता एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं। सभी की कथाए अपना स्वतत्र अस्तित्व रखती हैं परन्तु समग्र रूप मे मथुरा के पण्डा का जीवन कुशलता से अभिव्यक्त करती है।

श्री शैलेश मटियानी के दो उपन्यासो 'चिट्ठीरसैन' एव 'चौथी मुट्ठी' मे किसकी कथा को आधिकारिक कहा जाय और किसकी कथा को प्रासगिक यह निर्णय करना सरल नही क्योकि प्रथम म चिट्ठीरसैन की कथा सबसे गौण है और द्वितीय मे चौथी मुटठी की कथा प्रमुख कथा नही है। 'चिट्ठीरसैन' म हौलदार नार्थूसिह एव रमौती की कथाए अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण भी परन्तु इनसे भी प्रमुख है पहाडी जीवन के आपसी मनमुटाव की कथा। दूसरी ओर 'चौथी मुट्ठी' मे दो कथाए है—रतनसिह डोगरी की पुनवधू कौशिला की कथा और रायल फोटोग्राफर की घरवाली मोतिमा मस्तानी की कथा जो समान रूप से महत्त्वपूर्ण है और स्वतत्र भी। ये कथाए दो अलग-अलग खण्डो मे कही गई है और पाच पृष्ठो के अतिम खण्ड 'चौथी मुट्ठी' मे जोड दी गई हैं। इस प्रकार या तो दोना ही कथाए आधिकारिक है अथवा दोनो ही प्रासगिक। फिर भी इस उपन्यास के कथानक मे आचलिकता कम है, भाषा-शैली मे अधिक।

श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'मुक्तावती' मे मुक्तावती और चन्द्रावत की

प्रेम-कथा अत्यत गौण है यद्यपि उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय वही है। उपन्यास प्रमुख रूप से सामाजिक राजनीतिक सघर्ष की कथा कहता है।

'ब्रह्मपुत्र' के नाम से ही यह व्यक्त हो जाता है कि यह किसी मानव पात्र विशेष की कथा नही कहता—कथा प्रमुख रूप से ब्रह्मपुत्र की, उसके व्यक्तित्व के असम के जन-जीवन पर प्रभाव की है। इसी कारण सभी मानव कथाए चाहे वे देवकान्त से सबधित हो, चाहे अतुल से, चाहे जूनतारा से, चाहे आरती से, चाहे राखाल काका से अथवा नीरद से, सभी पूरक कथाए हैं।

'लोक लाज खोई' मे भले ही कोई हवलदारिन भौजी की कथा को केन्द्रीय कथा मान ले परन्तु वह सबमे गौण कथा है और सबसे कम स्थान घेरती है। हा, उसकी पृष्ठ भूमि अवश्य अन्य चौदह भिन्न कथाओ को उद्घाटित करने के लिए आवश्यक है। उपन्यास का सम्पूर्ण सौदर्य अन्य कथाओ म ही निहित है।

'आठवी भावर' मे तो वास्तव मे कथा जैसी कोई कथा ही नही है। सरबतिया का विवाह सदानन्द से हुआ था परन्तु वह उसे पत्नी के रूप मे स्वीकार नही कर सका। विवाह तो पार्वती का भी उसी के साथ हुआ था परन्तु वह बडे भाई रामानन्द की घरवाली बनकर रह गई। उपन्यास के कथानक को यदि रामानन्द की स्वार्थपरता एक ओर खीचती है तो सरबतिया की भावुकता दूसरी ओर और सदानन्द का आदर्श तीसरी ओर। इन सबके बीच पार्वती, छुटकिया और चाचा के माध्यम मे गोसाइयो के पारिवारिक जीवन का स्वरूप ही स्पष्ट होता है, कोई चारित्रिक कथा नही उभरती।

'अलग-अलग वैतरणी' इस सदर्भ म विशिष्ट है। जैसा कि उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है प्रत्येक पात्र के दु खा की अपनी अलग वैतरणी है। इसीलिए उपन्यास के कई अध्याय स्वतत्र कथा के रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते थे। ऐसा हुआ भी। अध्याय सत्रह जग्गन मिसिर की कथा के रूप म 'सारिका' मे और अध्याय सत्ताइस शशिकान्त की कथा के रूप मे 'धर्मयुग' म धारावाहिक छपे। कुछेक अश इधर-उधर और भी छपे। इस प्रकार उपन्यास म बडी छोटी ऐसी अनेक स्वतत्र कथाए है जो करैता के जीवन को उसकी सम्पूर्णता मे उद्घाटित करती है। इस दृष्टि से जो महत्त्व जैपाल और देवपाल की कथा का है वही महत्त्व खलील मिया, गोपाल, कल्पू जैसे पात्रा की कथा का भी है।

इन उपन्यासा की कथा-वस्तु पर विस्तार से विचार करने के उपरात हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि आचलिक उपन्यास की कथा वस्तु मे आधिकारिक कथा केवल अचल-विशेष क जन जीवन-निरूपण की होती है, कोई मानवीय कथा केन्द्रीय-कथा नही हो पाती। हा, कोई एक कथा अन्य कथाओ की तुलना मे अधिक प्रभावशाली हो, यह सभव हो सकता है परन्तु महत्त्व सभी का समान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बडे-छोटे पुर्जों का मशीन के निर्माण मे।

कथा-वस्तु और प्रेम-तत्त्व

आचलिक कथा-वस्तु मे प्रेम-तत्त्व की अवतारणा विशिष्ट रूप मे की जाती है। यो भी प्रेम मानव जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है और जीवन-प्रवाह मे उसका अपना स्थान होता है। परन्तु आचलिक जीवन औपचारिकता एव प्रदर्शन के तत्वो से दूर की वस्तु होता है, साथ ही अधिक नैसर्गिक भी। अत स्वाभाविक, निश्छल प्रेम के निरूपण के लिए उसमे अधिक स्थान होता है। यही कारण है कि आचलिक उपन्यासो म प्रेम-कथा सामाजिक कथा से बहुत कुछ अलग, अपनी स्वतत्र सत्ता रखती है। प्रमुख आचलिक उपन्यासो से उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है

'मैला आचल' मे डा० प्रशान्त एव कमला की प्रेम-कथा प्रमुख प्रेम-कथा है परन्तु अन्य पात्रो के हृदय भी इस तत्त्व से रहित नही। बालदेव एव लछमी-दासी अजीब स्थिति मे प्रेम की मजिल तक पहुचते है। कालीचरण मगला देवी की ओर आकर्षित है। 'परती परिकथा' मे जितेन्द्र एव ताजमनी की कथा सारे कथानक का सबसे हृदय-स्पर्शी भाग है, परन्तु मिसिज रोजउड और शिवेन्द्र मिश्र की प्रेम-कथा का विवरण भी कम प्रभावशाली नही। मलारी एव सुवशलाल का प्रेम तो सामाजिक छुआ-छूत की नीव को हिला देता है। 'जगल के फूल' म सुलक-साए एव महुआ की प्रेम-कथा उपन्यास की जान है। 'सागर लहरें और मनुष्य' मे रत्ना के प्रेम के दो पात्र बनते हैं—माणिक और अत म डा० पाण्डुरग। उसके उन्मुक्त प्रेम का आदर्श ही सारे कथानक की नीव है। 'वरुण के बेटे' मे मगल और मधुरी का प्रेम-सबध तथा 'लोक परलोक' मे रघुनन्दन और चमेली के बीच का आकर्षण, दोना उपन्यासो मे रागात्मक तत्त्व का समावेश करते हैं। 'कब तक पुकारू' मे सुखराम की दो प्रेमिकाए है, प्यारी और कजरी, परन्तु प्रेम का वह रूप जिसे प्रेम-कथा कहा जाये वहा उपलब्ध नही क्योकि नटो के जीवन मे प्रेम-तत्त्व (रोमान्स) का कोई स्थान ही नही होता फिर भी ठाकुर विक्रमसिंह के पुत्र नरेश और सुखराम की पालिता चन्दा का एक दूसरे के प्रति आकर्षण एक दु खान्त प्रेम-कथा का सर्जन अवश्य करता है। 'वन के मन म' तो लुकना हो और मेशो कोई की प्रेम-कथा बनकर ही रह गया है। 'चिट्ठीरसैन' और 'हौलदार' मे प्रेम-तत्त्व किंचित भिन्न रूप मे आया है। 'चिट्ठीरसैन' मे एक ओर मोहनसिंह तथा रमौती का वैवाहिक प्रेम और रमौती तथा पीताम्बर पोस्टमैन का अवैध-प्रेम है तो दूसरी ओर हौलदार नाथूसिह तथा साबुली का गार्हस्थ प्रेम मे परिणित होने वाला प्रेम भी है। 'हौलदार' मे मनोवैज्ञानिक निरूपण का आग्रह प्रबल हो जाने के कारण प्रेम-तत्त्व दब गया है फिर भी अनेक प्रेम-सबधो की ओर सकेत अवश्य है। 'चौथी मुट्ठी' की मोनिमा मस्तानी पहिले प्रेम मे

धोखा खाती है परन्तु दूसरा प्रेम उसका जीवन सुधार देता है। 'काका' मे प्रेम का अत्यत सशक्त रूप व्यक्त हुआ है। एक ओर बिन्दिया का रामधुन के प्रति त्यागमय प्रेम है और दूसरी ओर रामधुन और कान्ता का मजबूरी का प्रेम। प्रेम के विभिन्न रूप इस उपन्यास मे जिस शक्तिशाली रूप मे अभिव्यक्त हुए हैं वे उपन्यास के छोटे कलेवर को देखते हुए बहुत बडी उपलब्धि हैं।

'मुक्तावती', 'नेपाल की वो बेटी' और 'आदित्यनाथ' मे तो प्रेम-तत्त्व उतना प्रधान नही है जितना सामाजिक जीवन का निरूपण। फिर भी विभिन्न प्रकार से इस तत्त्व का समावेश इन उपन्यासो मे हो गया है। 'मुक्तावती' मे चन्द्रावत एव मुक्तावती तथा शैलेन्द्र एव तोम्बीसना के प्रेम-प्रसगो ने ही सम्पूर्ण कथानक को उसका विशिष्ट रूप प्रदान किया है। 'नेपाल की वो बेटी' मे हेमा एव हरि-शकर की प्रेम-कथा है परन्तु उसके माध्यम से नेपाली सामाजिक जीवन की समस्याओ का चित्रण किया गया है। 'आदित्यनाथ' मे प्रेम प्रसग अत्यन्त गौण है क्योंकि वह जीवन की एक आवश्यकता बनकर आया है फिर भी उसकी स्थिति है अवश्य। 'रथ के पहिये' मे आनद और रूपी की प्रेम-कथा ही प्रमुख है यद्यपि विवाह सोम और फुलमत का भी अजीब परिस्थिति मे हुआ है। 'ब्रह्मपुत्र' मे अतुल-जूनतारा, दवकान्त आरती तथा नीरद और अग्रेज लिली की प्रेम-कथाएं प्रेम के तीन पक्षो का उद्घाटन करती है—अतुल और जूनतारा का सामारिक प्रेम है, देवकान्त एव आरती का त्यागमय प्रेम है तथा नीरद और लिली का उपयोगितावादी प्रेम है।

परन्तु प्रेम प्रसगो की यह सयोजना ही महत्त्वपूर्ण नही है, महत्त्वपूर्ण वस्तुत उनकी सयोजना का उद्देश्य एव उसका परिणाम है। आचलिक उपन्यास सम्पूर्ण अचल की कथा कहने चलता है अत आचलिक जीवन उसका प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। यह आचलिक जीवन अन्य लोगो के लिए अत्यन्त नीरस हो सकता है क्योंकि उसकी विशिष्टताए सामान्य जन जीवन की विशिष्टताए नही होती। उनकी समस्याए भी जहा जन सामान्य के लिए अज्ञात होती हैं वहा आकर्षण-रहित भी। मेरीगज यदि मलेरिया एव कालाजार का गढ है यदि वहा सामाजिक अशाति है, निपट दरिद्रता है, तो वह जन-साधारण की विषय कैसे हो सकता है? वन्ध्या धरती का धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर, धरती नही धरती की लाश, वलचरो की पक्तिया, हमारे लिये कौन-सा आकर्षण रख सकती है? सभवत अपनी ही समस्याओ से ग्रस्त जन साधारण को इन नवीन समस्याओ का बोझ उठाना अस्वीकार्य हो परन्तु वह उसे बोझ न मानकर सहर्ष ही अपने ऊपर लाद लेने को यदि उत्सुक हो जाता है तो उसका एक मात्र कारण यह है कि 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' पर माधुर्य का एसा रगीन और आकर्षक आवरण पडा हुआ है कि उनमे उद्घाटित समस्याए, समस्याए न लगकर रोचक प्रसग

लगने लगते हैं। 'परती परिकथा' में तो माधुर्य की अवतारणा इतनी गहन है कि सम्पूर्ण उपन्यास 'रोमान्स' या 'काव्य' बन जाता है। शिवेन्द्र मिश्र और गीता रोजउड की कथा तो अपने आप में पूर्ण रोमान्स है ही, ताजमनी भी रोमान्टिक काव्य की नायिका बन जाती है और जितेन्द्र उसका साहसिक प्रेमी। लुत्तो खवास की चालबाजियां, जातिवाद का कोढ़, उतार-चढ़ाव एवं परती की स्वयं की कथा, केवल प्रासंगिक कथाएं बनकर रह गई हैं, उनके आकर्षण एवं रस का स्रोत दोनों प्रेम-कथाओं में है। इसी प्रकार जब तक 'जंगल के फूल' राजनीतिक उथल-पुथल की कथा नहीं बन जाता तब तक महुआ और मुनक की प्रेम कथा उस पर माधुर्य का ऐसा सुन्दर आवरण डाले रहती है, कि गोंड-जीवन के अभाव एवं समस्याएं उसके पीछे से आकर्षक एवं रोचक लगती रहती हैं और जिस स्थान से वह कोरा राजनीतिक संघर्ष की कथा बन जाता है, इस रोचकता का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार प्रेम-कथा पर सामाजिकता का आग्रह कथानक की सरसता का किस प्रकार हनन करता है ऐसे उपन्यासों में देखा जा सकता है जहां प्रेम-कथा का निर्वाह करने में उपन्यासकार सफल नहीं हो पाया है और सामाजिक राजनीतिक जीवन-उद्‌घाटन के प्रवाह में बह गया है। बलभद्र ठाकुर के तीनों उपन्यास इसी कोटि में आयेंगे। 'काका' में रामधुन और कान्ता का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण और बिन्दिया का विभिन्न पात्रों के प्रति प्रेम उपन्यास की जान है। 'वरुण के बेटे' में मधुरी और मंगल के पारस्परिक संबंध नीरस कथा को अभिनव सरसता प्रदान कर देते हैं। एक भिन्न रूप में 'सागर लहरें और मनुष्य' में रत्ना का उन्मुक्त प्रेम में विश्वास सम्पूर्ण कथन का मेरुदण्ड है। इन प्रेम-प्रसंगों के कारण कथाओं पर जो माधुर्य का गहरा रंग चढ़ जाता है उसमें रंगकर अन्य रंग धूमिल हो जाते हैं। परिणाम-स्वरूप, इन कथाओं के नायक नायिका, उपन्यास में अपेक्षाकृत गौण स्थान रखते हुए भी इतने उभर जाते हैं कि कई बार उनके उपन्यास के नायक नायिका होने का भ्रम होने लगता है तथा उनकी कथा गौण होते हुए भी मुख्य कथा का आभास देने लगती है। परिणाम यह होता है कि कथा-वस्तु का नीरस यथार्थ सरस आकर्षण प्राप्त कर लेता है।

इस स्थान पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सभी आंचलिक उपन्यासों में प्रेम तत्त्व माधुर्य की अवतारणा नहीं करता। जाति विशेष, समाज-विशेष अथवा समस्या-विशेष के चित्रण का आग्रह कई बार इस प्रेम तत्त्व को पूर्णतः अपदस्थ भी कर देता है और प्रेम कथा का पूर्ण ह्रास हो जाता है जैसे नागार्जुन के 'दुखमोचन', 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'नई पौध' में अथवा जगदीशचन्द्र पाण्डेय के उपन्यास 'गंगास के तट पर' में, कई बार कथा के सामान्य प्रवाह में इसे मिलाकर इसका अवसान कर देता है जैसे 'चिट्ठीरसैन', 'हौलदार', और 'चौथी मुट्ठी' में, और कई बार उसे गौण

कथा-वस्तु और आंचलिक जीवन की समस्याएं

आंचलिक उपन्यास की कथा वस्तु का सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है आंचलिक जीवन की समस्याओं का उद्घाटन। यों तो विशिष्ट जीवन आंचलिकता का निर्माणक तत्व होता ही है परन्तु उस जीवन का आधार वहां की समस्याएं होती हैं। अत उनका कलेवर अत्यन्त व्यापक होता है। किसी भी आंचलिक उपन्यास पर दृष्टिपात करने पर समस्याओं के इस व्यापक कलेवर का आभास मिल सकता है। इस समस्या-ग्रस्त आंचलिक जीवन की एक और विशेषता होती है—समस्याओं के संघर्ष में प्रगतिशीलता के तत्वों का समन्वय। प्रगतिशीलता दो माध्यमों से इस संघर्ष की प्रेरक शक्ति बनकर आती है। प्रथम किसी आंचलिक पात्र के माध्यम से, द्वितीय, किसी अनांचलिक पात्र के माध्यम से। प्रथम स्थिति में उसका कारण होता है आंचलिक पात्र के चरित्र अथवा परिस्थितियों की विशिष्टता और द्वितीय में उसका कारण होता है जाग्रत् समाज से सम्पर्क। कुछ प्रमुख आंचलिक उपन्यासों में इन दोनों ही स्थितियों (समस्या के व्यापक कलेवर एवं प्रगतिशीलता की अवतारणा) के उदाहरण दिये जा रहे हैं

'मैला आंचल' में मेरीगंज गांव सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सभी प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त है। सभी पात्र किसी न किसी समस्या के ज्वलंत रूप का उद्घाटन करते हैं। मेरीगंज एक देहात है जहां डाक सप्ताह में एक बार आती है। समाज चार प्रमुख वर्गों में बंटा हुआ है—कायस्थ, राजपूत, यादव और ब्राह्मण, जिनमें आपस में अंदर ही अंदर बैर पलता रहता है। चरित्र का जहां तक संबंध है गांव वाले बड़े उदार हैं। नोखे की स्त्री रामलगनसिंह के बेटे से फंसी हुई है, उचितदास की बेटी कोयरी टोले के सरवन महतो से, हरगौरीसिंह अपनी खास मौसेरी बहिन से फंसा हुआ है, बालदेव जी कोठारिन से लटपटा गए हैं कालीचरण ने चर्खा स्कूल की मास्टरनी को अपने घर में रख लिया है, शिवशक्करसिंह भी वेइज्जत हो चुके हैं, डाक्टर तहसीलदार की बेटी कमला से उलझा हुआ है, महन्त भी भ्रष्ट हैं, दासिया रखते हैं, गांजा पीते हैं और जनता के पैसे पर ऐश करते हैं। आर्थिक स्थिति सारे गांव की खराब है, तीन चार पैसे वाले लोग हैं बाकी सब गरीब मजदूर या कृषक। अंगूठे की टीप देकर बार त्योहार मालिक लोगों से नाज आदि ले लेते हैं और फिर जिंदगी भर चुकाते रहते हैं। जमींदार जमीन हड़पने की फिक्र में हैं, नए-नए जमीन के बंदोबस्त होते हैं जिनके

द्वारा तहसीलदार और जमींदार दोनों गरीबों को लूटते हैं। यहां ऐसे इन्सान हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे पर जिन्दा रहना पड़ता है "आखिर वह कौन-सा कठोर विधान है जिसने हजारों-हजारों क्षुधितों को अनुशासन में बांध रखा है? कफ़ से जकड़े हुए दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल भी नहीं, भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नहीं है, जी जाता है कैसे ?[१] सात मास के बच्चे बथुए के साग पर पलते डाक्टर ने देखे हैं, देह में तेल लगाना भी जहां निवासियों के लिए विलासिता है, गरीब किसान और गरीब होता जा रहा है। इस पर है राजनीतिक पार्टी-बन्दी। बालदेव कांग्रेस की ओर लोगों को खींचते हैं, तो हरगौरीसिंह जन-संघ की ओर, और कालीचरण सोशलिस्ट पार्टी की तरफ। सभी ओर से समस्याओं से व्यथित ग्रामवासी जमीन छोड़कर नगरों की ओर भागने को तत्पर हैं, कटिहार में एक जूट मिल खुल रहा है ' चलो चलो दो रुपैया रोज मजदूरी मिलती है। गांव में अब क्या रखा है।[२]

इस समस्याग्रस्त परम्परावादी समाज में नवीन जागृति भी आ रही है। गांव प्रगतिशीलता की ओर कदम बढ़ा रहा है। इस जागृति का माध्यम बनते हैं दो आंचलिक पात्र, गांधीवादी बालदेव और सोशलिस्ट कालिचरण। गांव में मलेरिया-सैन्टर खुलने पर जोतखी जी समेत संपूर्ण ब्राह्मण टोली उनका विरोध करती है परन्तु बालदेव उसकी उपयोगिता पर विश्वास करता है और उसकी स्थापना में पूरा सहयोग देता है। गांधीजी के अहिंसा, प्रेम और शांति के सिद्धान्तों का ही उपदेश देकर वह एक दरिद्र गोप से जन नेता बन जाता है। यादव-क्षत्रिय टोली का कालीचरण अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सजग प्रहरी बनकर आया है। चरित्र का निर्मल यह व्यक्ति रामदास को उसका महथी का अधिकार दिलाने के लिए पंचायत का विरोध करता है। जहां स्वयं बालदेव पंचों के मत के हैं वहां वह सक्रिय विरोध करता हुआ कह देता है, "आप क्या गांव के सभी लोगों को उल्लू समझते हैं ?'[३] बालदेव के 'अनसन' तथा 'हिंसावाद' की चिन्ता किये बिना वह नागा साधु को अच्छा सबक सिखाकर "सिकन्दरशाह बादशाह की तरह सीना तान कर खड़ा रहता है।"[४] इसी प्रकार फुलिया और सहदेव मलिक को लेकर पंचायत में एक-तरफ़ा डिग्री दिये जाने का वह दृढ़ विरोध करता है और सबके विरोध के बावजूद यह फ़ैसला करा देता है कि फुलिया का चुमौना खलासी जी से हो। गांव में हैजा फैलने पर बबसुई लगाने का सारा गांव (बालदेव तक)

१ 'मैला आंचल', पृष्ठ २२८।
२ वही, पृष्ठ ३६१।
३ वही, पृष्ठ १२१।
४ वही, पृष्ठ १२२।

विरोध करता है तब वह मारी हाट को घेरकर जबरदस्ती सुई लगवाने का प्रस्ताव रखता है और अपने सहयोगियों द्वारा अपने प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणित भी करा देता है। बीमारी फैलने के समय भी वह सेवा-धर्म का अनुयायी बनकर सबके आगे आता है। चर्खा-सेन्टर की मास्टरनी मगला देवी की निष्काम सेवा कर वह उसे बचा लेता है। सोशलिस्टों के विचारों से वह प्रभावित है यद्यपि सोशलिस्ट दर्शन से अपरिचित। शोषण और छुआ छूत का वह विरोध करता है इसीलिए चमारों की टोली में भात खा लेता है। एक अत्यन्त जाग्रत् व्यक्ति ही इस प्रकार के विचारों का प्रचार कर सकता है

"जात केवल दो हैं, एक गरीब और दूसरी अमीर।"[1]

"जो जोतेगा वह बोयेगा, जो बोयेगा वह काटेगा, कमाने वाला खायेगा इसके चलते जो कुछ हो।"[2]

सभी-मजदूरों-किसानों का सच्चा नेता कालीचरण, उपन्यास का सबसे प्रगतिशील पात्र है।

गाव का जाग्रत् समाज से सम्पर्क दो अनाचलिक पात्रों के माध्यम से भी होता है—डा० प्रशान्त और बावनदास। डा० प्रशान्त ने गाव को मलेरिया से रोग-मुक्ति दिलाने का व्रत लिया है। वह शान्त एव निष्काम कार्य-कर्ता है और आसुओं से भीगी धरती पर प्यार की खेती करने का आदर्श उपस्थित करता है। उसे कम्युनिस्ट मानकर कुछ समय के लिए जेल में भी डाल दिया जाता है परन्तु वह सेवा-व्रत में दृढ़ है। बावनदास गाधीजी के विचारों को जीवन में उतार कर अपने आदर्श पर बलिदान हो जाने वाला व्यक्ति है। ऐसे ही जाग्रत् समाज के प्रतिनिधियों के सम्पर्क में आकर गाव का रूप बदल रहा है। इसी जागृति में गाव की समस्याओं का निदान भी है।

'परती परिकथा' में परती भूमि की समस्या का समग्र रूप में चित्रण है। परानपुर गाव में निवास करने वाली सभी जातियों एव सभी वर्गों की समस्याए उपन्यास में कुशलता से उद्घाटित की गई है परन्तु सभी ज़मीन के माध्यम से। गाव टूट रहे है परिवार टूट रहे हैं, जमीन के पीछे पारिवारिक झगड़े जोर पकड रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का हक लूटने को तत्पर बैठा है। इसी कारण ज़मीन पर जो तनाजे होते हैं वे जहा एक ओर झूठे होते है वही दूसरी ओर लोभ और ईर्ष्या से प्रेरित भी।

'जिले भर में किसानों और भूमि-हीनों में महाभारत मचा हुआ है। सिर्फ भूमि हीन ही नहीं, डेढ सौ बीघे के मालिकों ने भी दूसरे बड़े

१ 'मैला आचल', पृष्ठ २८२।
२ वही, पृष्ठ १३०।

किसानों की ज़मीन पर दावे किये हैं'' हज़ारों बीघे वाला भी एक इंच जमीन छोड़ने का राज़ी नहीं।"[१]

"छ: महीने में ही गांव का बच्चा बच्चा पक्की गवाही देना सीख गया है'''छ: महीने में ही गांव एकदम बदल गया है। बाप बेटे में, भाई-भाई में, अपने हक को लेकर ऐसी लड़ाई कभी नहीं हुई।"[२]

परिणाम यह हुआ है कि

"पिछले डेढ़ साल से गांव में न कोई पर्व ही धूम-धाम से मनाए गए हैं और न किसी त्योहार में बाजे ही बजे हैं सोहर का गीत, सो भी कहीं-कहीं गाया गया है—लड़के-लड़कियों के ब्याह रुके हुए हैं गीत के नाम पर किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है मानो। मधुमक्खी के सूखे मधुचक्र-सी बन गई है यह दुनिया।'[३]

आठ वर्षों से जातिवाद के दीमकों का मुख्य आहार रहा है, मनुष्य का हृदय। सर्वे की आंधी में छतनी जैसा आदमी का दिल, पीपल के सूखे पत्तों की तरह उड़ रहा है,[४] मुख्य समस्या है भूमि-संग्रहण की। जमींदारी समाप्त हो चुकी है किन्तु सभी पुराने ज़मींदार और राजा बड़े बड़े कृषक बन बैठे हैं। बटीबाबू जमींदार नहीं किसान है। दस हज़ार बीघे ज़मीन है। दो-दो हवाई जहाज रखते हैं। दूसरे हैं भोला बाबू। पन्द्रह हज़ार बीघे ज़मीन है। डेढ़ दर्जन ट्रैक्टर रखते हैं। पर यह बात भी सत्य है कि ये ज़मींदार नहीं हैं।[५]

" ''टेरिबल ''बड़े-बड़े इज्जतदारों की हवेली में बंद घूघटों में छिपी बेवा औरतें पर्दे को चीर कर आगे बढ़ आई हैं। कालेजों में पढ़नेवाले विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी छोड़कर दौड़े आए हैं।'''छोटे को प्राणों से भी बढ़कर प्यार करते हैं, बाबूजी। छोटे के नाम में सारी उपजाऊ जमीनें लिखवा दे सकते हैं। गांव की अली-गली, अगवार-पिछवाड़ की ओर निकलने वाली पगडंडियां बंद की जा रही हैं।"[६]

महीचन चमार और सुबगलाल के परिवारों में मलारी को लेकर छूत-अछूत की समस्या उठाई गई है और लुत्तो खवास, कामरेड मकबूल, महाजन रौमन विस्वा कामरूपनारायन आदि को लेकर राजनीतिक समस्याएं चित्रित की गई हैं। कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्यूनिस्ट, जमींदारों की प्रजा-पार्टी, सभी

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ३२।
२ वही, पृष्ठ ३३।
३ वही, पृष्ठ ३६।
४ वही, पृष्ठ ३६।
५ वही, पृष्ठ ३१-३२।
६ वही, पृष्ठ ३४।

अपने-अपने तरीकों से भोले-भाले ग्रामवासियों के जीवन में विष-बीज बोने का प्रयत्न करती हैं। यह है समस्या का व्यापक कलेवर। इसी कलेवर में नवीन जागृति और प्रगतिशीलता के बीज भी छिपे हुए हैं। सारी समस्या ही जाग्रत् और प्रगतिशील संसार से सम्पर्क की है। आंचलिक पात्रों (जैसे सुवंशलाल, मलारी, लुत्तो खवास, जितेन्द्र आदि) और अनांचलिक पात्रों (जैसे कुबेरसिंह, मकबूल, इरावती आदि) सभी के क्रिया-कलापों द्वारा ग्राम्य जीवन पर नवीन जागृति का व्यापक प्रभाव चित्रित किया गया है।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'जंगल के फूल' में अधिकार-हनन और शोषण की जिस समस्या का चित्रण हुआ है वह यद्यपि केवल गोंडों से संबद्ध है तथापि उसका कलेवर अत्यंत व्यापक है। भालरसिंह अपने अधिकारों के संबंध में जो मत व्यक्त करता है वह उस समस्या के अंचल-व्यापी होने का प्रमाण है—

"हां, यह जमीन हमारी है। ये जंगल हमारे हैं। यह सारी धरती हमारी है। जिन लिंगों ने यह धरती बनाई है उन्होंने हमें बनाया है। फिर दो-दो एकड़ जमीन देने वाला तहसीलदार कौन होता है?"[1]

सिरहा भी कहता है—

'हमें दो एकड़ जमीन देकर सरकार यह बताना चाहती है कि हम सिर्फ दो एकड़ जमीन के मालिक हैं। बाकी जमीन हमारी नहीं है।'[2]

यह विचार साम्यवादी विचार धारा के कितना निकट है—

"जिन्हें खेत मिलें वे मौज उड़ायेंगे और बाकी भूखे मरेंगे। एक गांव के चार आदमी मजे में रहेंगे और चालीस भूख में तड़पेंगे।'[3]

सबके मन में यह बात बैठ गई कि इन पट्टों के पीछे कोई चाल है। इनके द्वारा सरकार उन्हें लूटना चाहती है। उनकी आजादी में खलल डालना चाहती है। जो अधिकार उन्हें उनके देवता लिंगो ने दिये हैं, वे अधिकार वे 'आदमी' छीन रहे हैं।[4] सम्पूर्ण समाज का यह निर्णय है कि वे इसके विरुद्ध आवाज उठायेंगे। यह निर्णय प्रगतिवादी चेतना का ही परिचायक है। इस सामाजिक चेतना की विशेषता यह है कि यह जाग्रत् संसार से संपर्क द्वारा प्राप्त नहीं, स्वयं अंचल में ही उद्भूत है और कुछ आंचलिक पात्र ही इतने जाग्रत् हैं कि वे अपनी समस्या के समाधान का प्रयत्न इतनी कुशलता और दृढ़ता से करते हैं कि वह राष्ट्रीय आंदोलन का सा स्वरूप ले लेता है। ये जाग्रत् पात्र सुलक्माए, भालरसिंह

१. जंगल के फूल,' पृष्ठ ११५।
२. वही।
३. वही, पृष्ठ १२४।
४. वही, पृष्ठ ११७।

सायता, महुआ और गुण्डाधूर जैसे गोड ही है। मुलक यदि पुरुषो का सगठन कर रहा है तो महुआ स्त्रियों का सगठन करती है और उन्हे वाण चलाना सिखाती है। थोडे ही दिनो मे त्रिभली, गढवाल, नरायनपुर, मटवद, वेनूर, नयानार, नेतानार आदि गावो मे अधिकारो की रक्षा के लिए सघर्ष की चिनगारी फैल जाती है। गुप्त सगठन बनने लगते हैं और सघर्ष के प्रारभ के सकेत के रूप मे लाल मिर्च और आम की एक डाल सारे प्रदेश मे घूमने लगती है। आदिवासी जगदलपुर का महल घेर लेते हैं और मारकाट प्रारभ हो जाती है। परिणाम जो भी रहा हो, चेतना की यह लहर राष्ट्रीय आदोलन के ही सक्षिप्त रूप का प्रतीक है।

उपन्यास अन्याय का विरोध और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य एव प्रगतिवादी चिन्तन के और उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। बेगार के प्रति सारे गोड समाज मे विरोध है। परगना माझी परलवाडे के तहसीलदार की मनमानी बताता है—"हमारे आदमिया को बुलाता है, मनमानी गालिया देता है और लात भी मारता है और फिर दिन भर काम कराता है।"[१] गढवगाल के हर गाव वाले से नारायणपुर का सिपाही बेगार ले चुका है। सबसे दर्दनाक घटना तो स्वय झालरसिह के साथ घटी है। सरकार द्वारा खोले जा रहे स्कूलो से भी वे असन्तुष्ट हैं। उनका विचार है कि स्कूल मे 'वह पढाया जायेगा जो वैजनाथ पण्डा चाहता है। यानि हमारे लडके हमारे नही रहेगे। हम उन्हे पैदा करें और दूसरे इतनी सफाई से उडा कर ले जाय।'[२] प्रेम और विवाह के सबध मे भी इन लोगो के विचार क्रान्तिकारी हैं। मुलक नाए महुआ से कहता है '

"हम अपनी जाति के ढग से बिहाव नही करेंगे। अनविहाए रहकर भी एक साथ रहगे हमारे सिर पर गाज गिर रही है और तुझे पेडुल की सूझती है 'अरे विवाह तो एक पडाव है जब आदमी चलते-चलते थक जाता है तो किसी मेड का आसरा लेना चाहता है, हम अभी थके थोडे है।"[३]

नवीन चेतना महुआ मे भी स्पष्ट दिखाई देती है। वह स्वय विद्रोह का सगठन करती है। स्त्री के अधिकार की जो बात वह कहती है वह किसी सुशिक्षित, प्रगतिवादी, अधिकारो के प्रति सजग, नारी का कथन ही लगती है

> "लिगो की दुनिया मे औरत-मरद का भेद नही है रे भालर, भेद-भाव की ये दीवारें तुम्हारी बनाई है। तुम हाथ मे डुग-डुगी लेकर बदर की तरह औरतो को नचाते हो और जब औरत अपना ढोल पीटना चाहती

---

१ 'जगल के फूल' पृष्ठ १५४।
२ वही, पृष्ठ १५६।
३ वही, पृष्ठ २२४ २२५।

है तो ढोल की दरात ढीली कर देते हो और कहते हो—कानून में लिखा है कि तुम ढोल नहीं पीट सकती।"[१]

नये खून को आगे आने देने का विचार भी प्रगतिवादी विचार है जिसे बूढ़ा सिकमी भी व्यक्त करता है जब वह पैंतीस-वर्षीय हिरमे पर गायता का भार छोड़ता है—

"भाई हम अपना लोभ छोड़ें। जवानों को काम करने का समय दें। जिनकी रगों में अधिक खून दौड़ता है उन्हें आगे आने दें। यही हमारे गाव के तारे होंगे। हमारा नाम रोशन करेंगे।"[२]

यह तय कर लिया जाता है कि पचास साल की उम्र के बाद गायता अपना कार्य दूसरों को सौंप दे।

श्रमदान और सहकारिता की नवीन विचारधारा का समावेश भी उपन्यास में हो गया है। पानी का अकाल पड़ जाने पर श्रमदान में कुआ खोदा जाता है[३] तथा आगे के लिए नाले को इसी प्रकार बांधने की योजना भी बनती है।[४] जब गूमा को छुड़ाने के लिए हिरमे रुपये की व्यवस्था नहीं कर पाता तब घोटुल के सारे सदस्य आस गाव जाकर मजूरी कर अपनी कमाई उसे देने की योजना बनाते है।[५] यह है सहकारिता का व्यावहारिक रूप।

गगी के हिरमी के प्रति जिस उच्छ्वास में जिस विश्व-कल्याण का भाव निहित है वह नवीनतम जागृति का ही परिचायक है—

"तू गाव का गायता है। तूने अपना धर्म निबाहा है। गाव भर सुखी रहे, किसी के पैर में काटा न गड़े, सब हसते रहें, खेलते रहें, खाते रहें।"[६]

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें नवीन जागृति के सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष विद्यमान है और यह जागृति स्वय आंचलिक जीवन से ही उत्पन्न हुई है।

'वरुण के बेटे' में कोसी नदी के अचल में बसे मलाही-गोढ़ियारी गाव के मछुआ-समाज के जीवन की समस्याओं का चित्रण है। यह मछुआ-समाज सम्पन्न और विपन्न दो वर्गों में बटा है। सम्पन्न वर्ग विपन्न वर्ग का शोषण करता है। ठण्ड में पानी में घुसने तथा बोझ उठाने जैसे कष्टसाध्य कार्य विपन्न वर्ग को करने पड़ते हैं। परन्तु आय का दसांश ही उसे मिल पाता है। विपन्न परिवार

१ 'जगल के फूल', पृष्ठ १७४।
२ वही, पृष्ठ ३६।
३ वही, पृष्ठ १४२।
४ वही, पृष्ठ १४६।
५ वही, पृष्ठ १४६।
६ वही, पृष्ठ २००।

छोटे से घर में भरा पड़ा रहता है और कथरी-गुदड़ी के टुकड़ों से अपना तन ढक कर किसी प्रकार ठण्ड का मौसम व्यतीत करता है।[1] प्रमुख धंधा मछली पकड़ना होने पर भी बच्चे भर-पेट मछली नहीं खा पाते। मछली पकड़ने का ढंग अवैज्ञानिक तथा अनियोजित है। यद्यपि देश स्वतन्त्र हो चुका है और जमींदारी-उन्मूलन हो चुका है फिर भी जमींदार मछुओं से किसी न किसी बहाने जल कर वसूल करते हैं। इतना ही नहीं नई व्यवस्था करके शासन का मार्ग भी उन्होंने उन्मुक्त कर रखा है—

"गढ़ पोखर के वास्तविक नये मालिक तो हमारी सरकार थी जमींदारी-उन्मूलन के बाद देवुस बाबू का कोई हक नहीं रह गया था, गढ़ पोखर पर। यह विशाल जल-सम्पत्ति अब जनता की थी। मगर नौकर-शाही भ्रष्टाचारों और कानूनी अड़गनियों के चलते जन-जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा था। मछुआ-संघ की तरफ से कई मेमोरेंडम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके थे।'[2]

व्यक्तिगत जमीन, बाग-बगीचे, कुआ-बभच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम पर चढ़ी हुई जायदाद, परती-परान, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि जैसी कुछ एक अचल सम्पत्तियों में भी जमींदारी-उन्मूलन कानून ने भू-स्वामियों को खुली छूट दे दी थी। नतीजा यह हुआ कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे।[3] समाज में फैले भ्रष्टाचार से जन-जीवन त्रस्त है। श्रमदान का बड़ा नाम होता है परन्तु उसके पीछे बड़ी पोल चलती है। कोसी-बाँध के सम्बन्ध में श्रमदान का आह्वान गूंजा था। मलाही-गोढ़ियारी के बीस गरीब मछुए और दूसरी जातियों के मज़दूर भुतहा-महादेव मठ पहुँचे और चार-छः रोज़ बाद ही वापिस भाग आये थे। खाते-पीते परिवारों के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही और थी। उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसी के किनारे जुट गए थे। चाय-बिस्कुट, पान सिगरेट, शर्बत-मिठाई, पूड़ी, कचौड़ी, चूड़ा-दही, रेडियो-सिनेमा, माइक लाउडस्पीकर, अखबार और पत्र-पत्रिकाएं" कैमरे वालों की भरमार थी ही, पास पड़ोस के परिचित कांग्रेसी नेताओं की सिफारिश से वे पटना या दिल्ली से आए हुए उच्च पदाधिकारियों के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फोटो खिंच जाती। 'नेशनल कैडेट कोर' की निगरानी में बीसियों हज़ार स्कूली-कालेजी लड़के कोसी के पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों तटबंधों का निर्माण करने आये थे, उन्होंने अलबत्ता काफी काम किए थे।[4]

---

१. 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ १२७।
३. वही, पृष्ठ ३१।
४ वही, पृष्ठ ४२-४३।

श्रमदान का काम भी मजदूरी पर हो रहा था। अव्यवस्था का ऐसा राज्य था कि बेचारा ईमानदार गरीब श्रमदानी भूखों मर जाय। वापिस आये मछुओ से वहा का विवरण सुनकर खुरखुन धड-धडा उठा था—

"हे भगवान कैसा जमाना आया है! पच्चीस करोड, पचास करोड रुपइया लगाकर दस-पन्द्रह साल मे कोसी बाध तैयार होगे, हजारो का माहवारी चारा पाने वाले पचासो आफिसर बहाल हुए हैं। लाखो के ठेके मिले हैं, ठेकेदारो को पानी की तरह रकम बहाई जा रही है। फिर गरीब मजदूरो के साथ ही सुराजी बाबू लोग इस तरह का खिलवाड क्यो कर रहे हैं? ऐसा अनर्थ तो न कभी सुना न देखा! हे भगवान, सृष्टि के इन्ही तौर-तरीको मे तुम्हे अपने विधाता-पन का स्वाद मिलता है? हिन्द हितकारी समाज नहीं, पेट हितकारी समाज! छी-छी-छी!!"[१]

सरकार के काम भी दिखावटी हित के होते हैं, "अढाई-तीन साल पहले इन इलाको मे सरकार की तरफ से तकावी बटी थी। चुनाव काग्रेस के सिर पर था, देहात की जनता के हर वर्ग ने कई रूपो मे 'धन-पुण्य' प्राप्त किये थे'[२] और जब चुनाव समाप्त हो गया तब "अब इस वर्ष सेक्रेटेरियट के उन्ही हाथियो पर उल्टी सनक सवार थी। तकावी की रकम वापस लौटाओ वरना खडी फसलें कुर्क कर ली जायेंगी।'[३]

ये हैं राजनीतिक हथकण्डे जो समस्या बने गाव के जीवन को विषाक्त बना रहे है।

"पिछले पाच-सात वर्षो मे मिनिस्टरो-आफिसरो-नेताओ ठेकेदारो की टूर दस-गुनी बढ गई है।"[४]

भ्रष्टाचार की देशव्यापी समस्या इस गाव मे भी अपना रूप दिखा रही है।

"देपुरा मे जिला बोर्ड की तरफ से एक अस्पताल था। एम० बी० बी० एस० एक डाक्टर, कम्पाउण्डर, चपरासी—तीन का स्टाफ था। सफेद-पोशो की धीगा-मुश्ती के कारण सौ मे से पचानवे रोगी उस दानव्य चिकित्सालय से पूरा फायदा नही उठा पाते। ईमानदार और जन-सामान्य का पक्षधर होकर जो डाक्टर वहा रहना चाहता वह चार महीने भी टिक नही पाता।"[५]

इसके साथ ही है कोसी की निरतर आने वाली बाढो की समस्या। जनता

---

१ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ४४-४५।
२ वही, पृष्ठ ११८।
३. वही, पृष्ठ ११८।
४. वही, पृष्ठ ३५।
५ वही, पृष्ठ ८३।

छोटे से घर मे भटा पड़ा रहता है
पर किसी प्रकार ठण्ड का मौसम
होने पर भी बच्चे भर-पेट मछली,
नित तथा अनियोजित है। यद्यपि
हो चुका है फिर भी ज़मीदार मछुअ
है। इतना ही नही नई व्यवस्था क
रखा है—

"गड पागर के वास्तविक नये र
उन्मूलन म बाद दपुगा वालो गा थो;
विशाल जन सम्पत्ति आ जनता की
कानूनी अमगनिया के चलते जन-जी
रहा था। मछुआ-सघ की तरफ से क
की सेवा मे भेज जा चुके थे।"[२]

व्यक्तिगत ज़मीन, बाग-बगीचे, ड
नाम पर चढ़ी हुई जायदाद, परती-प
जैसी कुछ एक अचल सम्पत्तियों मे भी
की खुली छूट दे दी थी। नतीजा यह
वे चुपके-चुपके बेचने लगे।[३] समाज ं
श्रमदान का बड़ा नाम होता है परन्तु
बाध के संबध मे श्रमदान का आह्वान
गरीब मछुए और दूसरी जातियों के मज
रोज बाद ही वापिस भाग आये थे। स
सज्जनों की बात ही और थी। उनकी ड
जुट गए थे। चाय बिस्कुट, पान-सिगरेट
रेडियो-सिनमा, माइक लाउडस्पीकर, इ
की भरमार थी ही पास पड़ोस के परि
पटना या दिल्ली से आए हुए उच्च पदा
और फोटो खिच जाती। नेशनल कैडेट
स्कूली-कालेजी लड़के लोगों के पूर्वीय अ
करने आये थे, उन्होंने अलबत्ता काफी क

१. 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ १२७।
३. वही, पृष्ठ ३१।
४. वही, पृष्ठ ४२-४३।

है और वनी जैसी कुशल एव स्वच्छन्द स्त्रियाँ निट्ठल जैसे पतियों को अपना दास बनाकर रखती हैं। अपनी कामना-पूर्ति के लिये पति होने हुए भी प्रेमी रखती हैं, परन्तु दास बनाकर। इस प्रकार कोलियो के समाज की विशिष्टता की ओर सकेत किया गया है। परन्तु प्रमुख समस्या है पिछडे हुए समाज मे शिक्षित नारी की स्वच्छन्दता की। रत्ना मे अदम्य वासना है—प्रेम की, वैभव की जो उसके बम्बई के वैभवपूर्ण जीवन के सम्पर्क के कारण आई है। मन्मथ की पत्नी बनकर वह अक्षुण्ण यौवन पाना चाहती है। वह अपनी सखी मालिनी को बताती है कि वह कोठी, मोटर, नौकर-चाकरों की कामना करती है, वह समाज मे प्रतिष्ठित बनना चाहती है, नाम चाहती है, सभा-सोसायटी मे किसी को बोलते सुनती है तो चाहती है कि वह भी वैसी होती।[1] अंग्रेजी उपन्यासो ने उसकी वासना को भडका दिया है। वह चाहती है "मुझे भी कोई···।" इसी समस्या को उपन्यास मे चित्रित किया गया है।

श्री भट्ट के ही दूसरे उपन्यास 'लोक-परलोक' मे जिस समस्या का चित्रण किया गया है वह यो तो हिन्दू तीर्थ-स्थानो की सामान्य समस्या है परन्तु पद्मपुरी ग्राम मे उसका विशिष्ट रूप देखने मे आता है। प्रमुख समस्या सामाजिक है—गाव की आपसी फूट, अशान्ति, असतोष और भ्रष्टाचार की—

"गाव की खूबी यह है कि कोई किसी का भला नही चाहता।'[2]

"पडोसी का गिरता मकान बच जाये तो उससे फायदा क्या? गिर रहा है गिरने दो गिरे। मकान छोडकर भाग जायेगा तो उसके गाय-बैलों के काम आयेगा। न होगा कण्डे ही थापे जायेंगे। फिर पडौसी का मकान गिरना क्या कम खुशी की बात है?"[3]

पचायत है परन्तु वहा भी राजनीति चलती है। किसी दूसरे के मोहल्ले का लाभ कोई पच क्यो चाहेगा। यही कारण है कि इस गाव मे न तो सडक की जरूरत है और न लैम्प की। खार और खड्डो मे लोगो को चलने की आदत पड गई है।

"और लैम्प लगा के रात को क्या देखना है?"[4]

गाव की हालत ऐसी है कि मालूम होता है कि देश की स्वतन्त्रता का गाव पर कोई प्रभाव नही पडा। न लोगो मे उत्साह है, न आगे बढने की इच्छा। गाव को देखकर लगता है, जैसे कुछ भी करने को नही है।[5] यह हालत तो तब है जब गाव के आस-पास कई अच्छे शहर हैं, तहसील, थाने, जिले के अलावा तीस-चालीस मील के

---

१ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ १८२।
२ 'लोक परलोक', पृष्ठ ३५।
३ वही।
४ वही।
५ वही, पृष्ठ ३३।

फासले पर एक जगह विश्वविद्यालय भी है, फिर गाव मे पढे-लिखे लोगो की सख्या कम है। एक तरह से इस गाव का सारा वातावरण अधकचरा ज्ञान और अज्ञान की कडी पर झूल रहा है।'[1] पण्डे अपने अल्प ज्ञान से यात्रियो को प्रभावित करने मे सिद्ध हस्त है। उल्टे-सीधे मत्र पढकर, पाच सात श्लोक और सकल्प विधियो के सहारे ब्याह एव सत्यनारायण की कथा से लेकर पिण्ड दान तक ये लोग करा देते है, अकेली दुकेली स्त्री की इज्जत लूटने मे भी इन्हे कोई बुराई नही दीखती। इन्ही के बडे भैये शकरानन्द जैसे साधु जानते हैं, 'यहा जितना आडम्बर होगा उतने ही पुजोगे'।'[2] ठाकुर भी भ्रष्ट हो चुके है, वे पूजा चढावे मे हिस्सा चाहते हैं अन्यथा मदिर और मूर्ति को तोड डालने की धमकी देते है। इस गाव म चमेली जैसी पाखण्डी नारिया साधु वेश मे डाकू गिरोह सगठित करती है। गाव मे नवीन चेतना के प्रतिनिधि दो अनाचलिक पात्र है—औवड बाबा जो चमेली का हृदय-परिवर्तन कर देते हैं और रघुनन्दन जो एक सेठ का बेटा है और व्यापार के सबध मे देश विदेश घूम कर लौटा है। नारी-समाज के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रगतिवादी है। परन्तु प्रगतिवाद एव जागृति के प्रभाव से अचल प्राय अछूना ही रहता है।

श्री नागार्जुन का 'बलचनमा' अपेक्षाकृत एक प्राचीन समस्या का ही उदघाटन करता है। समस्या है जमीदारो का अत्याचार—विशेषरूप से निम्न-वर्ग पर। इस निम्न वर्ग के प्रतिनिधि पात्र बलचनमा (बालचन्द्र) के माध्यम से गोप-समाज के जीवन की समस्याओ का चित्रण किया गया है। समस्या केवल वर्ग-विशेष की है परन्तु इसी के सदर्भ म १९३७ तक के राष्ट्रीय आन्दोलन से सबधित समस्याओ का भी थोडा-बहुत उद्घाटन हो गया है। भूकम्प-रिलिफ फण्ड की रकम म से काग्रेसी नेताओ द्वारा खयानत,[3] सोशलिस्टो द्वारा काग्रेस के मार्ग का विरोध[4], किसानो मे फैली अशाति[5] आदि का चित्रण भी हो गया है। उपन्यास का अत जमीदार-किसान की इसी समस्या की ओर सकेत करता है कि—

> "धरती किसकी ? जोते-बोये उसकी। किसान की आजादी आसमान से उतरकर नही आयेगी वह परगट होगी नीचे-जुती धरती के भुरभुरे ढेलो को फोडकर।'[6]

'ब्रह्मपुत्र' आसाम के लोक-जीवन की कथा है परन्तु उसके कलेवर मे कई समस्याए है। सबसे महत्त्वपूर्ण है ब्रह्मपुत्र की विनाशकारी लीला जो एक

---

१ 'लोक परलोक', पृष्ठ ६।
२ वही, पृष्ठ ५४।
३ 'बलचनमा', पृष्ठ १७५-१७७।
४ वही, पृष्ठ १७६।
५. वही, पृष्ठ १८६।
६ वही, पृष्ठ २२०।

आचलिक समस्या है। ब्रह्मपुत्र—ब्रह्मा का नटखट बेटा—असम के जीवन का आधार है, उसीमें से उन्हें मछलियां प्राप्त होती हैं। यद्यपि अतुल जैसे लोग कभी-कभी कह जाते हैं

"तुम मछलियां पकड़ते हो, यह अच्छा नहीं करते। सारी मछलियां ब्रह्मपुत्र ने पाली हैं यही मछलियां उसकी सब कुछ हैं। तुम इन्हें पकड़ कर बाजार में बेच डालते हो। तुम इन्हें खाते हो। इसीसे तो ब्रह्मा का पुत्र तुमसे बिगड़ा रहता है। क्रोध में आकर वह हमारी खेती नष्ट कर डालता है हमारे घरों को बहा ले जाता है, फिर भी तुम नहीं मानते। तुम ब्रह्मपुत्र की भाषा समझते ही नहीं। यह बाढ़ और बरबादी ही तो ब्रह्मपुत्र की भाषा है।"[१]

नीरद के अनुसार "ब्रह्मपुत्र हमारा पथ-द्रष्टा है हमारा सहयात्री स्वतन्त्रता की गुहार लगाने वाला जन कवि, पथ का दावेदार आगे ही-आगे अपनी मंजिल की ओर जाने के लिए कृत-संकल्प है ब्रह्मपुत्र, हमारे लिए भी उसकी यही टेर है—मंजिल पहिचानो, आगे बढ़ो।"[२]

जब ब्रह्मपुत्र क्रोधित होता है तब बड़े बड़े कगार निकल जाता है तब वह दानव बन जाता है, दूध, नारियल, सोने के कदम, किसी से शान्त नहीं होता। उसकी सहायक नदियां बूढ़ी दिहाग और दिहाग में भी भयानक बाढ़ आ जाती है और विस्तृत क्षेत्र जल मग्न हो जाता है, सड़कें टूट जाती हैं, पशु बह जाते हैं, बस्तियां नष्ट हो जाती हैं। ब्रह्मपुत्र मिट्टी काटता जाता है। पहिले कभी दिसाग-मुख और शिवसागर का बीस मील का फासला था। अब तो यह तेरह मील का भी नहीं है। पिछले पांच वर्षों में ही वह पांच मील जमीन निगल गया है थोड़ी-थोड़ी करके। बाढ़ में ब्रह्मपुत्र पागल हाथी के समान चिंघाड़ता है।

> "जहां कल तक दिसागमुख आबाद था, वहां अब जल ही जल है प्यारे-प्यारे हाथों से बनाये प्यारे-प्यारे घर, प्यारे-प्यारे पोखर अब कहीं भी दिखाई नहीं देते। चतुर्दिक जल ही जल है। जैसे यहां प्रलय आ गई हो। चतुर्दिक चीख-पुकार है'''न जाने कितने हाथियों के शव, ब्रह्मपुत्र में बहते हुए निकल गए'''।"[३]

परन्तु वहां के निवासी हार नहीं मानते। नयी बस्तियां शीघ्र ही बस जाती हैं। और पिछली बाढ़ इतिहास की वस्तु बन जाती है—

> "एक ओर से माटी काटता है ब्रह्मपुत्र, और दूसरी ओर नई माटी बनाता है, ब्रह्मपुत्र तो मरजी का मालिक है, वह न दयालु है, न निर्दयी, शायद

१. 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ३६।
२. वही, पृष्ठ २६५।
३. वही, पृष्ठ ४२४।

कोई बंधन नहीं होते। शराब पीना, चोरी करना और जुआ खेलना उनके लिए नैतिकता के अंतर्गत ही आता है। इन गुणों का न होना उनके समाज में अस्वाभाविक ही माना जाता है। मोनो सुखराम के संबंध में कहती है—

"पर मुझे उसमें जवानी का हड़कम्प ही नहीं दिखाई देता। वह शराब पीता है ना पीने में हिचक जाता है। किसी की लड़की के साथ एक दिन भी नहीं पाया गया वह गाली नहीं देता जो मर्दानगी की निशानी है, चोरी वह नहीं करता जुआ वह नहीं खेलता।' [१]

इन नटों में पति-पत्नी में आपस में प्रेम होता है परन्तु नये संबंधों के लिए वे स्वतंत्र होते हैं। एक साथ कई संबंध भी चल सकते हैं। ऐसे भी पति होते हैं जो परिवार की चिन्ता नहीं करते, शराब और जुए में अपना सर्वस्व खो देते हैं। उनकी स्त्रियां खेल-करतब दिखा कर ऊंची जातिवालों से नाजायज संबंध जोड़ती है तथा चोरी करती हैं। पुलिस इन पर अत्याचार करती है। सुखराम भी जानता है कि :

' सिपाही में बड़ी ताकत होती है। वह राजा का आदमी होता है। वह सबसे घूस लेता है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह जिधर जाता है उधर ही नट डर कर छिप जाते हैं। चाहे जब चाहे जिस नटनी को जकड़िया को पकड़ ले जाता है। [२]

नटों के मन में सिपाहियों का बहुत भय रहता है क्योंकि वे उन्हें थाने में पकड़ ले जाते हैं, वहां पर चार कह देते है और बेंत से पीटते हैं, कभी कभी गुड़ के पानी के छींटे दे दिये जाते है जिससे चींटे लग जाते हैं।

' दरोगाजी को जरूरत पड़ती है तो इनमें से किसी को बुला लेते और सिपाहियों के जरिये समझा-बुझाकर बनियों की चोरी करवा देते। माल बट जाता। गांव के बाहर चामड़ के पीछे जुए का भी एक अड्डा पुलिस ने बनवा दिया था जिसकी नाल का तीन-चौथाई दरोगा के हाथ में जाता था। [३]

नट-जीवन की ये समस्याएं उपन्यास के संपूर्ण कथानक पर छाई हुई है। प्रगतिशीलता का आभास उपन्यास में ठाकुर विक्रमसिंह और उनके पुत्र नरेश के माध्यम से आया है परन्तु उनमें भी उसका स्वाभाविक रूप नहीं है। विक्रमसिंह कांग्रेसी है। वे गांधीजी की जय, पं० नेहरू की जय नौकर शाही का नाश हो, वन्देमातरम् आदि नारे लगाते है, मानवता तथा विश्वबंधुत्व की बात करते है परन्तु नटों को अत्यंत हीनता की दृष्टि से देखते है।[४] अंत में गलती समझ में आती

१ कब तक पुकारूं, पृष्ठ २३।
२ वही, पृष्ठ ६१।
३ वही, पृष्ठ ६६।
४ वही, पृष्ठ ५०७।

है और उन्हें अपना व्यवहार अनुचित लगता है और वे अनुभव करते है कि "मैंने गाधी की लाश मे ठोकर मार दी है।"[1] परन्तु नवीन चेतना जागृति आचलिक पात्रो मे नही है। सुखराम अवश्य पर्याप्त भिन्न लगता है परन्तु वह शुद्ध नट जो नही, नटिनी के गर्भ से अवश्य उत्पन्न है परन्तु उसका पिता ठाकुर था। फिर भी नटो के जीवन की समस्याओ का सुन्दर चित्रण है।

'आठवीं भावर' मे जिस वैवाहिक समस्या का उद्घाटन किया गया है, वह उस विशिष्ट रूप मे गोसाईयो मे दिखाई देती है। इसीलिए सदानन्द यह अनुभव करता है कि "काश उसकी एक और बहिन होती! तब न जाने कितने गोसाई परिवारो की रूपवती, गुणवती, सच्चरित्र कन्याए उसके घर आने के लिए लाला-यित रहा करती। बिना लडकी पाए अपनी लडकी कौन दे ?"[2]

यही स्थिति पार्वती भी अहसान जताते हुए अपने देवर मन्नू को समझाती है—"मैं कोई थारे घर आटे-साटे मे नी आई। मेरे घर वाला की न तमने मेरे बद्दल किसीको दिया, ना मेरी छोटी भाण के बद्दल। जिसरा जिसमे जी बैठ गिया, उसमे ई वो बैठे, तो इसमें कुढबी बात के है, लाला? यो तो रजपूता का गा है। सच जाने ब्याह की खात्तर तो कोई न कोई मुढ बिठाना ही पडै। तलवार अर पगडी भेज के भी फेरे फिर जावें। थारे जेठे ने छोटे को भेज के अपना ब्याह रचा लिया तो के कुदरशापन हो गिया इसम।'[3]

इस स्थिति का मुख्य लाभ यह हो सकता है कि जेठे के मरने पर भी उसकी पत्नी विधवा न हो और वह पति के छोटे भाई के बैठ जाय। रामानन्द की मा ने सदानन्द के माध्यम से पार्वती का रामानन्द के साथ विवाह करने मे सभवत यही सोचा था " ' कि बेटा मर जा, पर बहू राड न हो, ऐसी कोई विध बिठानी चाहिये। तो फेर बिध यो बैठी कि ब्याह हो तेरे सग और घरवाली भरतो बाजै मेरी। बस, यू समझ ले कि भरतो का जिम्मा हो गया,"[4] और इसीलिए पार्वती के पिता ने यही शर्त सरस्वती के सदानन्द के साथ ब्याह के लिए रखी—

"अगर मैं छोटी को छोटे के साथ रहने देता, तो कल को जेठे का बुलावा आ जाने पर वह छोटी के साथ तुझे रखने वाला न होता अब जब भी भगवान अनहोनी करेगा, छोटा तुम दोनो को एक साथ घर बिठावेगा—नही तो छोटी भी उसे नही मिलेगी। जो भी हो तुम दोना मे से किसीको भी अपनी माग सूनी करने की जरूरत नहीं पडेगी।'[5]

---

१ 'कब तक पुकारू', पृष्ठ ६५६।
२ 'आठवीं भावर', पृष्ठ ८।
३ वही, पृष्ठ ३८।
४ वही, पृष्ठ २०।
५ वही, पृष्ठ ४०।

इस स्थिति के औचित्य को रामानन्द ने भी स्वीकार कर लिया था[1] और उसकी स्वीकृति का लाभ उठाकर उसकी पत्नी पार्वती ने भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से अपने देवर सदानन्द को अपना शरीर सौंपा था।[2] सदानन्द इतना प्रगतिशील नहीं कि इन कुप्रथाओं का विरोध कर सके परन्तु उसकी आत्मा इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाती और वह निश्चय कर लेता है कि "कोई सीता-सावित्री मिलेगी तो ब्याह कर लेगा, नहीं तो औरवानियों का कनी घाटा नी पड़रा।'[3] नवीन चेतना इस समाज में तब तक आनी कठिन दीखती है जब तक यह भीख माग कर खाने का धंधा नहीं त्याग देता।

'कोहरे में खोए चाँदी के पहाड़' में इसी वैवाहिक समस्या का एक अन्य रूप प्रदर्शित किया गया है। जौनसार बावर के पांडव वंशीय समाज में बहुपतीत्व की प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार विवाह करने का अधिकार केवल बड़े भाई को ही होता है। वह चाहे जितने विवाह कर सकता है। अन्य छोटे भाई इन सभी स्त्रियों से पत्नी जैसे संबंध रख सकते हैं। परन्तु उन सभी स्त्रियों से उत्पन्न सभी सन्तानें बड़े भाई की सन्तानें मानी जाती हैं। छोटे भाई इन स्त्रियों के साथ रात घर पर नहीं बिता सकते। उन्हें तो दिन में छानियों या अन्य स्थानों का आश्रय लेना पड़ता है।[4]

इस प्रमुख समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्याएँ भी हैं जिन्हें उपन्यास में केवल उठाया भर गया है। ये समस्याएँ हैं—नारी शरीर की सहज सुलभता के कारण उसका शोषण[5], गंदे तथा नग्नप्राय रहने में विश्वास[6] और मुद्रा द्वारा विनिमय को अनैतिक मानने के कारण आर्थिक शोषण[7]। इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है पहाड़ों की दुर्गमता। 'इस घाटी के लोग राडों के उस पार बसे पहाड़ी लोगों को भी परदेशी और पराया समझते आये हैं।"[8] चाँदी जैसे शुभ्र वर्ण के ये पहाड़ अंध परम्पराओं के कोहरे में खोए हुए हैं। नवीन जागृति यहाँ भी दो आंचलिक पात्रों के माध्यम से, जिन्होंने देहरादून में रहकर शिक्षा पाई है, आती है। यह जागृति केवल अंध-परम्पराओं को त्यागने में ही नहीं वरन् सेवा, त्याग, प्रेम और अहिंसा के पथ का अनुसरण करने में भी प्रकट होती है।

---

१ 'आठवीं भावर', पृष्ठ २१।
२ वही पृष्ठ ७६।
३ वही, पृष्ठ २२।
४ 'कोहरे में खोए चाँदी के पहाड़', पृष्ठ ११।
५ वही, पृष्ठ ६९।
६ वही, पृष्ठ ५२।
७ वही, पृष्ठ ५२।
८ वही, पृष्ठ ५६।

'पानी के प्राचीर' मे गोरखपुर जिले मे राप्ती और गोरी नदियो की धाराओ मे घिरे हुए एक विशाल भू-भाग की समस्याए चित्रित है। युगो से यह प्रदेश अपनी सारी हरियाली इन नदियो की धाराओ को लुटाकर केवल विवशता, अभाव और सघर्ष के रूप मे शेष रह गया है।"[१]

> "ससार के सारे सूत्रो से कटा हुआ यह प्रदेश अपने आप मे एक ससार है। यहा न सडकें हैं न शिक्षण-सस्थाए, न सुविधापूर्ण डाकखान हैं, न सुरक्षा के लिए पुलिस चौकिया, न चिकित्सालय है, न खेतो के सुधार या विकास के लिए कोई सरकारी या गैर सरकारी व्यवस्था है। यहा है ' असूझ, गरीबी, व्यापक-अशिक्षा, अजगरो की तरह बल खाते दौडते, ऊचे-नीचे नाले, बीमारी, बेकारी, आपसी फूट और सदिया पुरानी जर्जर नैतिक मान्यताए। इस वीरान प्रदेश मे नेता आते है, केवल वोट लेने, सरकारी कर्मचारी आते हैं लोगो को लडाकर अपना उल्लू सीधा करने।'[२]

नदिया के प्राचीर मे घिरा यह भू-भाग वास्तव मे बन्दी है। घोर कछार म बसा हुआ है, चारो ओर फैली हुई नदिया बरसात म बीसो मील तक उमड कर ठाठ मारती है। बाढ और बाढ ही दिखाई पडती है। दस-बारह मील तक सवारी का कोई रास्ता नही है, बाहर से न कोई आता है न जाता है। गोरखपुर शहर यहा से बीस मील की दूरी पर है। यह गरीब क्षेत्र शहर मे लडको को भेजकर अग्रेज़ी शिक्षा दिलाने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसलिए थोडी शिक्षा प्राप्त कर कोई भाग्यशाली हुआ तो मिल म चार महीने के लिए क्लर्की पा जाता है, अधिक लोग गाव की धारा मे डूबकर अपनी थोडी-सी पूजी हाथ मे गवा बैठते हैं।[३] इस प्रदेश को दरोगा तक गालिया देता है—

> "य भी साला कोई इलाका है ? साला चारो तरफ दरयाव है, खाई है, खदक है, चोर हैं, उच्चके हैं, न सडकें है न ठीक रास्ते और यहा के आदमी साले इतने दरिन्दे है कि रोज खून करते हैं। इन हैवानो के दरम्यान मेरी जान आफत मे पड गई है।"[४]

जमीदारो और पूजीपतियो का शोषण भी है जिसके माध्यम है मुखिया बाबू हुरदेवराय और गजेन्द्रसिंह। पुलिस के अत्याचार हैं,[५] बाढ और सूखे की विपत्तिया हैं,[६] बीमारिया हैं और सबसे बढकर निपट कगाली है—"मिल का गधक भग

---

१. 'पानी के प्राचीर' (पूर्वाभास), पृष्ठ १।
२ 'पानी के प्राचीर' पृष्ठ १।
३ वही, पृष्ठ १०६।
४ वही, पृष्ठ १८६-१८७।
५ वही, पृष्ठ १८६-१६०।
६ वही, पृष्ठ १३४-१३६।

महादरिद्र, दमा के रोगी और प्रकृति के सुस्त। इसी कुलीनता के महत्त्व ने मिथिला मे 'बिकौआ' प्रथा को जन्म दिया। कुलीन ब्राह्मण अपनी कुलीनता बेच बेचकर अपनी जीविका चलाते थे। एक-एक व्यक्ति बाईस-बाईस तक शादियाँ करता था। उनका जीवन ससुराल मे ही कट जाता था। उनकी इज्जत भी काफी होती थी। आदरपूर्वक आमन्त्रित करके तब लोग उनसे अपनी कन्या का पाणिग्रहण करवाते थे।[१] रतिनाथ के नाना की दस विमाताएं थी। जयनाथ के परदादा ने इक्कीस शादियाँ की थीं। इस बहुपत्नीत्व ने जहा स्त्रियो की स्थिति को दयनीय बनाया था वही समाज मे अनैतिकता का भी प्रचार किया था। इन्द्रमणि की दो लडकियों (जनक किशोरी और शकुन्तला) का विवाह बिकौओं से हुआ था। "एक का अपने चचेरे भाई से और दूसरी का कुल्ली राउत के जवान बेटे से स्नेह-सम्बध था। साल डेढ साल पर बिकौआ महाशय आ ही जाते डेढ-दो मास रहकर फिर चले जाते। शकुन्तला के पति की सात शादियाँ थी और जनक किशोरी के पति की दस। शकुन्तला का तीसरा लडका हू-ब-हू उसके चचेरे भाई की शक्ल का था और जनक किशोरी की दोनो सन्तानें आकृति मे कुल्ली राउत की परम्परा मे आती थी।"[२] ब्राह्मणो की कुलीनता को सुरक्षित रखने के लिए चौदहवी सदी मे कर्णाट-वशीय राजा हरिसिंह देव ने तत्कालीन ब्राह्मणो का पंजा तैयार करवाया। "ब्राह्मणों की ऐसी सिलसिलेवार फेहरिश्त भारत भर म और कही नही है।'[३]

शुभकपुर ग्राम जो इस कथा का आधार है अशिक्षा और जमीदारी शोषण मे भी ग्रस्त है। छोटी-सी पाठशाला है जहा के पण्डित जी के लिए अध्यापन का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण नही जितने महत्त्व का खेती-बाडी और पुरोहिती।[४] ' इस मौजे के मालिक रायबहादुर दुर्गानन्दनसिंह बडे जमीदार तो थे ही, साथ ही लहना-तगादा का भी भारी कारोबार चलाते थे। तीन लाख रुपये पचीसा नस्तियाँ के इस समुद्र मे दात निपोडे पूछ खडी किये मगरो की तरह टहल बूल रहे थे। ब्याज का दर प्रतिमाह डेढ रुपये सैंकडा था'' पुरान अगूठे को साल-साल नया कराते जाते। सूद भी मूल बन जाता•••हवेली मे नगद रुपये रखने के लिए उन्हे तहबच्चा बनवाना पडा था।'[५]

समाज मे नई जागृति ताराचरण के माध्यम से आ रही थी। नये खून का उदय हो रहा था। वह नियमित रूप से समाचार-पत्र मगवाता था और जन-

---

१ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ २०।
२ वही, पृष्ठ ६८।
३ वही, पृष्ठ १२६।
४. वही, पृष्ठ ४८।
५ वही, पृष्ठ ६१।

जागृति का प्रयत्न करता था। गाव मे उसने श्रमदान का भी प्रचार किया और किसानो को सगठित किया। जहा काग्रेस तक जमीदारो से प्रभावित थी वहा ताराचरण का कार्य अवश्य प्रशसनीय था। कत्तिनो का शोषण खादीवाले करते थे। "काकी की समझ मे नही आ रहा था कि गाधीजी के चेले इस प्रकार की बेईमानी क्यो करते हैं।"[१]

श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यासो मे जन-जीवन की समस्याओ को सामाजिक सघर्ष की पृष्ठ-भूमि मे उभारा गया है। 'आदित्यनाथ' कुल्लू उपत्यका की एक ऐसी अनोखी घाटी का जीवन चित्रित करता है जो अपने-आप मे विशिष्ट है। मलाणा ग्राम आधुनिक ससार के सपर्क से बहुत दूर है। सदियो से इस गाव वहा से बाहर आना-जाना असभव होता है, वहा निपट निरक्षरता है और अजीब जीवन पद्धति।

> 'मलाणे म खाने का बड़ा तकलीफ। जोन पर अगर जड़ी-बूटी न होवे तो मलाणे का लोग भूख से मर जावे। मर जावें बाबा।"[२]

गाव मे जमलू देवता का शासन है, लोग ईमानदार और कर्त्तव्य परायण हैं।

> "यहा का आदमी किसी दूसरे की चीज नही छूता चाहे सोना-चादी जमीन पर फेंक दो।"[३]

यहा विवाह-बधन मे कोई दृढता नही, विवाह कोई समस्या नही और न ही सभ्यता के उलझावो से उत्पन्न यौन जीवन की जटिलता।[४] बीस वर्ष की उम्र होने तक एक-एक स्त्री कई-कई विवाह कर चुकी होती है। वहा अमीर-गरीब नही, भूखा-नगा नही, भीख मागने वाला नही।[५]

"मलाणे मे पढाई-लिखाई की जरूरत नही, पढा-लिखा लोग बडा बेईमान ।"[६] मलाणे मे बेईमानी नही झूठ नही। मलाणे मे कोई समस्या इसलिए नही कि वर्त्तमान सभ्यता से अछूता है। यहा अपनी सनातनी पचायत है अपने रीति-रिवाज तथा अपनी अनोखी जीवन-पद्धति है। परन्तु उपन्यास के शेष दो तिहाई भाग मे मलाणे का जीवन नही कुल्लू का जीवन है, उसमे भी वहा पनपती राजनीतिक, अशाति, उद्बुद्ध-वर्ग का आपसी वैमनस्य, स्वार्थपरता और हिन्दू-मुस्लिम दगे है। आंचलिक जीवन मे नवीन चेतना का सदेश लेकर पहुचने वाला पात्र आदित्यनाथ है। यद्यपि उसकी नवीन चेतना को मलाणे का समाज

१ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ६६।
२ 'आदित्यनाथ' पृष्ठ १७७।
३ वही, पृष्ठ १७६।
४ वही, पृष्ठ १६४।
५ वही, पृष्ठ २०२।
६ वही, पृष्ठ २२१।

मान्यता नही देता और उसे स्वय निष्कासित होकर भागना पडता है परन्तु एक आचलिक पात्र (आदित्यनाथ की मलाणे की पत्नी) बुद्धि और अनाचलिक पात्र हलीमा, साम्प्रदायिक एकता के महत्त्व का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार पिछडे हुए पहाडी समाज मे शिक्षा-प्रसार की प्रमुख समस्या के साथ राजनीतिक चाल-बाजियों की समस्या का उद्घाटन हुआ है।

'मुक्तावती' मे वर्ग-सघर्ष को महत्त्व प्राप्त हो गया है। बगाली, मारवाडी और मणिपुरी वर्गों म प्रान्तीयता एव जातीयता की भावना पर यह सघर्ष आधारित है। परन्तु सबके ऊपर है राजनीतिक सघर्ष—मणिपुर नरेश के विरुद्ध। इस प्रकार मणिपुरी जीवन का चित्रण इसका मुख्य विषय नही रह गया है। शैलेन्द्र तथा प० विष्णु माधव के द्वारा उद्भूत सघर्ष जिसके सहायक चन्द्रावत, तोम्बीसना एव मुक्तावती बनकर आते हैं, १९३० के आस-पास के राष्ट्रीय आन्दोलन का ही प्रतिरूप बन जाता है। लेखक ने "यथार्थ की पृष्ठ-भूमि पर मणिपुर में गाधीवाद एव मार्क्सवाद के जन्म, द्वन्द्व और उसके समाधान की कहानी भी"[१] कही है। नवीन चेतना सभी वर्गों म दिखाई देती है क्योकि सभी सम्पन्न वर्ग है। जिस भावात्मक एकता के प्रवचन के साथ उपन्यास समाप्त होता है वह बेजान है।

अर्द्ध आचलिक उपन्यासो मे जीवन की समस्याए ली गई हैं अत ऐसे उपन्यास कथानक की दृष्टि से नही अन्य दष्टियो से ही आचलिक हैं। उदाहरणार्थ 'लोहे के पख' तथा 'बलचनमा' मे जमीदारी शोषण, पूजीवादी शोषण और सामन्तवादी शोषण की कथा है। 'सूरज किरन की छाह' मे ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन की समस्या है 'अविरल आसू' म नीलहे अग्रेजो के द्वारा गरीब किसानो के शोषण की कथा है, 'बाबा बटेसरनाथ' मे भी सामन्त वर्ग की स्वार्थपरता को आधार बनाया गया है। इस प्रकार की समस्याओ मे जागृति के लक्षण तो स्वत ही समाविष्ट हो जाते हैं यद्यपि समस्याग्रस्त जीवन आचलिक नही होता।

समाहार की विशिष्टता

सामान्य उपन्यासो मे कथा कार्य की विविध अवस्थाओ से गुजरती हुई एक ऐसे समाहार तक पहुचती हैं जहा सभी ग्रन्थिया खुल जाती हैं, सघर्षों की समाप्ति हो जाती है और कई बार तो कोई निष्कर्ष भी निकल आता है जो कथा का उद्देश्य, शिक्षा अथवा लेखक का जीवन-दर्शन जैसी ही कोई वस्तु होता है परन्तु आचलिक उपन्यासो म समाहार की अपनी विशिष्टता होती है। आचलिक जीवन सतत प्रवाहमयी धारा के रूप म बहता रहता है अत कथा भी

१ 'मुक्तावती', भूमिका 'पाठका से', पृष्ठ ८'।

भविष्य के प्रवाह की ओर सकेत करती हुई रुक जाती है। इसीलिए कई उपन्यासो मे यह अत अपूर्णता का आभास देता है। 'जगल के फूल' मे आदिवासियो का विद्रोह डी० एस० पी० ग्रेयर की चाल से असफल हो जाता है। झालरसिंह मारा जाता है। गुण्डा और ढेबरी के लिए दस और पाच हज़ार रुपये के ईनाम घोषित कर दिये जाते हैं। महुआ और सुलक भाग कर खण्डहरो मे पहुच जाते हैं और सुलक के महुआ के प्रति कहे गये इन सात्वनापूर्ण शब्दो के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है—

> "जो हो चुका है उससे बडा अशुभ अब क्या हो सकता है, महुआ, यह कोल्हा तो भूमकाल के असमय अत पर रो रहा है। पर सचमुच यह अत नही है माइगुती। सबेरे का नया सूरज हमे नई ताकत देगा अब हम देखेंगे कि ग्रेयर हमारी भूम से कैसे बचकर निकलता है।"[1]

इस नये निकलने वाले सूरज की पाठक प्रतीक्षा ही करता रहता है और उपन्यास बिना कोई निष्कर्ष प्रस्तुत किये समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार 'बलचनमा' मे किसान आन्दोलन मे भाग लेने के कारण बलचनमा पर ज़मीदार के गुण्डे आक्रमण करते हैं, वह मछली फसाने के जाल मे बाध दिया जाता है। उपन्यास की अतिम पक्तिया हैं—

> "मैं बधा था और जाल मे सभी अग उलझे हुए थे। हा, दातो से एक की कलाई को चापे हुए था। पहले ने अब मेरे सिर पर जोर से लाठी मारी—एक नही दो बार' मैं बेहोश होकर ज़मीन पर लुढक गया।[2]

सघर्ष की जोरदार तैयारिया हो रही हैं ज़मीदारो के हथकण्डे चल रहे हैं परिणाम अनिश्चित है बलचनमा बेहोश है और उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'वरुण के बेटे' भी एक अजीब अनिश्चित स्थिति मे समाप्त होता है। तकावीवसूली की जल्दी और मनवरा के ज़मीदारो की ज़्यादतियो का विरोध हो रहा था कि ज़मीदारो ने चाल चलकर दफा १४४ लगवा कर गढपोखर मे मछली पकडवाना वर्जित करा दिया। डिप्टी मजिस्ट्रेट गाव के मुखियाओ का मुचलका लिखने आ पहुचे। कमेटी ने निश्चय किया कि जब तक सभी सदस्य नही आ जायेंगे, वे बयान नही देंगे। तब उन्हे गिरफ्तार करने की धमकी दी गई। मधुरी सबसे पहिले सभी का मार्ग-दर्शन करती हुई पुलिस वान पर सवार हुई, उसके पीछे मगल, जलेसर, नक्छेदी आदि भी चढ गए और हक की लडाई लडने नवयुवक-समाज जेल के लिए चल पडा। 'वरुण के बेटो' की समस्या दूर नही हुई और उपन्यास समाप्त हो गया।

'सत्ती मैया का चौरा' मे न्याय का पक्ष लेने वाले मन्ने पर अन्याय के पक्षधर

---

१ 'जगल के फूल', पृष्ठ २५६।

२ 'बलचनमा', पृष्ठ २२१।

धोखे से हमला कर उसे जख्मी एवं बेहोश कर देते है। अस्पताल मे जब मन्ने को होश आता है तब वह कहता—

"मैं मरूगा नही, सभापति जी···।"[१]

और उपन्यास समाप्त हो जाता है जबकि संघर्ष अभी अधूरा है और निष्कर्ष कोई नहीं निकला।

'अलग अलग वैतरणी' मे विपिन करैता के जीवन की स्थिरता से निराश होकर गाजीपुर चला गया है, देवनाथ अपना चिकित्सालय कस्बे मे उठा ले गया है; मास्टर शशीकांत जो "सूरज की रोशनी मे करैता आया था · रात की अंधेरी मे अपने सारे हौसले लुटाकर"[२] लौट गया है, खलील मिया गाव के हिन्दुओ के व्यवहार से तग आकर जमानिया चले गए हैं और पुष्पी विपिन की कामना करते-करते दूसरे की ब्याहता बनकर गाव छोड़ गई है। अन्य पात्र भी अपनी-अपनी वैतरणी मे डूबने-उतराते बहे जा रहे है—निस्तार कही दीखता नही। दीख भी नही सकता क्योकि जमीदारी के जुल्म से तो लोग बरी हो गए हैं पर "जिन पर उस वक्त जुल्म होता था वे ही आज जालिम बन गए है। छुटभइये लोग दो पैसे के आदमी हो गए, तो आख उलट गयी।···वही छुटभइये जो पहले जमीदारी के बूटों से रौदे जा रहे थे अब···गोल बनाकर अपने से कमजोरो, गरीबो को सताते हैं। लूटते हैं।···जमीदार था तो एक खोल थी·· उस वक्त मे लडाई बडी साफ थी। अब किससे लडे। अपने ही भीतर के लोग खोल ओढकर डाकू, लुटेरे और जालिम बन बैठे हैं।"[३]

'लोक लाज खोई' की हवलदारिन भौजी की हत्या करने को 'लालता-जगदम्मा' कटिबद्ध हैं। आधी रात बीत चुकी है, तुलसी साहु की पतोहु उससे अपने ही घर मो जाने का आग्रह करती है परन्तु—

> "भौजी ने एक झटका देकर गरूर से सर ऊपर उठाया और उपेक्षा से 'हु हु' कहकर 'झमक झम, झमक झम' करती अपने ओसरे की ओर चल दी।"[४]

तुलसी साहु की पतोहु भयभीत है, मोर्चा बधा हुआ है परन्तु भौजी निश्चिन्त हैं। इसी स्थिति मे उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'हौलदार' मे डूगरसिंह की कथा एक ऐसे मोड पर जाकर समाप्त हो जाती है जहा आगे की स्थिति अत्यत अनिश्चित है। उसने आत्म-हत्या का नाटक करके सारे गाव की सहानुभूति प्राप्त करली है, थोकदार गुमानसिंह उसे अपने घर

---

१. 'सत्ती मैया का चौरा', पृष्ठ ७४३।
२. 'अलग अलग वैतरणी', पृष्ठ ५३२।
३. वही, पृष्ठ ६३२।
४ 'लोक लाज खोई', पृष्ठ २३६।

उठवा ले गए हैं जहा से वह अपनी योजनाओ को क्रियान्वित करेगा। कथा अपूर्ण है इसका सकेत लेखक ने भी अत मे यह सूचना देकर दिया है कि आगे की कथा 'बारूद और बादली' मे पढने को मिल सकेगी।

'रथ के पहिये' मे आनद, गोड रूपी को अपने साथ लेकर बम्बई के लिए चल पडा है जहा से वह आसाम जाने को कृत-सकल्प है क्योंकि "जीवन का रथ तो डगर पर आगे ही जायेगा—वह रुक नही सकता—चाहे कोई रथ से उतर जाए, चाहे कोई रथ पर सवार हो जाए—पर रथ रुक नही सकता।"[१]

'ब्रह्मपुत्र' की कथा के पूर्ण होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। वह तो एक सतत प्रवाहमान जलधारा है। जो मछुए है उनका "काम यही है—जाल फेंके, मछलिया पकडें, आप खायें दूसरो को खिलाए। धन्य है ब्रह्मपुत्र। धन्य है ब्रह्मपुत्र की मछलिया। देश गुलाम था, तो भी मछलिया जाल मे फसती रहीं। अब देश आजाद है, तो भी बराबर जाल मे फस रही है मछलिया।"[२] दिमागमुख के निवासियो ने ब्रह्मपुत्र मे बहकर आने वाली लकडी पर लगे टैक्स तथा पुलिस के अत्याचार के विरोध मे आन्दोलन किया था परन्तु आजादी आई तो क्या हुआ "वैसे ही ब्रह्मपुत्र मे बहकर आती लकडी पर टैक्स लगा हुआ है, वैसे ही पुलिस धौंस जमाती है, वैसे ही हमारे नेता हमे केवल वोट लेने के समय ही याद करते हैं।"[३]

ब्रह्मपुत्र मे जब तक बाढ आती रहेगी, जमीन कटती रहेगी, दिमागमुख उजडता-बसता रहेगा, ब्रह्मपुत्र "के साथ हमारा पुराना लेन-देन है, हमारा भुगतान होता रहता है।"[४]

इस प्रकार समाहार की दृष्टि से आचलिक उपन्यासो का एक वर्ग ऐसा है जिसमे कथा सतत प्रवाहशील रहती है, सभवत इसी कारण कि अचल एव आचलिक जीवन स्वय एक सतत प्रवाहशील सत्य है और जब तक यह जीवन स्थिर है, कथा भी अपूर्ण रहेगी। जीवन के साथ जीवन का सघर्ष भी चलता रहेगा, इसी सत्य की ओर 'ब्रह्मपुत्र', 'वरुण के बेटे', 'जगल के फूल' जैसे उपन्यास सकेत करते है। ऐसे उपन्यासों मे यद्यपि कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नही किया जाता, न ही समस्याओ की समाप्ति की सूचना होती है फिर भी सुन्दर भविष्य की ओर सकेत तथा समस्याओ के समाधान की आशा की एक क्षीण रेखा अवश्य विद्यमान रहती है। इसीलिए 'जगल के फूल' मे सुलकमाए यही आशा बधाता है कि सवेरे का नया सूरज उन्हे नई ताकत देगा। 'बलचनमा' मे उसका नायक

१ रथ के पहिये', पृष्ठ ३५३।
२ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ४४५।
३ वही।

बलचनमा भले ही बेहोश तथा बधन-ग्रस्त हो परन्तु सघर्ष प्रारभ हो चुका है, नई चेतना से किसान उठ खडा हुआ है, अब वह अधिक समय तक शोषित नही रह सकेगा, यह सदेश वह अव्यक्त रूप मे देता है। यही बात 'वरुण के बेटे' मे भी द्रष्टव्य है। जिस अचल मे मोहन माझी तथा मधुरी जैसे कार्यकर्ता हो वह अधिक समय तक शोषित नही रह सकेगा, यह ध्वनि उपन्यास के अपूर्ण अत मे ध्वनित हो ही जाती है। 'ब्रह्मपुत्र' मे सद्य प्राप्त आज़ादी से दिसागमुख-वासी सतुष्ट नही हैं। परन्तु यह बात अतुल भी कहता है कि "लम्बी गुलामी के कारण हम मे बहुत-सी बुराइया आ गई हैं। अब ये बुराइया समय पाकर ही तो निकलेंगी।"[1] रावाल काका का भी यही मत है, 'आज़ादी ऊपर से उतर कर लोगो तक नही पहुचती, लोगो को ही ऊचे उठकर आज़ादी तक पहुचना होता है।"[2] और रानी गोइडान्लो को भी सतोष है कि "सच्ची आज़ादी के पैर भी जमेगे।"[3]

समाहार की विशिष्टता की दृष्टि से आचलिक उपन्यासो का एक वर्ग और है *जहा उपन्यास अपनी चरम सीमा पर पहुच कर समाप्त होता है—उसका एक* निश्चित स्वाभाविक अत होता है, कथा मे पूर्णता होती है और समस्या का समाधान हो जाता है। 'मैला आचल' मे सभी पात्रो को यथोचित फल मिल गया है, खेलावनसिंह यादव तहसीलदार के कर्ज मे और अधिक डूब जाता है, सकलदीप नानी का सोना चुराकर थियेटर कपनी की एक लैला के साथ भाग जाता है, बालदेव ने लक्ष्मी के साथ अलग मढैया डाल ली है, जोतखीजी को लकवा मार गया है और डाक्टर प्रशान्त आसू से भीगी धरती पर प्यार की खेती करने गाव को लौट आया है जिससे कम से कम एक ही गाव के कुछ प्राणियो के मुरझाए ओठो पर मुस्कराहट ला सके, उनके हृदय मे आशा और विश्वास प्रतिष्ठित कर सके। 'परती परिकथा' का प्रारभ भूमि के परती हो जाने से हुआ था—कैसे शस्य-श्यामला लाखो एकड जमीन को अचानक लकवा मार गया होगा ? और अत उसी परती के उद्धार से होता है— 'सेमल वनी के आकाश मे अबीर गुलाल उड रहा है। आसन्न-प्रसवा परती हस कर करवट लेती है।"[4] लुत्तो बहुत बदनाम होता है, मकबूल और उसकी पार्टी जितन के पक्ष मे हो जाती है, दुलारीदाय-योजना के प्रचार के लिए साहित्य लिखा जाता है और नया सगठन होता है, पाच अको का पच-चक्र गीति-नाटक खेला जाता है और सारे गाव मे प्रसन्नता एव नव-जीवन की लहर दौड जाती है।

'सागर लहरें और मनुष्य' की परित्यक्त, लाछित, अपमानित रत्ना को

---

१ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ४४६।
२ वही।
३ वही।
४ 'परती परिकथा', पृष्ठ ५०१।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'रतिनाथ की चाची' और 'बाबा जैसे व्यक्तित्व-परक आंचलिक उपन्यासों को छोड़कर अन्य सभी उपन्यासों की कथा जाग्रत जीवन, प्रगतिशील समाज की स्थापना तथा सुन्दर भविष्य की ओर संकेत करती हुई ही समाप्त होती है। कथाकार का समाहार कितना अधिक निश्चयात्मक है, यह भले ही वस्तु-प्रवृत्ति पर निर्भर हो परन्तु आशा का संदेश उसमें सदैव ही प्रतिध्वनित होता रहता है।

चतुर्थ अध्याय

पात्र एवं चरित्र-चित्रणगत शिल्प

पात्रों का प्रस्तुतीकरण एव उनका चरित्र-निरूपण उपन्यास की प्राथमिक आवश्यकता होती है। कथानक को अपना विशिष्ट रूप भी पात्रों के विशिष्ट चरित्र के कारण ही प्राप्त होता है। इन्ही पात्रो को उपयुक्त पृष्ठ भूमि मे उपन्यासकार अपनी भाषा शैली द्वारा चित्रित करता है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण उपन्यास का मूलाधार बन जाता है। या तो सभी प्रकार के उपन्यासो मे उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है तो भी आचलिक उपन्यासों मे उसकी विशिष्ट स्थिति होती है। पात्र कल्पना एव् चरित्र कल्पना का जो अभिनव रूप आचलिक उपन्यासो मे देखने म आता है वह आचलिकता की अवतारणा म विशेष रूप से सहायक होता है अत इनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है।

(क)

पात्र-कल्पना

आचलिक उपन्यासो के पात्र अन्य प्रकार के उपन्यासो के पात्रो के समान ही सामान्य जीवन से चुने जाते हैं। परन्तु आचलिक जीवन के स्वय के विशिष्ट होने के कारण पात्रो मे भी वैशिष्ट्य का स्वत समावेश हो जाता है। यह वैशिष्ट्य सभी वर्गों के पात्रो मे समानरूप मे मुखर नही होता। उदाहरणार्थ, उच्च वर्ग के पात्रो मे आचलिक विशिष्टता न्यूनतम, मध्यवर्ग मे थोडी बहुत और निम्न वर्ग के पात्रो मे पूर्ण-रूपेण प्रकट होती है। यो भी उच्च एव मध्य-वर्ग की सभ्यता की ही देन होते है जबकि अचल वर्तमान सभ्यता मे दूर अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति को सुरक्षित रखने के कारण उस सज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। अत सभ्य-समाज के उच्च वर्ग और मध्य वर्ग के वास्तविक रूप आचलिक उपन्यासो मे अप्राप्य ही रहते हैं। फिर भी प्रत्येक प्रकार के जीवन का अपना वर्ग-विभाजन होता है। बस्तर के गोडो के सामाजिक जीवन मे यदि जमीदार, राजनीतिक नेता, धार्मिक पुरोहित नही होते, तो भी गायता, घोटुल सिरदार, सिरहा आदि होते ही हैं। बरसोवा के मछुओ के सामाजिक जीवन मे भले ही माइ-

कार एवं जमींदार का स्थान न हो परन्तु सम्पन्न कोरियों का वर्ग विपन्न कोरियों का अवश्य ही शोषण करता है। इसीलिए यदि धनी एवं विट्ठल को जागरा जैसा चाकर मिलता है तो सगाड़ी गोड़ियारी में ओरा जैसे सम्पन्न मछुए को दुःखन जैसा विपन्न मज़दूर भी मिल जाता है। अछूतों में भी जोतसी, ओझा तथा साव-वर्ग होते हैं। तात्पर्य यह है कि आंचलिक जीवन का अपना वर्ग-विभाजन होता है भले ही उसका सभ्य-समाज के वर्ग विभाजन से कोई संबंध न हो। इसी कारण आंचलिक उपन्यासों में तीन वर्गों के रूप मिल जाते हैं।

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि उच्च वर्ग में आंचलिक जीवन की विशिष्टताएँ परिलक्षित नहीं होतीं। इस वर्ग के पात्र अधिकतर एक जैसी विशेषताओं से युक्त होते हैं। इसीलिए 'बलचनमा' में छोटे मालिक और मझले मालिक तथा मालकिन जिस अत्याचारी एवं शोषक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं वही 'लोहे के पंख' के बड़का बाबू, अखिल बाबू के तिरहा साहब स्टील और 'अलग अलग वैतरणी' के कुमारसिंह के चरित्र में भी मिलती है। यदि 'रथ के पहिये' का मालगुज़ार धनराज नगर की दो बहुओं के जिम्मावाले महेन्द्र दमाल का ही सहोदर लगता है तो 'पानी के प्राचीर' में पाण्डेपुरवा के मुखिया कुबेर पाण्डे में भी कोई सद्गुण नहीं दिखाई देता। इन प्रभुता-सम्पन्न पात्रों में कुछ सामान्य दुर्गुण हैं जो उन्हें थोड़े-बहुत परिवर्तन के उपरान्त एक दूसरे का स्थानापन्न बना सकते हैं। इसीलिए यदि उन्हें व्यक्ति-वाचक नाम न भी दिये जावें तो भी काम चल सकता है। कहीं उपन्यासों में ऐसा हुआ भी है। 'बलचनमा' में छोटे मालिक, मझले मालिक एवं मलिकाइन जैसे सर्वनाम ही सारा काम चला देते हैं व्यक्ति-वाचक नाम की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। 'वरुण के बेटे' में गनपरा का जमींदार उपन्यास की कथा-भूमि में प्रवेश ही नहीं करता किन्तु उसके नाम पर शोषण-चक्र चलता रहता है। इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रभुता-सम्पन्न वर्ग के ऐसे सभी पात्र जो लगभग समान प्रवृत्ति के होते हैं (इस स्थिति में अत्याचारी शोषक एवं कामुक) और मानवीय संवेदना से पूर्णतः रिक्त दिखाई देते हैं परम्परावादी वर्ग के होते हैं। परम्परावादी इसलिए कि शोषण की यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन सामन्तवादी परम्परा का ही अवशेष है।

• इस प्रभुता-सम्पन्न वर्ग का एक और स्तर दिखाई देता है जिसके पात्र जाग्रत् होते हैं। अतः जहाँ एक ओर 'प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं' वाली स्थिति का उद्घाटन करते हैं, वहीं दूसरी ओर मानवीय संवेदना से पूर्णतः रिक्त भी नहीं होते। उनमें दुर्वृत्ति पर सद्वृत्ति विजय पा लेती है और उनका चरित्र परिवर्तित होता जाता है। इस प्रकार के पात्रों में प्रमुख हैं 'मुक्तावती' में मणिपुर नरेश तथा 'कब तक पुकारूँ' में ठाकुर विक्रमसिंह। मणिपुर नरेश जिस स्थिति में चन्द्रावत के विरुद्ध हो गये हैं वह उनके पूर्व चरित्र के अत्यन्त अनुकूल नहीं दीखता। इसी

प्रकार ठाकुर विक्रमसिंह हैं। "वह सीधा-सादा कांग्रेसी जो न्याय और अहिंसा चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखाया करता था, इस समय (नरेश को एक नटिनी के साथ फुलवाड़ी में देखकर) ऐसे भड़क उठा जैसे आग की चिनगारी बारूद के ढेर में लगने पर एकदम विस्फोटक से सब पर छा जाती है।"[१] अंत में उन्हें स्वयं अनुभव हो जाता है, "मैंने गांधीजी की लाश में लात मारदी है। [२] मुक्तावती में महाराज को अंत में पूर्व-व्यवहार पर इतनी ग्लानि होती है कि वे वानप्रस्थ लेने का निश्चय कर लेते हैं।

'मैला आंचल' का तहसीलदार विचारों में प्रगतिवादी है। अपनी रैयत के साथ अपने पूर्वजों की सी जोर-जबरदस्ती वह नहीं करता। रैयत उससे खुश है। तहसीलदारी न रहने पर भी वह बिना टीप लिए मजदूरों को धान दे सकता है। रैयत कहती है, "जो भी हो तहसीलदार के दिल में दया-धर्म है। बाकी मालिक लोग तो पिशाच हैं, पिशाच!"[३] जब मैनेजर जोर डलवाता है कि 'एक साल का खजाना जिन पर बकाया है उन पर चुपचाप नालिश कर दो, बलाय-बलाय में नोटिस ५८ बी० तामील करवा लो। कुर्की और इश्तिहार निकाम करवा-कर, सर जमीन पर चपरासी को ले जाने की जरूरत नहीं। कचहरी में ही बैठकर गांव के चमार से अंगूठा का टीप लेकर ढोल बजाने की रसीद बनवा लो। गांव के एक-दो गवाह भी ठीक करके रखो।'[४] तब वह पार की उस गठरी को फेंक आता है सारी जिंदगी वह गुलामी नहीं कर सकता।

'सती मैया का चौरा' का मन्ने भी इसी कोटि में आता है। उसके चरित्र में कुछ दुर्बलताएं हैं परन्तु जिन आदर्श एवं उच्च विचारों से वह प्रेरित है वे उसे सम्प्रदायवादी जमींदार होने मात्र से बचा लेते हैं। वह कहता है—"गैर इन्साफी के सामने मैं नहीं झुक सकता, किसी मूजी के हाथ का खिलौना बनकर मैं जिन्दा नहीं रहना चाहता।"[५] उसे विश्वास है कि 'अंतिम लड़ाई में वह अवश्य जीतेगा, एक-एक ईंट चुनकर जो दीवार उसके सामने खड़ी हुई है, उसे वह एक दिन अवश्य तोड़ गिराएगा।'[६]

इन प्रभुता-सम्पन्न पात्रों का एक तीसरा वर्ग भी है—प्रगतिवादी एवं आदर्श पात्र। इनमें प्रमुख हैं जितेन्द्र, शिवेन्द्र, डा० प्रशान्त, मन्ने के अब्बा, मुक्तावती, रघुनंदन और विपिन। जितेन्द्र परानपुर ग्राम का पत्तीदार है। वह

---

१ 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ ५०७।
२ वही, पृष्ठ ६५६।
३ 'मैला आंचल', पृष्ठ १६०।
४ वही, पृष्ठ १६३।
५. 'सती मैया का चौरा', पृष्ठ ११६।
६ वही, पृष्ठ ३११।

राष्ट्रीय विचारों का युवक है। राजनीति में उसकी रुचि है परन्तु उसके अनुरूप उसमें विशेषताएं नहीं। वह सीधा, सरल और ईमानदार है परिणामस्वरूप उसका प्रतिद्वन्द्वी कुबेरसिंह उसे अत्यंत जलील एवं बदनाम करने में सफल हो जाता है। १९४३ में वह गिरफ्तार हुआ था, तीन वर्ष उसने जेल में गुजारे थे। फिर भी वह राजनीतिक बंदी नहीं माना गया। भयंकर विरोध के बावजूद पांच वर्ष वह पटना में डटा रहा, अंत में निराश होकर वह गांव लौट आया जहां लैंड-सर्वे सेटिलमेन्ट की आंधी चल रही थी। लुत्तो और शिवभद्र के कारण उसे भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा परन्तु साहस एवं दृढ़ता से उसने सबका मुकाबला किया। वह अपनी अभिनव योजना को कार्यान्वित करता रहा। अंत में उसके प्रखर व्यक्तित्व के सामने सारा विरोध दब गया।

जिनेन्द्र का पिता शिवेन्द्र बहुत कुछ रोमान्टिक कथा के नायक सा लगता है। यद्यपि पत्तनीदार से महाराजा बनने की उसकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी[1] परन्तु योग्यता, बुद्धि एवं साहस में वह किसी महाराजा से कम नहीं। मिस रोजउड की मां उसे 'बिना ताज का बादशाह'[2] मानती रही। उसके करतब, कथा, उपकथा, *परिकथा एवं किंवदन्ती के रूप में जन-सामान्य में प्रसिद्ध थे। अंग्रेज अधिकारी* उससे दहशत खाते थे। मिस्टर स्टोन ने मिसेज रोजउड को सचेत किया था— "परानपुर स्टेट के पत्तनीदार से होशियार माइण्ड यू'।[3] 'मोस्ट बडमाम ब्राह्मीन—नोटोरियस—दि ब्राह्मण क्रिमिनल ही ज।"[4] परन्तु वह मातृजाति से *लड़ना नहीं चाहता।*[5] रोजउड मां-बेटी आश्चर्य चकित हैं "इससे लोग डरते हैं? बाघ की तरह भय खाते हैं? किन्तु हमारे ड्राइंग-रूम में बैठा हुआ शिवेन्द्र तो मक्खन जैसे मनवाला है।'[6] दुष्ट, दगाबाज एवं चालबाजों के लिए वह उनसे भी अधिक दुष्ट, दगाबाज एवं चालबाज है। इसका अनुभव मिस्टर बार्कर, लरना खवास और मिस्टर एन्थनी को भली प्रकार था। मिस राजउड तो प्रथम भेंट में ही उसके लिए दीवानी हो गई थी। वही था उसके स्वपनों का तजस्वी देव-पुत्र, 'रक्त चम्पा की तरह शरीर का रंग, लाल ओठ, छोटी छोटी किन्तु संवरी हुई मूंछें, गाढ़े लाल रंग की धोती, केसरिया रेशमी मिर्जई, ढाकाई भीनी चदरी जिसके छोर पर सुनहरी कारीगरी। उंगलियों में रत्न-जटित अंगूठियां।'[7]

---

१ 'परती परिकथा,' पृष्ठ २८।
२. वही, पृष्ठ ४४३।
३ वही, पृष्ठ २६८।
४. वही, पृष्ठ २८३।
५ वही, पृष्ठ २८५।
६. वही।
७ वही, पृष्ठ २८५।

डाक्टर प्रशान्त अपने आप मे एक आदर्श पात्र है। १६४२ के एक क्रान्तिकारी से सबद्ध होने के कारण उसे भी नजर बद रहना पड़ा था। रिहा होने पर उसने मलेरिया और कालाजार पर रिसर्च करने का निश्चय किया। देश प्रेम के कारण विदेश यात्रा का प्रस्ताव उसने ठुकरा दिया और पूर्णिया के पूर्वी अचल को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। मानव-प्रेम, लोक-कल्याण एव धरती माता के प्रेम ने उसके चरित्र के सूत्रो का निर्माण किया है। ग्रामवासिनी भारत माता के अचल के तले, आसू से भीगी धरती पर वह प्यार की खेती करना चाहता है, कम-से-कम एक ही गाव के कुछ प्राणियो के मुरझाए ओठो पर मुस्कराहट लौटा लाना चाहता है।[1] इसीलिए ममता उससे कह उठती है 'मन करता है, किसी को आचल पसार कर आशीर्वाद दू—तुम सफल होओ।"

मन्ने के अब्बा सरल एव सादगीपसद व्यक्ति हैं फिर भी उनके व्यक्तित्व मे कुछ ऐसी प्रखरता है कि उनसे सभी भय खाते हैं।[2] कैलसिया उनके सबध म कहती है 'किसी को किसी भी बात का जवाब दिये बिना वे नही रहते। न कोई लिहाज, न शर्म, न झिझक, न डर और ज़बान क्या है जैसे पहाडी नदी। लोग कानो से नही सुनते आखो से उनका मुह ताकते है। ऐसा आईने की तरह साफ और शीशम की तरह सीधा और पहाड की तरह अडिग और शेर की तरह बे-गम और आसमान की तरह बडा व्यक्तित्व था।"[3] साम्प्रदायिक द्वेष से रहित, विनोदी, उदार और दयावान यह व्यक्ति एक आदर्श पात्र के रूप मे चित्रित किया गया है।

मुक्तावती भी इसी प्रकार की पात्र है। प्रेम ने उसके जीवन का मार्ग-निर्धारण किया है। अपने प्रेमी के साथ मिलकर उसने जन-सघर्ष को सफलता की मजिल तक पहुचा दिया। फिर भी यह नारी जितनी प्रेरणा से कार्य करती है उतनी प्रेरणा अपने चरित्र से नही दे पाती। 'आदित्यनाथ' का नायक आदित्यनाथ स्वय भी अपने सदगुणो का बोझ उसी प्रकार नहीं उठा पाता जिस प्रकार 'दु खमोचन' का नायक दु खमोचन।

रघुनद के चरित्र का उद्घाटन विस्तार से नही किया गया है। वह एक प्रगतिवादी पात्र के रूप मे लाया गया है जो व्यापार के सबध मे यूरोप घूमकर लौटा है। भारत मे स्त्रियो की हीन स्थिति से वह असतुष्ट है इसीलिए चमेली का परिचय प्राप्त होने पर वह उसकी ओर आकर्षित होकर उसे अपनाने को तैयार हो जाता है। धार्मिक पाखण्ड मे भी वह विश्वास नही करता और देश के प्रति तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति वह जागरूक है। ऐसा ही एक अन्य पात्र 'आई-

१ 'मैला आचल,' पृष्ठ ४०७।

२ सत्ती मैया का चौरा', पृष्ठ २१, ८४, ६५।

३ वही, पृष्ठ ८२।

सोशलिस्ट' डाक्टर पाण्डुरंग है जो रत्ना को सहारा देता है। उसका चरित्र भी अल्पमात्रा में ही उद्घाटित हुआ है।

इनके प्रगतिशील आदर्श पात्रों पर विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे पात्र अपेक्षाकृत अत्यल्प हैं क्योंकि आंचलिक जीवन में उनका कार्य सीमित ही होता है और उनके समावेश की आवश्यकता न्यून। यह स्थिति इसी वर्ग के परम्परावादी एवं प्रभुता-सम्पन्न पात्रों की भी है यद्यपि कई उपन्यासों में उनके क्रिया-कलापों की विस्तृत रूप-रेखा देखने को मिल जाती है।

मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय पात्रों की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। सम्पूर्ण आंचलिक जीवन इन्हीं दो वर्गों पर आधारित होता है। इनमें भी मध्य वर्ग अपनी विशिष्टता रखता है। कारण यह है कि यह वर्ग उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग के बीच की कड़ी होता है और दोनों के बीच झूलता चलता है। अतः उच्चवर्ग का पात्र एक कदम नीचे रखकर और निम्नवर्ग का पात्र एक कदम ऊपर रख कर, बड़ी सरलता से इसमें आ मिलता है और उसे अलग करके पहिचानना कठिन हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप राजकुमारी भुवनावती साइनेई युवक चन्द्राकर की सहयोगिनी बनकर उच्चवर्ग त्यागकर मध्यवर्ग की सदस्यता ग्रहण कर लेती है, दूसरी ओर बालदेव गोप गांधीजी के विचारों से प्रभावित होकर नेता बन जाता है और बड़ी सरलता से मध्यवर्गीय रूप प्राप्त कर लेता है। लुत्तन खवास तो राजनीति में पड़कर जमींदार जितेन्द्र की बराबरी करने लगता है। नन्दिनी ताजमनी और चमार मनारी क्रमशः उच्च वर्ग और मध्यवर्ग के सहयोग से उठकर उन्हीं के वर्ग में अपना स्थान बना लेती है। मुलकनाथ गोंड, मोहन माझी और मधुरी मछुआरी, अपने प्रगतिशील विचार, के कारण पिछड़े वर्ग के लगते ही नहीं। 'सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना तो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण विट्ठल और वंशी की बेटी प्रतीत ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग में पात्रों का विभाजन अनुपयुक्त हो जाता है। वैसे भी मध्यवर्ग का आधार या तो जातीयता होती है या प्रगतिशीलता। अतः मध्यवर्गीय पात्रों के अंतर्गत इन दोनों प्रकार के पात्रों पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। एक बात और है, निम्नवर्ग के जो पात्र इस प्रकार मध्यवर्ग में आ जाते हैं वे अपनी वर्गगत विशेषताओं का त्यागकर नवीन आग्रह को आत्मसात् कर लेते हैं। उदाहरणार्थ लुत्तो खवास "पुश्ते-पीढ़ी के पुराने लोगों पर गुस्सा होता है। दुनिया में इतना नाम रहते जाति का नाम खवास रखने की क्या जरूरत थी।'[1] अपनी हीन-भावना के परिष्कार के लिए वह गिरोहबन्दी करता है, "जाहिल ही है लुत्तो लेकिन है असली राजनीतिक लगीबाज।"[2] उपन्यास में वह खवास नहीं, राजनीतिक अखाड़ेबाज

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ४३।

२. वही, पृष्ठ ४०।

दिखाया गया है। मंजरी चमार है परन्तु अनुपम सुन्दरी। वह पढ़ी लिखी है, कला प्रेमी है, चमारिन का पेशा नहीं करती, अध्यापिका है। नटिनी ताजमनी में एक सम्भ्रान्त युवती के ही गुण उद्घाटित हुए हैं। इन पात्रों पर अन्य मध्यवर्गीय पात्रों के साथ आगे विचार किया जायेगा।

शुद्ध मध्यवर्ग के पात्र दो प्रकार के हैं—प्रथम, वे जो आंचलिक कथा के प्रवाह से हटकर अपना कार्यक्षेत्र बनाते हैं। द्वितीय, वे जो आंचलिक जीवन को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर उसे प्रभावित एवं निर्देशित करते हैं।

प्रथम प्रकार के पात्रों में 'मैला आंचल' की कमला आंचलिक जीवन से बिल्कुल अलग अपनी ही दुनिया में खोई हुई है और अत्यंत अनांचलिक ढंग का प्रेम करती है। हंसी-ठट्ठा और साथ-साथ घूमने से लेकर अस्पताल में जाकर अकेले मुलाकातें भी इसमें सम्मिलित हैं। उसकी कथा का उपन्यास के आंचलिक जीवन से कोई संबंध नहीं। बावनदास राष्ट्रवादी है। डेढ़ हाथ के इस आदमी की दाढ़ी-मूंछ बहुत भारी है। उसे 'भारत-माता जार-बेजार रोती' दीखती है। अंत में वह पूर्वी भारत-पाक सीमा पर तस्करी रोकने के प्रयत्न में मारा जाता है। 'परती परिकथा' की ताजमनी अपनी एकांत दुनिया में खोई हुई है। सारे परानपुर के *लोग मानते हैं कि वह अनुपम सुंदरी है। पढ़ी-लिखी, बुद्धिमती यह युवती प्रेम* और त्याग की साक्षात मूर्ति है। गांव के जीवन से निर्लिप्त वह जितन को पूर्ण सुखी करने का व्रत लिये हुए है। कुबेरसिंह और मकबूल राजनीतिक नेता हैं। मकबूल एक बार अवश्य लुत्तो से प्रभावित होकर उसका साथ देता है परन्तु अपनी गलती उसे शीघ्र ही अनुभव हो जाती है और वह अपनी पार्टी को अलग कर लेता है। मिम्मर मामा ग्राम में रहते हुए भी अपनी काल्पनिक दुनिया आबाद किये हुए हैं। इरावती मल्होत्रा देश के विभाजन की शिकार है और उसके हिस्से पड़ी है खानाबदोश जिन्दगी। कोसी-योजना के प्रारंभ के समय वह परानपुर ग्राम में आती है और नवीन प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त करती है। 'सागर लहरें और मनुष्य' में मारिया यद्यपि रत्ना की निकटतम मित्र है परन्तु उससे बिल्कुल भिन्न। वह अपनी सीमाएं खूब समझती है। वह विवाह भी नहीं कर सकती क्योंकि उन *लोगों की जिंदगी दूभर हो रही है, वे पिस रहे हैं, तनख्वाह कम है, वजन ज्यादा।* इसीसे वह नौकरी करना चाहती है। मिस्टर धीरवाला के रूप में एक पारसी वकील लाया गया है जो लम्पट एवं धोखेबाज है। 'काका' की कान्ता अपने पिता की आकस्मिक मृत्यु के परिणामस्वरूप पण्डों के सम्पर्क में आती है परन्तु वह उनके समान बन नहीं सकती। अंत में जन्म से अनांचलिक एक पात्र के साथ वह नवीन जीवन प्रारंभ करती है। 'बलचनमा' के फूल बाबू यद्यपि मालिकिन के भतीजे हैं परन्तु गांव में रहते नहीं, पटना में रहते हैं और कांग्रेसी हैं। इसी प्रकार राधाबाबू एक सोशलिस्ट हैं जो ईमानदार एवं त्यागी कार्य-कर्त्ता हैं। 'सूरज

किरन की छाह' मे ईसाई मिशन का सदस्य, गाव का ईसाई गायता, और उसका पुत्र विलियम गाव मे रहते हुए भी ग्रामवासियों मे बिल्कुल भिन्न है। विलियम तो आवारा एव गुण्डा है। जोसेफ गोंड होते हुए भी धर्म-परिवर्तित क्रिश्चियन है जो गोड जाति से घृणा करने लगा है। उसके आस-पास और भी क्रिश्चियन हैं। अन्य पात्रों मे ईसाई पात्रो का बाहुल्य है। 'ब्रह्मपुत्र' मे देवकान्त का चरित्र एक क्रान्तिकारी के रूप में विकसित हुआ है। वह गाव मे रहते हुए भी गाव मे अलग है। इसी प्रकार नीरद साहित्यकार है, उसमें भी असमी जीवन की विशेषताए नही दीखती।

परन्तु मध्यवर्गीय पात्रो का अधिक स्वाभाविक, प्रभावशाली एव यथार्थ रूप ऐसे पात्रों मे प्रकट हुआ है जो आचलिक जीवन मे सयुक्त होकर चलते हैं। ऐसे पात्रों मे भले और बुरे दोनो तरह के पात्र होते है। भले पात्र 'व्यक्ति' अधिक और बुरे पात्र 'टाइप' अधिक होते है। पहिले भले पात्रो पर विचार कर लें। 'मैला आचल' मे बालदेव, लछमीदासी और कालीचरण ऐसे ही पात्र हैं। बालदेव अपने सिद्धान्तों पर विश्वास करता है परन्तु कई बार उनका अनुसरण नही कर पाता। इसी कारण बावनदास के प्रति उसमे ईर्ष्या का भाव जाग्रत् हुआ था। कोठारिन लछमीदासी त्याग एव तपस्यामय जीवन व्यतीत कर रही है। अनपढ होते हुए भी ज्ञान की बात समझती है। कालीचरण सच्चे जन-सेवक तथा जन-नेता के रूप मे विकसित हुआ है। 'परती परिकथा' की मलारी चमार जाति मे उत्पन्न होते हुए भी मध्यवर्गीय पात्र है। वह शिक्षित है और सुचरित्र भी। अपने पिता की सीमाए वह जानती है, "चिड़चिड़ा है, सद्की है। लेकिन गाव के बहुत भले लोगो से अच्छा है उसका बाप।"[१] परिवार तथा गाव के प्रति उसमे अनुपम प्रेम है। 'सत्ती मैया का चौरा' म मन्ने तथा मुन्ने नवीन जागृति के प्रतीक है। दोनों ही साम्प्रदायिकता एव गदी राजनीति से दूर रहते है। 'रथ के पहिये' मे मण्डल पटेल नई चेतना के प्रसार मे सहयोग देता है। 'चिट्ठीरसैन' में हौलदार नाथूसिह एक फौजी है। देश-विदेश घूमा है और इस कारण वह गाव की समस्याओं के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है। उसने "जैसा भारी तन पाया है वैसा ही वजनदार मन भी।" छोटी-मोटी बातो का बुरा मानना वह अपनी शान के खिलाफ समझता है। उसकी विशाल-हृदयता उसके विरोधी गुमानसिंह का हृदय भी जीत लेती है। आनसिंह, गुमानसिंह, मोहनसिंह और जमनसिंह पर्वतीय समाज मे चलने वाले प्रेम, ईर्ष्या तथा पाखण्ड को कुशलता से उद्घाटित करते हैं।

रतिनाथ की चाची एक सरल, स्नेही एव त्यागमयी नारी है। समाज के

---

१. 'परती परिकथा', पृष्ठ २३८।

तिरस्कार तथा पुत्र के दुर्व्यवहार ने उसका शरीर तोड दिया था। रतिनाथ बेचारा बिना मा का लडका, बाप उसे बात-बात पर पीटता धेले धेले के लिए तरसाता, पढने मे तेज, स्वभाव मे विनीत, अभाव-अभियोगों के कटु-अनुभवों का सहोदर, यह लडका चाची की स्नेहमयी मधुर छाया म बढता गया।

'लोक लाज खोई' की हवलदारिन भौजी के चरित्र की तो विशेषता ही यह है कि अनेक सद्गुणों से आरोपित होने पर भी वह 'टाइप' नही बन पाई है। दृढ चरित्र और प्रगतिशील विचारों की यह नारी जैनाथपुर के सम्पूर्ण जीवन पर छाई हुई है। उसका सा दूसरा सशक्त पात्र किसी भी आचलिक उपन्यास म उपलब्ध नही।

'काका' के परसराम काका एव बिन्दिया स्नेह तथा प्रेम के अनुपम रूप का उद्घाटन करते हैं। काका के जीवन म पवित्रता है तो बिन्दिया मे भावना का आवेश। 'पानी के प्राचीर' का नीरू ग्राम के परम्परावादी एव निर्धन परिवार का सदस्य है परन्तु *अपने आदर्शवाद के कारण सामान्य पात्रों से भिन्न बन जाता* है। 'नई पौध' के माहे, दिगम्बर और वाचो, तीनो ही प्रगतिशील विचारो के पात्र हैं और इस दृष्टि से नौगछिया बस्ती के अन्य मध्यवर्गीय पात्रों से भिन्न हैं।

'नेपाल की वो बेटी' की हमा, कुसुम, पार्वती, हरिशकर आदि पात्र बिल्कुल भले पात्र हैं जो शक्ति-सम्पन्न बुरे पात्रों के अन्याय एव शोषण के विरुद्ध मोर्चा बनाते हैं। 'मुक्तावली' के चद्रावत एव तोम्बीसना मणिपुर मे पनपने वाले वर्ग-सघर्ष से पीडित हैं। सघर्ष है मणिपुरी तथा गैर मणिपुरी के बीच। आदर्श पात्र सभी प्रारभ से अत तक भले हैं और राजशाही के विरुद्ध सफल सघर्ष सचालित करते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' मे देवकात, अतुल, जूनतारा, आरती एव राखाल काका जैसे पात्र जन-साधारण को ब्रह्मपुत्र तथा शासक वर्ग के अन्याय के विरुद्ध सघर्ष के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

बुरे पात्र सामान्यतया एक जैसे हैं। 'कब तक पुकारूँ' का सिपाही रुस्तमखा, 'ब्रह्मपुत्र' का नारायण दरोगा, 'नेपाल की वो बेटी' का जिम्मावाल महेन्द्र हमाल, एक जैसी ही दुष्टता करते हैं। रुस्तमखा का एक मानवीय पक्ष भी है, अन्य दोनो इससे शून्य हैं। इसी प्रकार 'परती परिकथा' के गरुडधुज झा और 'मैला आचल' के जोतखीजी एव रामदास 'लोक परलोक' के स्वामी शकरानन्द और ललिता प्रसाद, 'काका' के परमसुख एव गोसाईं हरिदास, भ्रष्टाचार पाखण्ड एव लोलुपता मे एक जैसे हैं। अन्य सामान्य पात्रो म 'सत्ती मैया का चौरा' का मन्ने का विरोधी कैलाश, 'परती परिकथा' का जितन का विरोधी लुत्तन खवास, सागर लहरें और मनुष्य' का माणिक, 'पानी के प्राचीर' का नीरू का विरोधी कुवर पाण्डे और महेश, 'हौलदार' का डूगरसिंह, 'रतिनाथ की चाची' का जयनाथ, 'सूरज किरन की छाह' का जोसेफ, उद्देश्यो म हीन तथा आचरण मे भ्रष्ट हैं।

भले-पात्र जहाँ प्रगतिवादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते है वहा ये बुरे पात्र प्रतिक्रियावादी शक्तियो के प्रतिनिधि बनकर आते हैं।

परन्तु जन-जीवन का सीधा सबध सामान्यत निम्नवर्ग के पात्रों से ही होता है। अचल एवं आचलिक जीवन उन्ही मे सबसे अधिक मुखर होता है। वास्तव मे आचलिकता का आधार भी वे ही होते हैं। इस निम्नवर्ग के भी दो भाग सरलता से किये जा सकते हैं—जन-जातिया एव जन-सामान्य। जन-जातिया पिछड़े जीवन का उद्घाटन करती हैं और जन-सामान्य करवट लेते हुए अचलो का।

प्रथम वर्ग के अतर्गत गोड जाति के महुआ, मुलकसाए, भालरसिंह, बगला, बजारी, रूपी, भूनन, फुलमत आदि हैं तो मछुआ वर्ग के वशी, बिट्ठल, यशवत, जागला, इट्ठा गुरखुन, भोला, अतुल, जूनतारा, आरती, नीलमणि आदि, जगली 'हो' जाति के लुक्ना हो, मेजों कुई, जिनकी भीमा हैं तो जौनसार-बावर के माधोसिंह, पार्वती, किसन, थोकदार आदि, नट वर्ग के प्यारी, कजरी और मुखराम हैं चमारा मे मगरुआ, जतन मेहरा, कबूतरी दादी, भगडू है, ग्वालो म बलचनमा, रेवती और हिरना सावरी, भीलो मे वाना, मुन्दर्या हैं और गोसाइयो म रामानन्द, सदानन्द, सरवती एव पारवती।

जन सामान्य के अतर्गत आने वाले निम्नवर्गीय पात्र कुछ निश्चित या बधे हुए वर्गों के नहीं होते। उनम ग्रामीण जीवन के सभी पक्षों के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ पियरी ग्राम का जीवन 'सत्ती मैया का चौरा' मे अभिव्यत होता है। इसमे चमारन कॅलसिया के साथ मन्ने के सलाहकार बाबू साहब, सेवक बिलरा, चौकीदार चन्नन, प्रतिद्वदी कैलाश और अवधेश बाबू तथा मुन्नी, पडित जी और मौलवी साहब भी है। 'मैला आचल' मे बालदेव, सुमिरतदास, रामपिरिया, जोतखीकाका, खलासीजी, फुलिया, महत सेवादास, रामदास लरसिंघदास, नागासाधु लछमीदासी, हरगौरीसिंह, सेतावन-सिंह तथा तत्रिमाटोला, कुर्मछत्रीटोला, धनुकधारी छत्रीटोला, गहलोत छत्रीटोला आदि के पात्रो के माध्यम से ही मैले आचल का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। इसी प्रकार परती की कथा जितेन्द, शिवेन्द्र अथवा ताजमनी की कथा ही नहीं है, वह है मुशी जलधारीलाल दास, लुत्तो खवास, रोशन बिस्वा, मिम्मलमामा सरबन बाबू निवभद्दर, रघूरामायनी, महीचन्द चमार सुवशलाल मरड, गरुड-धुज झा, मगनीसिंह दीवाना, सामवती पीसी, मलारी, फेकनी की माय जयवती, नट्टिन हीराबाई, आदि की कथा भी है। 'हौलदार' और 'चिट्ठीरसैन' मे तो कोई एक या दो पात्र प्रमुख न होकर सभी पात्र पर्वतीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिए समान रूप मे आवश्यक हैं। चिट्ठीरसैन मे मोहनसिंह, आनसिंह, गुमान-सिंह नायूसिह, पीताम्बर चिट्ठीरसैन, रमौती, साबुली, गगोत्री, सरुली, बचुली आदि आवश्यक हैं। 'हौलदार' मे तो डूगरसिंह का चरित्र भी अन्य ग्रामीण

पात्रों के माध्यम से उद्‌घाटित हुआ है। इस उद्‌घाटन के लिए जितनी आवश्यक खिमुली-भिमुली भौजिया हैं उतनी ही आवश्यक नस्ली, लछमा, जैंता, गोविन्दी, दुरगुली पण्डितान, गोपुली काकी, भागली-नदुली श्रमजीविनें थोकदार जसनसिंह, चरनसिंह आदि भी है। 'रतिनाथ की चाची' में मिथिला का सामाजिक जीवन भी दमयती, शकुंतला, जनक किशोरी, भोला पंडित, राउन आदि के कारण उद्‌घाटित हुआ है अन्यथा रतिनाथ की चाची, रतिनाथ, जयनाथ आदि तो विशिष्ट पात्र हैं। 'आदित्यनाथ' में कुल्लू-घाटी के मलाणे का जीवन बुद्धी, जड़ा, खुड़ू डुङरी आदि ही के माध्यम से प्रकट हुआ है, अन्य पात्र पूर्णत अनाचलिक हैं।

'लोक लाज खोई' के पात्रों का इस दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है। इस उपन्यास के सभी पात्र आचलिक जीवन के हैं और उसके विभिन्न पक्षों का प्रभावशाली ढंग से उद्घाटन करते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सभी पात्र अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हैं और इस कारण अत्यंत स्वाभाविक बन जाते हैं। लगड बरजोर पंडित, फत्तेसिंह, मुरसा काकी, महेन्दर कोहार, चन्दुआ नचनिया, छविराजी, सभी अपने चित्रण के कौशल से पाठक को मोह लेते है।

(ख)

सामान्य विशिष्टताएं

आचलिक उपन्यासों के इन तीनों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) वर्गों के पात्रों पर पृथक-पृथक विचार करने के उपरांत समग्र रूप से दृष्टिपात करने पर तीन विशिष्ट बातें ज्ञात होती हैं।

प्रथम, आचलिक उपन्यासों में प्रतिनिधि पात्रों का बाहुल्य होता है। उपर्युक्त मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय सभी पात्र किसी न किसी रूप में प्रतिनिधि बनकर आये हैं। बालदेव उन निम्न-स्तरीय नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें लगन होती है परन्तु योग्यता नहीं, कालीचरण (मैला आचल), मोहन माझी (वरुण के बेटे), ताराचरण (रतिनाथ की चाची), उत्साही एवं प्रगतिशील सामाजिक कार्यकर्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। दु खमोचन शान्त तथा ईमानदार समाजसेवियों का प्रतीक है। मुंशी जलधारीलाल दास (परती परिकथा), बाबू साहब (सती मैया का चौरा), स्वामि भक्त अधिकारियों की कार्यकुशलता प्रकट करते हैं। हौलदार नाथूसिंह एवं अनुभवी सैनिक का, प० शकरानंद (लोक परलोक) भ्रष्ट साधुओं का, छोटे मालिक, मझले मालिक, मलकाइनें, बच्चा बाबू (बलचनमा), आदि अत्याचारी जमींदारों का तथा रतिनाथ की चाची मिथिला की सरल शोषित नारियों का, प्रतिनिधित्व करते है।

इनके अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्गों के पात्र अपने अपने वर्ग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

द्वितीय, कई प्रतिनिधि पात्र व्यक्तिगत गुणों से भी परिपूर्ण होने के कारण अपने ही वर्ग मे अपनी विशेष स्थिति बना लेते हैं जैसे 'मैला आचल' मे तहसील-दार विश्वनाथ प्रसाद। वह कोरा राजकीय अधिकारी ही नहीं, प्रेम, त्याग, उदारता दया आदि के मानवीय गुणो से पूर्ण भी है और इस कारण अधिकारियो से भिन्न अपना अलग स्थान बना लेता है। इसी प्रकार डा० प्रशान्त समाज-सेवा के अपने लक्ष्य के कारण विशिष्ट बन जाता है। 'परती परिकथा' का लुत्तो इस दृष्टि से सबसे बढा हुआ दीखता है। उसमे जो चालाकी और समझदारी है वह उसे खवासा के वर्ग से एकदम अलग कर देती है। इसी प्रकार जितेन्द्र भी कोरा जमीदार नही। 'सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना कोलीवर्ग मे परिगणित की जाने के लिए प्रोत्साहित नही करती। 'लोक परलोक' की चमेली को किस वर्ग मे रखा जाय यह निश्चय करना सरल नही। 'होलदार' का डूगरसिंह मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण जहा पर्वतीय समाज से भिन्न दीखता है वहा सैनिक वर्ग से भी अलग है। बलचनमा ग्वाला है परन्तु नवीन चेतना ने उसके व्यक्तित्व को उभार दिया है और वह वर्ग-सघर्ष का नेतृत्व करने लगता है। ब्रह्मपुत्र के देवकात एव नीरद मछुए हैं ही नही। 'नदी फिर बह चली' की परबतिया तो जीवन-सघर्ष की अग्नि मे तपकर नेता ही बन बैठी है, और 'जुलूस' की पवित्रा सबसे भिन्न एक अत्यत त्यागमयी, अनुरागमयी नारी है जो अपने गुणो से सबको आकर्षित करती है।

तृतीय, सामान्य पात्रो का उभार कर उनके द्वारा सामाजिक जीवन की कथा कहलाने के लिए उनमे व्यक्तिगत गुणो का हलका पुट दे दिया जाता है। किसी भी उपन्यास के ऐसे किसी भी पात्र को देखने पर उसमे अपना विशेष गुण मिल जायेगा जो उसे अन्य पात्रो से भिन्न करता होगा। उदाहरणार्थ सुखराम मे गर्व एव आत्मसम्मान लछमीदासी मे पवित्रता, सलारी मे जागृति, कम्युनिस्ट मकबूल मे तर्क-बुद्धि, मशवत मे प्रेम का उदात्तीकरण, वशी मे वैभव की प्यास, सदानन्द मे सच्चरित्रता, चाचा (आठवी भावर) के नारीत्व मे पुरुषत्व का समावेश, रामधुन मे आत्मसम्मान, कैलसिया मे कृतज्ञता तथा कजारो और हिरना सावरी मे सरलता।

इन तथ्यो से दो अन्य बातें ज्ञात होती हैं। प्रथम, आचलिक उपन्यासो मे गोल और चपटे दोनो तरह के पात्र मिलते हैं और दोनो का ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। गोल पात्र कथा एव चरित्र चित्रण की अपेक्षा रखते है और चपटे पात्र कथा, चरित्र चित्रण एव आचलिक जीवन के निरूपण मे सहायक बन कर जाते है। उनकी अपनी न कोई कथा होती है न विशिष्ट चरित्र क्योंकि उनका केवल

एक पक्ष ही दिखाई देता है। इसीलिए उनके सपूर्ण व्यक्तित्व को एक वाक्य मे सीमित किया जा सकता है।

गौणपात्र अथवा विकसित पात्रो का विवरण पूर्व पक्तियो मे उच्च, मध्यम एव निम्नवर्ग के अतर्गत आ गया है। अत चपटे अथवा अविकसित पात्रो पर ही यहा विचार किया जायगा।

दैनिक जीवन मे एक मनुष्य ऐसे अनेक व्यक्तियो के सपर्क मे आता है जिनसे उसका सबध केवल कुछ क्षणो का होता है अथवा अपने जीवन के प्रवाह मे विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न व्यक्तियो से विशिष्ट आवश्यकता अथवा परिस्थिति-वश उसका सपर्क होता है और यह सपर्क केवल उन्ही आवश्यकताओ और परिस्थितियो तक सीमित रह जाता है। न तो उसके विस्तृत जीवन पर उनका प्रभाव पड़ता है और न उसे उनके विभिन्न पक्षो को देखने का ही अवसर मिल पाता है यद्यपि उनके विभिन्न पक्ष होने अवश्य हैं। परिणामस्वरूप ऐसे पात्रो के जीवन के केवल एक पक्ष को ही वह देख पाता है। उपन्यास मे भी प्रमुख पात्रो का सबध ऐसे अनेक पात्रो से होता है और उनके कृत्य और अकृत्य एक प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं जो कथा के विकास एव प्रमुख पात्रो के चरित्र चित्रण मे सहायक होती है। आचलिक उपन्यासो मे यह स्थिति अधिक विस्तृत रूप मे आती है क्योकि सपूर्ण अचल के उद्घाटन के लिए सपूर्ण अचल के पात्रो को लेना पडता है। परन्तु उन सभी के सभी पक्षो को उद्घाटित न तो किया ही जा सकता है न उसकी आवश्यकता ही होती है। उनके वे ही पक्ष लिये जाते हैं जो आचलिक जीवन को सम्यक् रूपेण उद्घाटित कर सकें। आचलिक उपन्यासो मे भी कथा का एक प्रवाह होता ही है और प्रमुख पात्रो का एक वर्ग भी, इसलिए ये चपटे पात्र उन दोनो के निरूपण मे भी स्वत सहायक बन जाते हैं। यही कारण है कि आचलिक उपन्यासो मे इन चपटे पात्रो का भी वही महत्व होता है जो गोल पात्रो का। एक अन्य बात यह है कि ये अविकसित पात्र आचलिक जीवन के प्रत्येक पक्ष मे लिये जाते हैं और व्यभिचारी भावो की तरह अपना कार्य करते रहते हैं। ऐसे पात्रो की बडी सुन्दर सयोजना 'परती परिकथा' में है। उसमे मलारी के चरित्र का जो उद्घाटन हुआ है उसके आधार पर उसके चरित्र को केवल एक वाक्य मे बाधा जा सकता है—"वह जन्म से हरिजन परन्तु शिक्षा एव सस्कार से अभिजात वर्ग की है।" सामबत्ती पीसी का काम घर-घर घूमकर इधर की बात उधर लगाना है, सक्षेप मे वह 'घर घुमनी' है। गरुडधुज झा 'आधुनिक नारद' है। भवेशीसिंह उर्फ प्रेम कुमार दीवाना के लिए 'कलात्मक प्रेम' प्रतीक पर्याप्त है। इसी प्रकार उपन्यास मे रोशन बिस्वा, सुबशलाल और सुमितलाल मडर पौंपी भी चपटे पात्र हैं जिनके चरित्र को कूची की एक-दो वक्र रेखाओ मे ही स्पष्ट कर दिया गया है।

'मैला आचल' मे तो बालदेव जैसा प्रमुख पात्र भी चपटा पात्र है। उसे केवल उसी के एक वाक्य मे बाधा जा सकता है—"साती से सब काम करना चाहिये, हिंसा बात नही करना चाहिए,[1] भारथ-माता का, गाधीजी का यह रास्ता नही।"[2] सुमिरतदास 'बेतार का तार' है और जोतखीजी को पहिचानने के लिये उनका एक यही वाक्य पर्याप्त है—' गाव के ग्रह अच्छे नही।"

'सागर लहरें और मनुष्य' मे यद्यपि पात्र सख्या सीमित है फिर भी विट्ठल, जागला, नाना, हीरा जैसे पात्र अविकसित पात्र ही है। विट्ठल तो 'जोरू का गुलाम' है उसका कथन है, "हमकू पूछने का क्या ? जो चागला लगें सो करेंगा। वशी कू कौन बोलेंगा अइसा करो, अइसा मत कर बाबा।'[3] जागला 'बेमोल का गुलाम' है और नाना-हीरा', 'भले दम्पत्ति' हैं।

'रथ के पहिये' मे आनन्द ही सब पर छाया हुआ है। अन्य पात्रो का व्यक्तित्त्व उभरा ही नही है, वे सब अविकसित पात्र बनकर रह गये हैं। सोम केवल चित्रकार है, रजना सामान्य हिन्दू नारी और लालाराम एक भला आदमी है। मुन्नू मिया का चरित्र उनके इस एक वाक्य मे ही निहित है—"अल्लापाक सब देखते हैं सब समझते है—इन्सान वही है जो इन्सान के काम आये—अल्लापाक भी यही चाहते है।'[4] भूलन एक 'मूर्त्त प्रेमी' है।

'रतिनाथ की चाची' की दमयन्ती यदि 'नौ सौ चूहे खाय बिल्ली हज को चली' है तो भोला पडित 'पाखण्डी ब्राह्मण' है।

'पानी के प्राचीर' मे ग्राम्य जीवन के विभिन्न पक्षो का उद्घाटन करने वाले सभी पात्र ऐसे ही चपटे पात्र है। नीरू की मा त्यागमयी करुणामयी भारतीय नारी हैं', बैजनाथ 'गाव का गुण्डा' है, गेंदा यौवन एव वासना को न दबा सकने वाली 'उच्छृखल ग्रामीण युवती' है सध्या और मिलिन्द सम्पन्नवर्ग के ऐसे प्रगतिशील पात्र है जो ग्रामीणो के दु ख एव दरिद्रता के प्रति सहानुभूति रखते है परन्तु अपने अलग प्रवाह म बहते हुए उससे सगम नही कर पाते। रघ्घूबाबा और बेनीकाका के सपूर्ण व्यक्तित्वो को बहत्तरवें अध्याय की इन प्रथम पक्तियो मे बाध दिया गया है—मुखिया के दरवाजे पर दरबारी लोग बैठे थे। चिट्टिर-पिट्टिर, चिट्टिर-पिट्टिर बेनीकाका आय और बैठ गए। चित्त-यू, चित्त-यू की एक पिचकारी मारकर रघ्घूबाबा ने पूछा— 'आ जे बा से का हालचाल है बेनी।'"[5]

'आठवी भावर' मे चाचा मर्दानी औरत है और छुटकिया वास्तव मे बड-

---

१. 'मैला आचल', पृष्ठ ८४।
२ वही, पृष्ठ २५।
३ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ ११।
४ 'रथ के पहिये', पृष्ठ २४६।

किया। रामानन्द जैसा प्रमुख पात्र भी चपटा है। उसके चरित्र का बल उसके इसी कथन में है, "किसी दिन सन्यास ले लूंगा"[१]। सरबतिया तो बस 'हम्बै' भर करना जानती है। अन्य पात्र सदानन्द, बुल्ली, तिरखा, वैद्यजी, मल्लू आदि भी अविकसित पात्र ही हैं।

आंचलिक उपन्यासों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'अलग-अलग वैतरणी' का विशेष महत्त्व है। इसे 'दिनमान' के पुस्तक समीक्षक ने 'बिना बैसाखियों वाला उपन्यास'[२] कहा है क्योंकि इसका 'हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लड़खड़ाता भी है पर लेखकीय बैसाखी नहीं लगता' जिस चरित्र में जितना अधूरापन है उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श पूर्ण चरित्र रखने के फेर में उसमें भराई नहीं की है। ' सभी अधूरे हैं। जयपाल सिंह का अधूरापन अपनों के आगे विवश हो जाने का है, कनिया का अधूरापन पति को वश में न रख पाने का है, बुझारथ का अधूरापन पत्नी के आगे चुप हो जाने का है, पटनहिया भाभी का अधूरापन नपुंसक पति को छोड़कर खुलकर न खेलने का है' ।"[३] इन सभी पात्रों को उनके अधूरेपन के कारण निश्चित व्याख्या में बांधा जा सकता है—जैपालसिंह सफल जमींदार है, बुझारथ पत्नी-भीरु साहसिक है, कनिया जलती दीप-शिखा[४] है, दयाल महाराज 'गांव की हंसी खुशी के सफरमैना'[५] ही नहीं 'मउगा'[६] भी हैं गांव की औरतों के बिलकुल निजी सहायक[७], धनेसरी 'बिना पैसे का तमाशा[८] है और पटनहिया भाभी कुण्ठित नारीत्व का प्रतीक जिन्हें होली के हंसी मजाक के रूप में छोकरों को नंगा करने में ही आनन्द आता है पर उन नंगे लड़कों को कनखनी से देखते देखते उनकी आंखें डबडबा आती हैं[९]। इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अलग-अलग वैतरणी एक अत्यंत सफल आंचलिक उपन्यास है।

'लोक लाज खोई' के भी सभी पात्र अविकसित हैं। जहां सोलह अध्यायों में पन्द्रह भिन्न कथाएं कही गई हों वहां चरित्रों के विकास के लिए स्थान हो भी नहीं सकता था। इन पात्रों की विशेषता यही है कि ये लोक-जीवन के सभी पक्षों से चुनकर एकत्रित किए गए हैं और उसे समग्रता से उद्घाटित भी करते हैं।

१ 'आठवीं भावर', पृष्ठ २३।
२ 'दिनमान', ११ मई १९६६, पृष्ठ ३९।
३ वही।
४ 'अलग-अलग वैतरणी', पृष्ठ १७६।
५ वही, पृष्ठ ४।
६ वही, पृष्ठ १०१।
७ वही, पृष्ठ १०१।
८ वही, पृष्ठ २३२।
९ वही, पृष्ठ २१३।

भगतिनिया भैंस दुधारू पशु का प्रतीक है, कलुटिया पासी ग्रामीण उठाईगीरों का, फत्तेसिंह चापलूस और स्वार्थी ठाकुरों का और तुलसीसाहू का लडका गनेसिया आवारा लडकों का। सुरमा काकी तो अपने पेटू-पन और जादू-टोने के कारण ही उस नाम से अभिहित हुई हैं।[1] मेहन्दर कोहार और चन्दुआ नचनिया उन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो गाव के सामाजिक-सास्कृतिक जीवन में अपना विशेष स्थान रखते हैं। दुलरिया गाव की सरल परन्तु अल्हड किशोरियों की प्रतीक है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पात्र हैं जो अपने-अपने ढग से गाव के जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करते हैं। २३६ पृष्ठों के इस उपन्यास में इतने अधिक पात्र उभरते हैं कि आश्चर्य होता है। सबसे बडी बात तो यह है कि कोई दो पात्र एक जैसे नही है। सभी को पृथक् व्यक्तित्व एव कृतित्व प्रदान करके उपन्यासकार ने अपनी पात्र-निरूपण-क्षमता का परिचय दिया है।

'काका' मे गोसाईं हरिदास भ्रष्ट महता के और चम्पा कुटनी के प्रतीक हैं। 'चिट्ठीरसैन' और 'हौलदार' मे विस्तृत पर्वतीय समाज को अनेक अविकसित पात्रों के माध्यम से ही साक्षात रूप मे उपस्थित करने मे सफलता मिली है। गगोत्री, पीताम्बर पोस्टमैन, चरनसिंह, खिमुली भिमुली, नह्ली, दुरगुली पण्डितान, गोपुली काकी और भागुली-नदुली की गणना भी ऐसे ही पात्रों के अतर्गत की जा सकती है। इस प्रकार के दर्जनो पात्रों के उदाहरण अन्य आचलिक उपन्यासो से दिये जा सकते है।

दूसरी बात यह है कि पात्र चपटे हो या गोल, आचलिक उपन्यास म उनकी अवतारणा क्षेत्रीय विशिष्टताओ को अभिव्यक्त करने के लिये की जाती है और व्यक्तिवादी पात्रो को छोडकर, सभी पात्र इसमे सहायक होते है। परन्तु व्यक्तिवादी पात्र भी इस जीवन से अछूते नही रह जाते गौण रूप मे वे भी अपने अन्य पात्रो से सबध क कारण, अचल के जीवन का उद्घाटन करने मे सहायक बनते हैं। इसीलिए आचलिक उपन्यास मे अचल के सभी क्षेत्रों से चुनकर पात्र एकत्रित कर दिये जाते हैं। इस विशाल पात्र-सख्या का विस्तार से चित्रण सभव नहीं होता इसीलिए अधिकतर पात्र प्रतिनिधि पात्र बनकर रह जाते है। अविकसित पात्रों की सख्या भी इसीलिए ऐसे उपन्यासो मे अत्यत विशाल होती है। 'जगल के फूल' मे बस्तर क्षेत्र के विस्तृत जीवन की अभिव्यक्ति उपन्यास के विभिन्न पात्रों द्वारा हुई है। जगलो मे रहने वाली ये गोंड जाति अपने जगलो से प्रेम करती है और उसके इसी प्रेम ने सरकार के विरुद्ध सारे समाज को एक हो जाने के लिए प्रेरित किया है। उन्मुक्त वातावरण म रहने वाले लोगो का जीवन भी उन्मुक्त होता है वे कोई बधन सहन नही कर सकते। उपन्यास के सारे पात्र

---

१ 'लोक लाज खोई', पृष्ठ ५८।

ताओं का प्रभाव पात्रों के व्यक्तित्व, मनोवृत्ति, विचार, कार्य एवं सम्पूर्ण जीवन पर स्पष्ट दिखाई देता है। इसी कारण ये पात्र अन्यत्र 'फिट' नहीं किये जा सकते। सुखमाए एवं महुआ अपने प्रदेश की राजधानी जगदलपुर में भी 'मिसफिट होंगे' कजरी और प्यारी नट समाज के अतिरिक्त और किसी समाज में स्वीकार नहीं किये जायेंगे, गुरुगुन और भोला की जोड़ी बसी और हीरा के साथ नहीं बन सकती, ललिताप्रसाद और विश्रमसिंह परसमुन एवं परसराम के समाज में खप नहीं सकते डूगरसिंह धोलद्वीना गाव पर ही अपनी विद्वत्ता का प्रभाव डाल सकता है और पीताम्बर चिट्ठीरसैन ऊडलगों गाव की क्वारियों को ही धोखा दे सकता है। संक्षेप में क्षेत्रीय जीवन की विशिष्टताएं पात्रों पर गहरी छाप डालती हैं और उन्हें व्यक्तित्व एवं चरित्र दोनों ही प्रदान करती है।

उपन्यासकार का जीवन-दर्शन अथवा उसकी विचारधारा पात्रों में स्वत ही प्रकट हो जाती है। इसीलिए प्रगतिशील उपन्यासकार अपनी कथा में प्रगतिशीलतत्त्व का समन्वय कर देता है। यह प्रगतिशीलता पात्रों के माध्यम से उपन्यास में प्रवेश करती है। ऐसे प्रगतिवादी पात्र भी दो प्रकार के होते हैं—आचलिक एवं अनाचलिक। आंचलिक पात्रों में प्रगतिशीलता या तो स्वय उद्भूत होती है (जैसे 'जगल के फूल' में सुखमाए, महुआ, झालरसिंह, गायता हिरमे, गुण्डाधूर आदि मे; 'वरुण के बेटे' में मधुरी मे, 'सागर लहरें और मनुष्य' में यशवत में, 'कब तक पुकारूं' में सुखराम में) या बाह्य प्रभाव अथवा सस्कारजन्य होती है। इस द्वितीय प्रकार की प्रगतिशीलता रत्ना (सागर लहरें और मनुष्य), मोहन माझी (वरुण के बेटे), बालदेव, कालीचरण (मैला आंचल), ताराचरण (रतिनाथ की चाची), रूपी (रथ के पहिये), चमेली (लोक परलोक) नाथूसिंह (चिट्ठीरसैन), डूगरसिंह (हौलदार), रामालकाका, अतुल (ब्रह्मपुत्र), लुत्तो, मलारी, मकबूल एवं स्वय जित्तन (परती परिकथा) आदि में दिखाई देती है। सस्कार-जन्य प्रगतिशीलता रामधुन (काका) और सुखराम (कब तक पुकारू) में हैं परन्तु इस प्रकार के उदाहरण अधिक नहीं है। आंचलिक पात्र अचलों को जान बूझकर या अनजाने अपनी प्रगतिशीलता से प्रभावित करते है। इस प्रकार के पात्रों में डा० प्रशान्त, ममता (मैला आंचल), मन्ने (सत्ती मैया का चौरा), जितन, इरावती (परती परिकथा), आनन्द एवं सोम (रथ के पहिये) प्रमुख है।

प्रगतिशील पात्र चाहे आंचलिक हो या अनाचलिक, समाज में नई चेतना का प्रवाह करके उसके पुनर्निर्माण मे प्रयत्नशील होते हैं। 'जगल के फूल' में एक जरासी घटना के कारण सबके मन में यह बात बैठ गई कि इन पट्टों के पीछे कोई चाल है। इनके द्वारा सरकार उन्हें लूटना चाहती है। उनकी आजादी मे खलल डालना चाहती है। जो अधिकार उनके देवता लिंगो ने दिये है, वे अधिकार ये

आदमी छीन रहे है।"[1] इस अधिकार-रक्षा के सदर्भ मे ही बेगारी प्रथा का विरोध[2] और राजा तंत्र का विरोध सयुक्त हो जाता है। मिरहा, गायना, महुआ, सुलक-माए, गुण्डा आदि सभी नेतानार मे सभा करते हैं। यह तय होता है कि "यदि राजा अपने धर्म से गिर गया तो तुम उठो, जागो और मबको एक बहुत बडा पाठ सिखा दो"[3] थोड़े ही दिनो मे बिभन्ती, गढ बगाल, नारायणपुर, मटबद, बेनूर, नयानार, नेतादार आदि गावो का सगठन हो गया। महुआ नारी समाज मे नवीन चेतना फैला कर उसका सगठन करने लगी। राजनीतिक चेतना के साथ सामाजिक चेतना भी इन प्रगतिशील पात्रो के माध्यम मे प्रवेश करती है। महुआ नारी की हीन स्थिति पर क्षुब्ध है। स्त्री-पुरुष की समानता के सिद्धान्त का वह प्रतिपादन करती है। "लिगो की बनाई दुनिया मे औरत-मर्द का भेद नही रे, झालर, भेद-भाव की दीवारें तुम्हारी बनाई है। तुम हाथ म डुगडुगी लेकर बन्दर की तरह औरतो को नचाते हो और जब औरत अपना ढोल पीटना चाहती है तो तुम ढोल की दरार ढीली कर देते हो और कहते हो—कानन मे लिखा है कि तुम ढोल नही पीट सकती।"[4] नये खून को आगे बढने देने की बात हिरमे का पिता सिक्मी भी कह गया था "हम अपना लोभ छोडे, जवानो को काम करने का समय दें।"[5] यह निर्णय कर लेना कि पचास साल की उम्र के बाद गायता अपना काम स्वय छोड दें[6] नये समाज के निर्माण की दिशा मे ही उठने वाला कदम है। गगी हिरमे के प्रति जो उद्गार प्रकट करती है वह नव-समाज के निर्माण के आदर्श-सिद्धान्त हैं—"तू गाव का गायता है, तूने अपना धर्म निबाहा है। गाव भर सुखी रहे, किसी के पैर मे काटा न गडे, सब हसते रहे, खेलते रहे, खाते रहे।"[7] सहकारिता और श्रमदान का आदर्श भी नाले को बाधने के कार्य द्वारा उपस्थित किया जाता है।[8] साम्यवाद की विचारधारा समाज को अनुप्राणित किये है। ग्रामवासियों को सरकार की यह नीति पसद नही कि 'जिन्हे खेत मिले वे मौज उड़ाए और बाकी भूखे मरे, एक गाव के चार आदमी मजे मे खायेंगे और चालीस भूख से तलफेंगे।"[9]

१ 'जगल के फूल', पृष्ठ ११७।
२ वही, पृष्ठ १५४।
३ वही, पृष्ठ २००।
४. वही, पृष्ठ १७४।
५. वही, पृष्ठ ३६।
६. वही।
७ वही, पृष्ठ १४०
८. वही, पृष्ठ १४६।
९. वही, पृष्ठ १५४।

प्रगतिशील पात्रों द्वारा समाज-निर्माण का कार्य 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में भी होता है। 'मैला आंचल' में डा० प्रशान्त आँसू से भीगी धरती पर प्यार की खेती करने चलता है, 'परती परिकथा' में जितन, इरावती आदि पात्र मिलकर लोकमंच एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम द्वारा समाज को एक सूत्र में आबद्ध करने का बीड़ा उठाते हैं। भ्रष्ट राजनीति का अंत हो गया है, समाज जागृत हो गया है, परती का उद्धार हो गया है "सेमल वनी के आसमान में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसमान धरती पर बिहँसकर करवट लेती है।"[1]

'सागर लहरें और मनुष्य' में यशवन्त स्वयं पढ़कर बरसोवा के सामाजिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर देता है। स्कूल खुलता है, सहकारी समिति स्थापित होती है और गांधीजी के सत्य, त्याग, सेवा और सत्याग्रह के मार्ग से लोकसेवा का आदर्श उपस्थित किया जाता है।[2] 'वरुण के बेटे' में मोहन मांझी वैज्ञानिक प्रणाली से मछली-पालन की योजना का लक्ष्य रखता है।[3] जमींदार के अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष का मार्ग भी वह दिखाता है। मछुवी समाज सेवा का आदर्श प्रस्तुत करती है और अधिकारों की रक्षा के लिए सबसे पहले जेल जाती है। इन प्रगतिशील पात्रों के प्रभाव से गाँव बदलने लगता है। 'रथ के पहिये' में तो आनन्द और सोम करजिया में केवल सांस्कृतिक क्रान्ति ही नहीं लाते, सामाजिक क्रान्ति को भी बहुत आगे तक बढ़ा देते हैं। श्रमदान से सड़क बनाई जाती है, बेगार का मिलकर बहिष्कार किया जाता है। अस्पताल में डाक्टर और नर्स भी आ जाते हैं तथा सूखे की समस्या सदा के लिए दूर करने के लिए श्रमदान से नहर खोद लेने की योजना भी क्रियान्वित होने लगती है। इस उपन्यास में तो प्रगतिशील पात्र सामाजिक-नव-निर्माण का लक्ष्य लेकर ही चलते हैं—"रथ रुक नहीं सकता" कोई रथ से उतर जाय चाहे कोई रथ पर सवार हो जाय, रथ नहीं रुक सकता। पहिये चलते रहें, पहिये रुक न पायें"...[4]

दुखमोचन एक आदर्शवादी पात्र है जो समाज के नव-निर्माण का अभिनव संदेश देता है। 'सूरज किरन की छाँह' की बजारी तो अपने प्रेमी के साथ गाँव में वापिस चली जाने का निश्चय व्यक्त करती है जिससे वह गाँववालों की सेवा कर अपने पाप का मोचन कर सके और देखे कि वहाँ की किसी बजारी को निर्वासित होकर मिसेज कैथी जोसेफ न बनना पड़े।[5] 'ब्रह्मपुत्र' में तो देवकान्त दिसाग-मुख तथा साभुली में ऐसी नव-जागृति की लहर दौड़ा देता है कि सारे समाज की

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ५०१।
२ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ २४०।
३ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ३१।
४ 'रथ के पहिये', पृष्ठ ४८०।
५ 'सूरज किरन की छाँह', पृष्ठ १९८।

वैचारिक काया-पलट हो जाती है—क्रान्ति की आग मे सारा अचल भभक उठता है, सामाजिक पुनर्उद्धार का श्रीगणेश होता है। अतुल, आरती, राखालकाका आदि श्रमदान व सहयोग से ब्रह्मपुत्र की बाढ के विरुद्ध अभियान चलाते है, नया गाव बसा दिया जाता है और सुन्दर भविष्य मे विश्वास हो जाता है। 'बलचनमा' मे बलचनमा ही राजनीतिक चेतना से प्रभावित नही सारा किसान वर्ग जाग्रत् हो गया है और अपने अधिकारो के लिए जमीदारो के विरुद्ध उठ खडा हुआ है। 'लोक परलोक' मे चमेली ने अपने त्याग से पद्मपुर जैसे गाव मे जहा लगता था कि कुछ भी करने को नही,[1] वहा भी सारे गाव को अपनी मृत्यु पर इकट्ठा कर लिया। 'मुक्तावती' मे चन्द्रावत, शैलेन्द्र, चद्रमाधव, तौम्ब्रीसना, मुक्तावती आदि सम्पूर्ण मणिपुर समाज को जाग्रत् कर देते है और उनके द्वारा उद्भूत जनक्रान्ति राजवर्ग को उनकी सारी शर्तें मानने को विवश कर देती है। इस प्रकार अधिकतर आचलिक उपन्यासो म प्रगतिशील पात्र समाज को नई दिशा एव नई शक्ति देने मे सफल होते है। कुछ उपन्यासो मे समाज-निर्माण का यह रूप इस प्रकार का नही होता जैसे 'हौलदार' और 'चिट्ठीरसैन' मे। इन दोनो ही उपन्यासो म क्रमश डूगरसिंह और नाथूसिंह एक ऐसी विचारधारा के प्रतिनिधि बनकर आए है जो ग्रामीण जीवन मे उथल-पुथल कर सकती है। 'काका' मे यह सकेत है कि वन-महाराज, पानी वाले महाराज, महत हरिदास जैसे पाखडियो का युग समाप्त हो रहा है और अतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह जैसे सुधारो का युग आ रहा है। बिन्दिया जैसी परम्परावादी नारी नवीन दृष्टिकोण एव नई चेतना का सदेश देती है और रामधुन जैसा व्यक्ति इस भीख पर जीवित रहने वाले समाज की भर्त्सना कर डालता है। आदित्यनाथ' और 'नेपाल की वो बेटी' आदि म भी करवट लेता हुआ समाज प्रदर्शित किया गया है। 'लोक लाज खोई' की हवलदारिन भौजी तो एक सामान्य ग्रामीण नारी होते हुए भी जिस जागृति का परिचय देती है वह गाव के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। दु खमोचन (नागार्जुन) के समान ही परन्तु उसमे अधिक स्वाभाविक एव प्रभावशाली यह नारी स्नेह, उदारता एव साहस का अभिनव रूप प्रकट करती है। उसकी चारित्रिक विशेषताए उसे प्रखर व्यक्तित्व प्रदान करती हैं और वह दु खमोचन के समान 'टाइप' मात्र बनकर नही रह जाती।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचलिक उपन्यासो के पात्र अपनी विशिष्टताओ द्वारा अचलो को प्रभावित करते है परिणामस्वरूप अचलो की काया पलट होने लगती है।

---

१ 'लोक परलोक', पृष्ठ ३३।

(ग)

चरित्र-कल्पना

आंचलिक पात्रों में चरित्रगत वैविध्य ही नहीं होता उनकी कल्पना में भी उपन्यासकार की कला के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों के पात्र दो प्रकार के होते हैं—सामान्य एवं विशिष्ट। सामान्य पात्रों के चरित्र हल्की और विशिष्ट पात्रों के गहरी रेखाओं से निर्मित होते हैं। हल्की रेखाओं से निर्मित चरित्र सामान्य गुणों का उद्घाटन करते हैं और गहरी रेखाओं से निर्मित असामान्य विशिष्टताओं का। अधिकतर पात्रों के चरित्र प्रथम प्रकार के होते हैं क्योंकि लक्ष्य आंचलिक जीवन का चित्रण होता है। ये सामान्य पात्र दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो प्रतिनिधि अथवा अविकसित होते हैं, दूसरे वे जो व्यक्ति अथवा विकसित होते हैं। इन दोनों पर पूर्व पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। इस स्थान पर केवल इनकी निर्माणी कल्पना पर विचार करना है। प्रतिनिधि पात्र सामान्य गुणों के आधार पर ही निर्मित होते हैं तथा प्रारंभ से अंत तक एक जैसे बने रहते हैं अर्थात् उनमें विकास नहीं होता। इस प्रकार के पात्रों के उदाहरण हैं—जोतखीजी (मैला आंचल), गरुड़धुज झा (परती परिकथा), ललिताप्रसाद एवं शंकरानंद (लोक परलोक), नाम्या, सुन्दर्या, धना एवं सभी भील पात्र (मोरझाल), मुक्तावली, तोम्बीमना (मुक्तावती), जयनाथ (रतिनाथ की चाची), लगड पंडित, सुरगा काकी, महेन्द्र कोहार (लोक लाज खोई)। इन्हीं प्रतिनिधि पात्रों में जब व्यक्तिगत गुणों का भी समावेश कर दिया जाता है तब वे विकसित पात्र बन जाते हैं। आंचलिक उपन्यासों के सामान्य प्रकार के पात्रों में इसी वर्ग के पात्रों की संख्या सबसे लम्बी है। यदि यह कहा जाय कि इसी वर्ग के पात्र आंचलिक उपन्यासों का मेरुदण्ड होते हैं तो कदाचित कोई अत्युक्ति न होगी। अनेक आंचलिक उपन्यास ऐसे हैं जिनमें केवल सामान्य पात्रों के ये दोनों वर्ग ही हैं विशिष्ट अथवा असामान्य पात्रों का अभाव है जैसे 'नई पौध', 'हिरना सांवरी', 'चौथी मुट्ठी', 'रथ के पहिये', 'दु:समोचन', 'लोक लाज खोई', 'आदित्यनाथ', 'मुक्तावती', 'वन के मन में', 'गंगा के तट पर' आदि।

परन्तु आंचलिक उपन्यासों का आकर्षण असामान्य और विशिष्ट पात्रों में ही निहित होता है। चरित्र की असामान्यता तथा विशिष्टता भी दो रूपों में *दिखाई देती है। प्रथम, वर्ग विशेष के सामान्य पात्रों में असामान्य स्थान रखने* वाले पात्रों की विशिष्टता, जैसी 'सागर लहरें और मनुष्य' में वंशी, रत्ना, और यशवंत में दिखाई देती है, द्वितीय, सामान्य जीवन के पात्रों में असामान्य स्थान रखने वाले पात्रों की विशिष्टता जैसी 'परती परिकथा' में जित्तन, ताजमनी, आदि में दिखाई देती है। यह असामान्य स्थान भी दो प्रकार से प्राप्त किया जाता

है—गुणो से अथवा अवगुणो से। गुणो से डाक्टर प्रशान्त एव जितन प्राप्त करते हैं, अवगुणो से लुत्तो और कुवेरसिंह। गुणो का सौन्दर्य भी दो रूपो म अभिव्यक्त होता है—व्यापार-सौन्दर्य के रूप मे अथवा भाव-सौन्दर्य के रूप में। इन दोनो मे वाह्य सौन्दर्य का अश रह भी सकता है और नही भी रह सकता है। चरित्र-कल्पना के अध्ययन की आवश्यकता को देखते हुए यह दूसरा वर्ग (विशिष्ट पात्रो का वर्ग) ही महत्त्वपूर्ण है। अत इस पर किंचित विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है। वर्ग विशेष के सामान्य पात्रों मे विशिष्ट स्थान प्राप्त करने वाला मे वशी वाह्य सौन्दर्य से रहित है—

"चपटा मुह, वडी-वडी आखें, मामूली उठी चौडी नाक, उभरी कनपटी की हड्डिया, रसीले पतले होठ, उभरी ठोडी, सुता हुआ सावला शरीर पर चिकना, कद न वहुत ऊचा न ठिगना, मुख पर रौद्र और गभीरता के चिह्न, जूडे मे वेणी और माथे पर चवन्नी के वरावर टिकुली, इतनी उम्र परन्तु यौवन की मादकता।"[१]

इस प्रकार के सामान्य रग-रूप वाली यह युवती वहिरग से सामान्य कोली नारी ही है परन्तु वरसोवा के कोली समाज पर उसका एक छत्र राज्य है। अपने पति को तो वह मोटी रस्सियो से माड माड पीटकर पीठ उधेड देती है। उसे वह सचेत कर देती है—

"हम वोलताय खवरदार आगे ताडी पिया तो हम घर से निकाल देयेंगे। हमको ऐसा आदमी नही पाहिजे। समझने विट्ठल तेरे कू मार-मारकर ठीक करना होयेंगे।"[२]

पर वह स्वय शराब पीती है नृत्य करती है और पति होते हुए भी एक प्रेमी रखती है। वह ऐश-आराम व मस्ती का जीवन व्यतीत कर रही है। उसकी पुत्री रत्ना भी वैभव पूर्ण जीवन, प्रतिष्ठा, एव नाम की भूखी है। मत्स्यगधा एव सरस्वती की कथा ने उसमें अक्षुण्ण यौवन प्राप्त करने की लालसा जगा दी है। पढी-लिखी है, माणिक भी सोचता है, 'चिडिया चागलाय। सूरत शक्ल का साथ अक्ल बी''।"[३]

'जगल के फूल' की महुआ का वाह्य अन्य गोड युवतियों से भिन्न है—

"श्याम वर्ण पर कौडी-सी वडी-वडी आखें, वालो मे अनेक पडिया खुली हुई, गले मे लाल-काली घुघचियो की कई मालाए, गुदनो मे भरा शरीर और निर्मल दात, महुआ फूला हुआ है तो चार को कौन देखे?"[४]

१. 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ १३।
२. वही, पृष्ठ ३१।
३ वही, पृष्ठ ५५।
४ 'जगल के फूल', पृष्ठ २६।

गोरा अफसर देखते ही उस पर लट्टू हो जाता है—"आज रात रेस्ट करेगा—खूबसूरत छोंड़ी।'[1] उसमें गुण-सौन्दर्य, व्यापार-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य भी है। उसके हृदय में प्रेम बलिदान और त्याग का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है। अपने पास वह सदा साहुर रखती है—"कोई पास आवे तो मुंह में दे दे।"[2] प्रेम उसके जीवन की ज्योति है। प्रेम में उसे सारा टोंगुर हंसता दिखाई देता है। चंचल नदियां पत्थरों से लिपटकर प्यार करती हैं और किनारों की झूमती झाड़-पेड़ों को गले लगाती आगे निकल जाती हैं। चंचल जल-धारा में उसे प्रेम बहता हुआ दिखाई देता है।[3] आत्म-सम्मान एवं स्वतन्त्रता के पीछे वह अपनी बलि भी दे सकती है। पथ भ्रष्ट साथी का वह मार्गदर्शन भी कर सकती है। जब सुला मरने की बात करता है तब वह समझाती है—

'मरद होकर मरने की बात सोचता है मरद का मन तो पत्थर होता है रे, जो टकराए तो चूर-चूर हो जाय, पर उसमें जरा भी सिकन नहीं आती। तू कैसा मरद है।'[4]

और गोंडों को वह फटकार भी सकती है—

"तुम गोंड हो न? लोग कहते हैं गोंड आदमी नहीं, पत्थर होता है, वह लोहा चबाता है और जिन्दा शेर के दांत उखाड़ता है... तुम सब दिलेर गोंड और डर गए उस अफसर से इसलिए कि वह आदमी है। यानी तुम सब जानवर हो, तो ऐसे जानवरों का अंत होना चाहिए...जब सारा गांव कुचला जाता, गांव में आग लगाई जाती, तो मेरी छाती तर हो जाती। मैं खड़ी-खड़ी तमाशा देखती। हि... हि... हि... हि... हि... दि... ले...र... गों... ड।"[5]

असुन्दर बहिरंग वाली यह तरुणी आंतरिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है—ऐसा है वह खूब खिला हुआ सुगार।[6]

सुलवसाए में भी इसी प्रकार का आन्तरिक सौन्दर्य देखने को मिलता है। प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व ने उसे दार्शनिक बना दिया है। वह प्रेम की भी एक मिसाल रखना चाहता है, अपने ढंग से 'बिहाव' नहीं करके।[7] आन्दोलन की विफलता पर वह निराश नहीं होता और आशावाद का संदेश देता है—"जो हो

१ 'जंगल के फूल', पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ २८।
३. वही, पृष्ठ २१६।
४ वही, पृष्ठ ८८।
५ वही, पृष्ठ २९-३०
६ वही, पृष्ठ २७।
७ वही, पृष्ठ २२५।

चुका उसमे बडा अशुभ अब क्या हो सकता है। महुआ, यह कोल्हा तो इतने बडे भूमकाल के असमय अत पर रो रहा है। पर सचमुच यह अत नहीं है माइगुती—सबेरे का नया सूरज हम नई ताकत देगा।[1] गुण्डाधूर मे आन्तरिक सौन्दर्य के नाम पर केवल व्यापार सौन्दर्य है।

रूपाकृति और भाव-सौन्दर्य की आधार-भूमि पर निर्मित दो पात्र 'काका' म भी दिखाई देते है जो अपने व्यक्तित्व की अनुपम छाप छोड जात हैं। इनमे एक है प० परमसुख की तीसरी पत्नी, गिरधर की सौतेली मा, रामधुन की रिश्त की भाभी, काका की बहू—बिन्दिया। लगभग उन्नीस वर्ष की यह अत्यन्त रूपवती किशोरी पचास वर्षीय वृद्ध की पत्नी है। कान्ता तक उसके सौन्दर्य का देखकर हिल उठी थी। उसका बाह्य रूप जितना आकर्षक था अतर भी उतना ही निर्मल, अन्यथा जिजमान उसके घर मे मौज करते और वह उनसे माल पाटती। रामधुन और गिरधर पर वह स्नेह का अनुपम अधिकार रखती है। रामधुन उसके चरित्र का सुन्दर विश्लेषण इस छोटे से वाक्य मे कर देता है—"तू सोन का दिल लिए है भीतर, बस तेरे मुह मे पत्थर है।'[2] एक कुरूप वृद्ध से बधी सुन्दर तरुणी पत्नी धार्मिक एव परम्परागत बधना मे बधी, स्वय अपने मन की भूख से अनभिज्ञ है परन्तु स्वस्थ शरीर तथा मन की कामना उसकी झुभलाहट और क्रिया-कलापों मे प्रकट हो जाती है। कान्ता के सौन्दर्य एव उसके प्रति रामधुन का आकर्षण देखकर उसे ईर्ष्या होती है परन्तु उसका हृदय अत्यत विशाल है और ससार का अनुभव व्यापक तभी वह अनाथ कान्ता से स्पष्ट कह देती है—"जानती हो रोटी की भूख कैसी होती है ? जब खाने को नही मिलती तो लुगाई बाजार मे जा बैठती है। तुम ऐसे बडे घर की नहीं हो कि घर बैठे रडापा कट जाय। जहा इतने पाप है वहा एक छोटा पाप ही करो जिससे बडे पाप से बच जाओ।'[3] वह कान्ता की उपेक्षा से झुझला उठती है—

> "कहा जाओगी ? जमुना म कछुए, आसमान मे गिद्ध और मथुरा मे पण्डे किसी को नही छोडते ।"[4]

अत्यत स्नेह-शीला यह युवती स्वत ही पाठको की श्रद्धा की पात्र बन जाती है।

बिन्दिया की टक्कर मे आती है—पोस्टमास्टर की लडकी कान्ता। वह अनुपम रूप-लावण्यमयी तरुणी है, नाक कुछ नुकीली और भौह इतनी महीन कि देखकर लगता था जैसे दो रेखाए बडे हिसाब से खीच दी गई है।[5] परन्तु वह है

१ 'जगल के फूल', पृष्ठ २५६।
२ 'काका', पृष्ठ १५६।
३ वही, पृष्ठ १५३।
४ वही, पृष्ठ १२५।
५ वही, पृष्ठ १६।

बाल-विधवा। रिन्दिया उसके रूप को देखकर न केवल दहल गई थी प्रत्युत उसकी सुरक्षा की चिन्ता से व्याकुल हो गई थी। "न जाने कहा से ले आई हो यह रूप और सुन्दर ही थी तो विधवा क्यों हो गई? मर ही क्यो न गई?'[१] सुन्दर रूप वाली यह तरुणी गुण सौन्दर्य से भी युक्त है। सच्चरित्रता के साथ उसमे आत्म-सम्मान भी है तभी वह रामधुन को बुरी तरह फटकार देती है। परन्तु वह समझ-दार है, इसीलिए पुनर्विवाह स्वीकार कर लेती है,

'भले ही यह पाप हो पर यही अच्छा है। मेरे वेश्या बनने से या चेली बनने से यह पवित्र है। स्त्री हू तो स्त्री जैसा जीवन क्यो न बिताऊ? अगर धर्म इसे नही मानता तो धर्म गलत है[२] पाप हममे नही ससार मे है।'[३]

चरित्र-कल्पना की दृष्टि से रेणु के उपन्यासों का सर्वाधिक महत्त्व है। उन्होंने एक ही उपन्यास 'परती परिकथा' मे चरित्र-कल्पना के सभी रूप उपस्थित कर दिये हैं। यदि आन्तरिक एव बाह्य सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य तथा उपदेश-सौन्दर्य की पूर्णता ताजमनी मे है, तो आतरिक एव बाह्य सौन्दर्य मलारी मे और केवल भाव सौन्दर्य मिसेज गीता रोजउड मे। जितेन्द्र प्रखर व्यक्तित्व वाला एक ऐसा पात्र है जिसे किसी भी सीमा मे नही बाधा जा सकता। पूर्ण दुष्टता का उदाहरण कुबेरसिंह है, कुरूप और भद्दा व्यक्तित्व, नाटी नाटी काया, श्याम वर्ण, फेशियल पैरेलिसिस से विचित्र विकृत आठ और चेहरे पर जामुन की तरह दो बड़े बड़े व्रण। जित्तन की मा को एक बिलार-मुहे से सख्त नफरत थी। वह पक्का चाल-बाज और धूर्त है। मनुष्यता नाम की कोई चीज उसमे नही। अपने स्वार्थ के लिए वह उस सीमा तक पतित हो सकता है जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। लुत्तो प्रतिहिंसा से प्रेरित है। उसके जीवन का उद्देश्य सिर्फ अपने पिता के अपमान का बदला जितेन्द्र से लेना है—

"इस डजरम आदमी को मैं पानी पिला-पिलाकर जिलाऊगा और नचा-नचाकर मारूगा।"[४]

वह भी जितेन्द्र को दागेगा। उसका बाप मरते समय कह गया था जैसे भी हो

"जित्तन की जमीन तितर-बितर करवा दो तब समझूगा बाप का बेटा।"[५]

अत मे वह बदनाम हो जाता है

---

१ 'काका', पृष्ठ १३८।
२. वही, पृष्ठ १६४।
३ वही, पृष्ठ १७३।
४ 'परती परिकथा', पृष्ठ ४६।
५ वही, पृष्ठ ४६।

"सो लुच्चों का सरदार है परानपुर का लुत्तो। लुच्चा मारलक बेंग, पाच पसेरीक एक ही टेंग।'[1]

ताजमनी सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा है।

'सारे परानपुर गांव के लोग मानते हैं कि ताजमनी अद्वितीय सुन्दरी है। सुडौल शरीर और सुघड़ बनावट—चम्पई रंग और बालिका सुलभ चेहरा, मेघवर्ण कुंचित केश-पाश, आंखों में परिपूर्ण प्राणों की गहरी छाया 'अजान सुजान उसे षोडशी समझते हैं किन्तु गांव की सोलह वर्ष की कन्याओं से वह बीस साल बड़ी है।"[2]

कालेज के लड़कों को वह "सचमुच ब्रजभाषा-कालीन नायिका जैसी लगती है।"[3] उसमें दया, सहानुभूति, बड़प्पन, प्रेम और त्याग तथा भक्ति का अपूर्व समन्वय मिलता है। सरलता एवं सौम्यता की यह साक्षात् प्रतिमा बड़े से बड़े विरोध की भी चिन्ता नहीं करती। जितन के लिए तथा मिश्र परिवार के लिए उसमें जो प्रेम है उसीके कारण वह सदा जितन को सद्-प्रेरणा एवं अच्छी सलाह देती रहती है।

मलारी चमार है परन्तु गजब की सुन्दर। उसके रूप एवं रंग के कारण उसका पिता उसकी मां को मारता था—ऐसी गोरी लड़की कैसे हो गई? परवाने उसके आस पास मंडराते रहते हैं परन्तु सफल नहीं होते क्योंकि उसमें गुण-सौन्दर्य भी है। तपस्या और सहनशीलता की वह साक्षात मूर्ति है।

ताजमनी की टक्कर की एक पात्र नागार्जुन ने रतिनाथ की चाची के रूप में अवतरित की है। वह बहुत सुन्दर थी। चेहरे में लम्बाई-गोलाई की अपेक्षा फैलाव भी अधिक था। आंखें बड़ी-बड़ी, नाक नुकीली। कपार छोटा। बाल खूब काले और एड़ी तक लम्बे। गोरी तो थी ही। गले की आवाज़ नर्म और सुरीली थी। हाथ पैर छोटे-छोटे लाल और भरे हुए, मानो आम के पल्लव हों,[4] जीवन में दुःख ही दुःख पाया—अपमान और लांछन सबको वह सहन करती गई। रतिनाथ का वह पुराने जमाने की वनवासिनी तापसी लगती थी और दिन दिन दबता होती चली जा रही थी।[5] उसका चरित्र उसीके इस कथन का प्रतिरूप है—

"किसी भी युग में स्त्री को अमृत पीने का सुयोग नहीं मिला। पुरुष को अमृत पिलाकर वह विष-पान ही करती आई है।'[6]

---

१ 'परती परिकथा' पृष्ठ ४८६।
२. वही, पृष्ठ ८२-८३।
३. वही, पृष्ठ ८४।
४. 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ २२।
५. वही, पृष्ठ ६८।
६ वही, पृष्ठ १००।

केवल भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन दो ही पात्रों में मिलता है—गीता रोजउड (परती परिकथा) और कमला (मैला आंचल)। गीता रोजउड,

> 'पूरब-पगली है। बचपन से ही वह ऐसी थी। सूर्य पुत्र-गण···कृष्ण··· और ऐसा लगने लगा जैसे वह एकतामेल हो गई। लिटिल लार्ड किशना को पढ़ते-पढ़ते एकांत में आतुर हो वह पुकारती—गोपाला ! ओ, नन्द-लाला ! एक रात तो मक्खन की पूरी टिकिया लिये बैठी रही आओ बटर थीफ !'[१]

और भारत के प्रति प्रेम—'हिम-मंडित ! तुषार मुकुट ! इन्द्रधनुषीदेश ! गंगाजल ! देवपुत्र ! आर्यपुत्र ! स्वामी !'[२] उसके प्रेम में मीरा जैसी तन्मयता है। उसके चरित्र का यही एक पक्ष उदघाटित किया गया है। इसी प्रकार 'मैला आंचल' में तहसीलदार की एक-मात्र सन्तान कमला का चरित्र भी भावना की भूमि पर ही चित्रित है। सोलह-सत्रह साल की यह युवती रोगग्रस्त है। रोग क्या है? मेडिकल स्टूडेंटस की निगाह में हिस्टीरिया, फोबिया काम-विकृति और हठ प्रवृत्ति।[३] *कुछ भी हो सकता है। उसे डर लगता रहता है। हिस्टीरिया के* दौरों के पीछे काम दमन भी है। विवाह हो नहीं पाया। तीन जगह बात चली। पहिली जगह ठीक 'तिलक पान' के दिन लड़के की मां मर गई दूसरी जगह बात चीत हुई तो घर में आग लग गई, तीसरे लड़के का मैया हो गया, इन्तकाल हो गया। अब कोई लड़के वाला तैयार नहीं होता। अब उसे बेहोश होने की बीमारी लग गई है। प्रेम-सागर में मन नहीं लगता, चीरहरण लीला की तस्वीर देखकर कमली का जी न जाने कैसे करने लगता है।[४] डाक्टर प्रशान्त का उसके जीवन में प्रवेश वरदान सिद्ध होता है और उसका उद्धार हो जाता है। भाव-सौन्दर्य के उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में रूप-सौन्दर्य की अभिव्यंजना नहीं है। रूप-सौन्दर्य हो सकता है परन्तु भाव-सौन्दर्य की प्रखरता ने उसकी आवश्यकता एवं निरूपण को अनावश्यक बना दिया है।

'अलग-अलग वैतरणी' की कनिया में गुण-सौन्दर्य प्रकट हुआ है। अपने पति के अवगुणों से घृणा करनेवाली यह नारी सास-ससुर के पीछे मायके से अपने सारे संबंध टूट जाने देती है।[५] विपिन को उसने पुत्रवत पाला है। उसके पति बुझारथ सिंह की आंखों में इतना ताव नहीं कि वह उसकी ओर देख सके। कनिया जलती दीपशिखा की तरह थी, जिनकी ज्योति के आगे वह घुग्घू की तरह आंखें मुलमुला

---

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ २६७।
२. वही, पृष्ठ २६७।
३ 'मैला आंचल', पृष्ठ ७३।
४. वही, पृष्ठ ६०।
५ 'अलग अलग वैतरणी', पृष्ठ ११०।

लेता।"[१] उसके रूप-सौन्दर्य का विवरण नही दिया गया है। वह आवश्यक भी नही था। परन्तु पटनहिया भाभी के सबध मे आवश्यक था अत इस प्रकार आया है—

"भुवनेश्वर की पत्र-लेखिका के मुखमण्डल की तरह सुडौल, चिकना और बारीकी से कोरा हुआ कान, कपोल और चिबुक की यह भंगिमा खुद इतनी पूर्णकाम थी कि उस पर मकरान्ति के नहान या जीवन के दूसरे ऐसे ही महत्वपूर्ण कामो के होने न होने को कोई छाया नही पड सकती।'[२]

चरित्र कल्पना की दृष्टि से दार्शनीन और पात्र ऐसे है जिनका महत्त्व है। ये है—जितेन्द्र, शिवेन्द्र और डाक्टर प्रशान्त। जितेन्द्र और डाक्टर प्रशान्त मे आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन हुआ है। दोनो ही आदर्श पात्र है। जितेन्द्र मे विचार-पक्ष प्रधान है और प्रशान्त मे भाव-पक्ष। परन्तु शिवेन्द्र इन दोनो मे भिन्न है। उसकी टक्कर का कोई भी पात्र आचलिक उपन्यासो मे नहीं। वह गीता रोजउड के स्वप्नो का देव पुरुष है। दुष्टो के साथ दुष्ट भलो के साथ भला यह नवनीत हृदय जमीदार बिना ताज का बादशाह है।[३] उसके चरित्र के केवल शासक-पक्ष के उद्घाटन द्वारा ही उसके व्यक्तित्व को पूर्णता म उपस्थित कर दिया गया है।

कई बार कोई सामान्य पात्र भी विशिष्ट चित्रण के कारण असामान्य लगने लगता है यद्यपि उसके जिन गुणो का चित्रण किया जाता है वे सामान्य ही होते हैं। जैसे 'चिट्ठीरसैन' म हौलदार नायूसिह एक टिपिकल फौजी है। व्यवहार मे तो वह खरा है पर बात-चीत मे बहुत चलता हुआ। उसकी बातो मे फौजीपन ही टपकता है—

"बौज्यू आप तो ऐसी बात करते हैं कि जैसे रुडकी का मिलीटरी कटोलमेट नहीं हुआ, बगल के डुगरी-उज्यौली गौं हो गए।" पहिली बात सुनिये कि फैमिली साथ मे लाने-लेजाने के सरकारी कानून-कायदे क्या है? नम्बर एक मे, गवरमिंट को अप्लीकिशन लिखनी पडती है। नम्बर दो मे, 'वह ओके' औलरैट', याने कि हस्ब मामूल कबूल, होके आ जावे, तो फिर, नम्बर तीन मे, रहने को क्वाटर और फेमिली लाने का रेलवी वारण्ट कटाना पडता है।" तो ये है सब सरकारी कानून कायदे। इसके अलावा, सिविल लैफ तो वहा चलती नही। फेमिली वालो को समझाना पडता है कि कौन से टैम घर से बाहर निकलना और कितनी टैम के अदर फिर अदर हो जाना। कौन टैम खाना पकाना और कौन टैम से क्या करना। यह तो वहा चले नही कि पीतल की घण्टी मे पानी भरा और चल दिये कही जगल

१ अलग अलग वैतरणी', पृष्ठ १७६।
२ वही, पृष्ठ ४७६।
३ 'परती परिकथा', पृष्ठ ४४३।

में। "यहां तो बौज्यू 'फनैश-सिस्टम' टट्टी-खाना होती है, जिसे लिटीरन-लेब्रोटरी-यूरीनान कहते हैं।"[1] उसमें फौजी का-सा साहस एवं कर्त्तव्य-परायणता भी है।

'हौलदार' में डूगरसिंह फौजी बनते-बनते रह गया परन्तु फौजियों के सम्पर्क से उसमें व्यवहार-कुशलता एवं वाचालता आ गई है। वह भी फौजी आर्डर की नकल बखूबी उतार देता है—

हुकमर ने 'औलरैट' कहके मेरी सिफारिश नेहरू महाराज के दरबार तक पहुंचा दी। बस क्या था वहां से आँर्डर' का तार आ गया—'वैर, जैहिन्द डूगरसिह सिप्ट कुमाऊ बटैलन नम्बर सेवन, क्वाटर नम्बर टैन, लन नम्बर नैन''' औलरैट! हुसियार तैयार जैहिन्द! कस्मीर की लडाई दुस्मन के वास्ते तुम फैर!

फौरन कुरमारच, डबल मारच, जैहिन्द! ।"[2]

शारीरिक अक्षमता ने उसमें हीन-भावना उत्पन्न कर दी है जो पूर्व-जीवन की स्वच्छन्दता का आधार पाकर उसकी मनोवृत्ति को अत्यन्त ओछा बना देती है। उपन्यास में उसी का उद्घाटन हुआ है।

'बलचनमा' एवं 'सुखराम' के चरित्र में सामान्य विशेषताओं की विशद विवेचना है। 'सूरज किरन की छांह' की बजारी सहनशीलता एवं सरलता की ही प्रति-मूर्ति बनकर असामान्य बनने लगती है। 'सत्ती मैया का चौरा' का मन्ने, 'रथ के पहिये' का आनन्द, 'लोक परलोक' की चमेली, 'पानी के प्राचीर' का नीरू, 'लोहे के पंख' का मगरूआ, और 'हिरना सांवरी' की हिरना, जैसे पात्र इसी प्रकार के विशद चित्रण के कारण महत्त्वपूर्ण बने हैं। परन्तु इस प्रकार विशिष्टता प्राप्त करने वाले पात्र असामान्य पात्रों में द्वितीय कोटि के पात्र ही होते हैं। विशिष्ट पात्रों का सौन्दर्य एवं महत्त्व तो उन्हीं पात्रों में निहित होता है जो अपने गुणों के कारण असामान्य होते हैं।

चरित्र कल्पना पर विस्तार से विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि आंचलिक उपन्यासों के पात्रों के चरित्रों में महत्त्व सामान्य पात्रों का ही होता है। परन्तु असामान्य पात्र सामान्य पात्रों के हल्के रंगों में अपने तेज रंगों द्वारा सुन्दर रूपाकृतियों का निर्माण करके आंचलिक जीवन का सुन्दर चित्र पूर्णता से एवं प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करते हैं। यद्यपि आंचलिक उपन्यासों का महत्त्व सामान्य पात्रों के चित्रण पर आधारित होता है तथापि उसका सौन्दर्य और उपन्यासकार की कला के दर्शन असामान्य अथवा विशिष्ट पात्रों में ही होता है।

---

१ 'चिट्ठीरसैन', पृष्ठ ३६।
२ 'हौलदार', पृष्ठ ३०

पंचम अध्याय

देश-काल एवं वातावरणगत शिल्प

देश-काल एव वातावरण उपन्यास का अनिवार्य तत्व है। जिस मानव समाज की कथा उपन्यास का लक्ष्य होती है वह किसी देश म ही निवास करने वाला होता है। देश का यहा अर्थ है—स्थान। यह स्थान एक भौगोलिक-सामाजिक इकाई होता है। भौगोलिक इसलिए कि उसकी भूमि पर स्थिति होती है और सामाजिक इसलिए कि उस समाज की अपनी विशेषताए होती हैं जो भौगोलिक परिस्थितियो द्वारा निर्मित एव नियत्रित होती है। इन दोना भौतिक वस्तुओ के प्रभाव के रूप मे एक अन्य वस्तु प्रकट होती है जिसे वातावरण कहते है। वातावरण भौतिक विशेषताओ से उत्पन्न एक अभौतिक वस्तु होती है जो अनुभूति द्वारा ही अनुभव की जा सकती है। अपने निर्माणक तत्वों के आधार पर इस वातावरण के दो पक्ष होते है—सामाजिक, भौगोलिक। जिस समाज मे मनुष्य रहता है उसके वातावरण के प्रभाव से वह मुक्त नही रह सकता इस दृष्टि से वातावरण एक ससर्गात्मक शक्ति है। इस सामाजिक वातावरण का निर्माण रहन सहन, वेष-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, भाषा तथा सस्कृति द्वारा होता है। अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाकर इसी को देश-काल भी कह दिया जाता है—

> "देश-काल के अतर्गत समाज, राष्ट्र या राष्ट्र की धार्मिक, सामाजिक सास्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितिया, आचार-विचार, रहन सहन रीति-रिवाज आदि आते हैं।"[1]

देश-काल एव वातावरण से सबंधित इन सभी तत्वो की सम्यक् विवेचना आवश्यक है।

भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक परिवेश

भौगोलिक वातावरण का निर्माण प्रकृति के उपादान करते है। इसे भौगोलिक परिवेश कह सकते हैं। अन्य उपन्यासों और आचलिक उपन्यासों के वाता-

---

१ डा० मक्खनलाल, 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त व समीक्षा', पृष्ठ ७५।

वरण-चित्रण मे एक प्रमुख अतर यह है कि जहा अन्य प्रकार के उपन्यासो मे केवल वातावरण अथवा भौगोलिक एव सामाजिक परिवेश के अभौतिक रूप को ही महत्त्व दिया जाता है, वहा आचलिक उपन्यासों मे भौतिक तत्त्व को भी समान महत्त्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार आचलिक उपन्यासो मे यदि एक ओर प्राकृतिक विशेषताओ का अकन हो जाता है तो दूसरी ओर सामाजिक विशेषताओ का भी और इन दोना द्वारा निर्मित भौगोलिक एव सामाजिक वातावरण का भी। सक्षेप मे यह कह सकते हैं कि आचलिक उपन्यासो मे भौगोलिक परिवेश एव सामाजिक जीवन का चित्रण, प्राकृतिक एव सामाजिक विशिष्टताओ के परिणाम-स्वरूप निर्मित होने वाले वातावरण मे पृथक् एव स्वतत्र रूप मे भी होता है। पहिले भौगोलिक परिवेश पर विचार कर लें।

भौगोलिक परिवेश से तात्पर्य उन प्राकृतिक परिस्थितियो से होता है जिनमे कोई समाज निवास करता है। ये परिस्थितिया उस समाज के जीवन पर गभीर प्रभाव डालती है क्योकि अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य प्रकृति पर आश्रित होता है। यही कारण है कि विभिन्न भौगोलिक परिवेश मे रहने वाले मनुष्यो के क्रिया-कलापो एव जीवन पद्धति मे पर्याप्त अतर देखने मे आता है। समुद्र-तटीय प्रदेश अथवा नदियो के किनारो पर निवास करने वाले लोगो के जीवन पर जल का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। जल उनकी खाद्य-सबधी आवश्यकताओ की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण साधन ही नही होता उनकी अर्थ-व्यवस्था का मेरु दण्ड भी होता है। यही कारण है कि समुद्र-तटीय प्रदेशो मे अथवा गहरी नदियों के किनारे मछुओ का जीवन फलता-फूलता रहता है। समुद्र, सरिताए एव सरोवर उनके जीवन के आवश्यक अग बनकर उनकी सामाजिक मान्यताओं और विश्वासो पर छा जाते हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में समुद्री मछुओ का पहिनावा, उनका भोजन और उनकी समस्याए सभी समुद्र से प्रभावित हैं। नारियल पूर्णिमा समुद्र की पूजा का ही पर्व है। समुद्र ही उनका खण्डाला देवता है। शात समुद्र जीवन मे शाति का सचार करता है तो तूफानी समुद्र तूफान भी ले आता है और समाज समुद्र के किनारे इकट्ठा हो अपने प्रियजनो के जीवन की मगल-कामना करने लगता है। इसी प्रकार, ब्रह्मपुत्र के किनारे माभुली अथवा दिसागमुख मे निवास करने वालों का जीवन तो ब्रह्मपुत्र से सघर्ष करते ही बीतता है। दिसागमुख उनकी लहरो के साथ उठता गिरता है और माभुली बनता बिगडता है परन्तु न बरसोवा के मछुए समुद्र का तिरस्कार कर सकते हैं न ब्रह्मपुत्र के परिवेश के निवासी ब्रह्मपुत्र का। इसी प्रकार जगल मे निवास करने वाली जातियों पर जगल का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उन्हे लगता है कि जिस सिंगो ने यह धरती बनाई है उसी ने उन्हे भी बनाया है, वे जगल पर अपना अधिकार किसी भी सीमा तक छोडना नहीं चाहते और इसी के पीछे सघर्ष भी

१

करते हैं (जगल के फूल)। उपजाऊ मैदानो मे रहने वालो के जीवन मे यदि एक सरलता एव धार्मिकता होती है तो पहाडो पर रहने वालो के जीवन मे अपने उतार चढाव। एक परिवेश जन-जातिया बना देता है और दूसरा ग्राम समाज। भिन्न भौगोलिक परिवेशो मे निवास करने वाले लोगो के खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा धार्मिक, सामाजिक मान्यताओ मे गभीर अतर देखने मे आता है। सभ्यता एव संस्कृति का विकास भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर होता है। प्रकृति यदि अपने आशीर्वाद मुक्त हाथो से लुटाती है तो सास्कृतिक विकास का द्वार भी उन्मुक्त हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल मे सभ्यता तथा संस्कृति का विकास विशिष्ट भू-भागो मे परस्पर स्वतत्र रूप मे हुआ। उर्वरा भूमि पर बीज स्वत ही अकुरित होकर बढने लगता है अपने रोपण के लिए किसी अनुभवी, योग्य हाथ की अपेक्षा वह नही रखता। विशिष्ट भौगोलिक परिवेश मे यदि हिमालय की उपत्यका, थार मरुस्थल और मध्यदेशीय पठार पर निवास करने वाली जातियो को साहसी, वीर एव लडाकू बना दिया तो बगाल, बिहार एव उत्तर प्रदेश मे निवास करने वाले समाज को सुसस्कृत तथा प्रगतिशील। कामरूप-कामाख्या की जादूगरी म पहाडी-प्रदेशो की अगम्यता एव तज्जनित सम्पर्क-दुर्लभता का ही प्रमुख हाथ रहा। कश्मीर की गरीबी और सौन्दर्य दोनो ही यहा के विशिष्ट भौगोलिक परिवेश का परिणाम है। भौगोलिक परिवेश का समाज पर कितना गहरा प्रभाव पडता है यह अन्य देशो के निवासियो के जीवन की आपस मे तुलना करके भी देखा जा सकता है। अफ्रीका के हब्शी, अमेरिका के रेड-इण्डियन्स, ग्रीनलैण्ड के एस्कीमो एव आस्ट्रेलिया की बाण्टु जातियो से बिल्कुल भिन्न हैं। यह भिन्नता भौगोलिक परिवेश की विशिष्टता का ही परिणाम है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि भौगोलिक परिवेश का समाज-निर्माण मे गभीर योग होता है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब अन्य उपन्यासो में इस भौगोलिक परिवेश को महत्त्व नही दिया जाता, बल्कि कुछ विशिष्ट प्रकार के उपन्यासो (जैसे मनोवैज्ञानिक) म इसकी पूर्ण रूप से उपेक्षा कर दी जाती है तब आचलिक उपन्यासो मे इसकी विशेष आवश्यकता क्यो अनुभव की जाती है। इसका उत्तर आचलिक उपन्यासो की आवश्यकता की ओर सकेत करके ही दिया जा सकता है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का लक्ष्य रखता है, ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक व्याख्या का और सामाजिक उपन्यास सामाजिक-चित्रण का उसी प्रकार आचलिक उपन्यास आचलिक जीवन के उद्घाटन का लक्ष्य लेकर चलता है और जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार मनोविज्ञान के तत्वो की उपेक्षा नही कर सकता, ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास की अवहेलना नही कर सकता और सामाजिक उपन्यासकार समाज की मान्यताओं को

अन-देखा नही कर सकता, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासकार भौगोलिक परिवेश का तिरस्कार नही कर सकता क्योंकि भौगोलिक परिवेश ही उस वातावरण का निर्माण करता है जिसमें आंचलिक जीवन उभरता है। फिर भी यदि बिना विशिष्ट भौगोलिक परिवेश की योजना किये वातावरण अथवा विशिष्ट जीवन-प्रणाली की अवतारणा की जा सके तो भौगोलिक परिवेश का कार्य पूरा हो जाता है। घुमक्कड जातियों के जीवन की विशिष्टता कई बार भौगोलिक परिवेश की अपेक्षा नही रखती परन्तु वातावरण की अपेक्षा अवश्य रखती है जिसमे वह जीवन यथार्थ एव स्वाभाविक लगे। उदाहरणार्थ 'कब तक पुकारूं' म नटो के जीवन को उद्घाटित किया गया है। नटो की विशिष्टता उनका अपना जीवन होती है, उन पर अन्य समाजो का प्रभाव अधिक पडता है भौगोलिक विशिष्टता का कम। इसी प्रकार गावो के जीवन की विशिष्टता ग्रामीण वातावरण होती है। भौगोलिक परिवेश का कार्य यहा वातावरण करता है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि भौगोलिक परिवेश एव वातावरण मिलकर अलग-अलग आंचलिकता की अवतारणा मे सहायक होते हैं।

इन दोनों के साथ काल अथवा समय का भी अपना महत्त्व होता है क्योंकि वातावरण सदा काल की अपेक्षा रखता है। एक ही स्थान का वातावरण विभिन्न कालो मे, परिस्थितिया बदल जाने के कारण, भिन्न हो जाता है। इसीलिए विशिष्ट काल के सदर्भ म विशिष्ट परिवेश के जन-जीवन की कथा कहना आंचलिक उपन्यास का लक्ष्य होता है। काल का महत्त्व इसलिए भी है कि आंचलिक जीवन म कुछ काल ऐसे आते है जो उस पर अच्छी या बुरी छाप छोड जाते है। आंचलिक कथा उस काल से सबधित रहकर उनकी उपेक्षा नही कर सकती। दूसरी बात यह है कि जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास सम्मत पात्र इतिहास सम्मत घटनाओ और इतिहास प्रसिद्ध स्थानो का आधार (आधार मात्र) ऐतिहासिकता की अभीष्ट अवतारणा के लिए लेता है, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यास भी कई बार काल विशिष्ट की सामाजिक ऐतिहासिक घटनाओ के सदर्भ म कथा कहने लगता है जिससे उसके यथार्थ मे अभिवृद्धि हो जाये। इसीलिए 'जगल के फूल' म बस्तर के आदिवासी विद्रोह 'परती परिकथा' मे कोसी योजना और 'ब्रह्मपुत्र' म ब्रह्मपुत्र के बाध की समस्या का समावेश हो गया है। फिर भी आंचलिक उपन्यास का प्रमुख आग्रह सामाजिक ही होता है जिस पर आगे विस्तार स विचार किया जायेगा।

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि वातावरण की प्रभावोत्पादक अवतारणा आंचलिक उपन्यास की सबसे बडी सिद्धि होती है। यह दो प्रकार के चित्रणो द्वारा प्राप्त की जाती है—भौगोलिक परिवेश के यथार्थवादी चित्रण द्वारा तथा जन जीवन की विशिष्टताओ के कुशल अकन द्वारा। इन दोनो पर विचार करना आवश्यक है।

भौगोलिक परिवेश

भौगोलिक परिवेश के अन्तर्गत ही पृष्ठ-भूमि (बैक ग्राउण्ड) भी आ जाती है। प्राकृतिक विशिष्टाएं बाह्य रूप का निर्माण करती है तो यह पृष्ठ-भूमि उस बाह्य रूप की आत्मा का, अर्थात प्रकृति पृष्ठ-भूमि बनकर ही प्रभावशाली उपादान बनती है। इसीलिए यह एक ओर प्राकृतिक दृश्यो की सयोजना होती है तो दूसरी ओर उनके कारण निर्मित वातावरण की भी। दोनो पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

अचल को अचल बनाने मे सबसे महत्त्वपूर्ण हाथ भौगोलिक परिवेश का होता है क्योकि वही उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है तथा सामान्य सामाजिक जीवन से भिन्न करता है। यही कारण है कि कई उपन्यास कथा-वस्तु की दृष्टि से आचलिक न होते हुए भी वातावरण की सफल सर्जना के कारण आचलिक लगने लगते हैं और मान भी लिए जाते हैं जैसे 'कोहबर की शर्त', और 'गगा मैया'। ऐसे उपन्यासो मे ग्राम्य वातावरण की अभिव्यक्ति प्रकृति-चित्रण तथा समस्याओ के कुशल उद्घाटन द्वारा की जाती है। इसमे कोई सदेह नही कि 'ग्राम' अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति के कारण आचलिकता प्राप्त कर लेता है, परन्तु केवल एक ही तत्त्व के बल पर उससे सबधित उपन्यास को आचलिक मान लेना, आचलिकता के अर्थ को सकुचित कर देना है। फिर भी यह तथ्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वातावरण की कुशल अवतारणा आचलिकता की प्रथम आवश्यकता है।

प्राकृतिक परिवेश प्रकृति के नाना उपादानो की सहायता से मुखर हो उठता है। वास्तव मे प्रकृति के यह तत्त्व ही परिवेश का निर्माण करते हैं। इन्ही तत्त्वो मे से अपनी कथा-भूमि के उपयुक्त तत्त्व चुनकर तथा उनको प्रभावशाली ढग से समाविष्ट करके आचलिक उपन्यासकार अपनी कथा कहता है। 'जगल के फूल' मे बस्तर के गोडो की कथा है जो मध्य-प्रदेश के जगलो मे निवास करते हैं। जगलो एव पहाडो का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। उपन्यासकार ने उसका कुशलता-पूर्वक चित्रण किया है। नेतानार गाव का यह विवरण प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि का सुन्दर उदाहरण है—

> 'चारो तरफ पहाडियो से घिरे कटोरीनुमा मैदान के बीच इनी-गिनी झोपडिया। सब बास और फूस की बनी। गाव के द्वार पर घोटुल है और घोटुल के पहिले जहा गेंवडा है, पत्थरो की एक कोठी बनी है और उस पर एक पुराना बास गडा है। बास पर गेरुए रग की फटी-पुरानी ध्वजा लहरा रही है—गाव के बीच एक बडा-सा मैदान है, उसके सामने बास की किमचियो से घिरा मैदान है—मैदान मे यहा-वहा कुछ छांटे और

बड़े झाड लगे है। सब अस्त-व्यस्त, शायद अपने आप उग आए हैं ''।"[१]
इसी प्रकार गढवगाल के 'सेटिंग' का यह वर्णन भी विम्बात्मक एव प्रभावोत्पादक है—

'ऊपर महुआ की लाल-लाल नई कोपलों के बीच रस भरे फूल। नीचे वैसी ही धरती साल अर्मा, महुआ कोहा और सौगौने के ऊंचे-ऊंचे झाड। बेरी की घनी और फैली झाडिया। छित्ती मे छतराई हरी-भरी खेती सी धरती। पीपल, मकी और कदम्ब की घनी छाया। सर्प जैसी पगडण्डी इन्हे पार करती नीचे उतरती है। सामने एक नाला। दोनो ओर दो ऊची घाटिया'''तब काटा का रास्ता। थोडी दूर चल कर वह सरसो के फूल जैसी टापरियो मे खो जाता है।'[२]

भीलो के प्रदेश का भी अपना विशेष परिवेश होता है जिसे 'मोरझाल' मे चित्रित किया गया है। यहा के वन सुन्दर है और भील इन्ही मे बसते है। अगम पहाड़िया है और अजन के जगल है।[३] इसी प्रकार नैन गाव की स्थिति का भी प्रभावशाली वर्णन है। गाव क्या है टापरिया है दूर दूर बसी जैसे इनमे रहने वाला का पडोसी-धर्म से वैर हो।[४]

मैला आचल का कथा-क्षेत्र बिहार के पूर्णिया जिले का मेरीगज गाव है। उपन्यासकार ने इस क्षेत्र के भौगोलिक परिवेश को प्रारभ मे ही इस प्रकार चित्रित किया है—

"बूढी कोसी के किनारे-किनारे बहुत दूर तक ताड और खजूर के पेडो से भरा हुआ जगल—ताडबन्ना के बाद ही एक बडा मैदान लाखो एकड ज़मीन वन्ध्या धरती का विशाल अचल इसमे दूब भी नही पनपती है। बीच-बीच मे बालूचर और कही कही बेर की झाडिया। कोस भर मैदान पार करने के बाद पूरब की ओर काला जगल दिखाई पडता है। वही है मेरीगज कोठी।"[५]

गाव के पूरब म बहने वाली धारा कमला नदी भी उपन्यासकार से नही छूटी है। उसके गढे और उनमे पनपने वाले कमल के फूल और मलेरिया और कालाजार के मच्छरो की ओर भी उपन्यासकार का ध्यान गया है।

'परती परिकथा' मे जिस क्षेत्र की कथा है वह है—

"धूसर, वीरान, अतहीन प्रान्तर ' पतिता भूमि, परती ज़मीन, वन्ध्या

१. 'जंगल के फूल', पृष्ठ १५०।
२ वही, पृष्ठ ५।
३ मोरझाल', पृष्ठ ७७।
४ वही पृष्ठ १७।
५ मैला आचल', पृष्ठ १४।

धरती नहीं धरती की लाश जिस पर कफन की तरह फैली हुई है शान चरों की पंक्तियां।'[1]

गांव की भौगोलिक स्थिति भी लेखक की दृष्टि से ओझल नहीं रही—

"गांव के पश्चिम में बहती हुई दुलारीदाय की घाटी, तीन ओर विशाल प्रान्तर, तृण तरु शून्य लावा एवं बादामी रंग की धरती दुलारीदाय इसकी पश्चिमी रेखा है—जहां से हरियाली शुरू होकर पश्चिम की ओर गहरी होती गई है गांव के दक्खिन हजारों सेमल के पेड़ का बाग है, सेमल वनी···।'[2]

'वरुण के बेटे' में कोसी के अंचल में बसे मल्लाही-गोढ़ियारी के गढ़पोखर की प्राकृतिक स्थिति बड़ी कुशलता से अंकित की गई है—"गढ़पोखर की इधर वाली भिड़ काफी ऊंची थी। गोढ़ियारी का उत्तर-पूरबी कोनेला छोर उसे छूता था। गांव से उत्तर सटकर पुरानी अमराई से लगा हुआ सरोवर का इधर वाला (दक्खिनी) भिड़ा था। प्राइमरी स्कूल का पिछवाड़ा गांव की तरफ और अगला हिस्सा पोखर की तरफ पड़ता था। चमुड़िया रेलवे स्टेशन से आने वाली सड़क पूर्वी भिड़ के पासापासी आकर जरा आगे बढ़ते ही 'धनहा चौर' के सम्मान में वा अदब धनुषाकार हो गयी थी।'[3]

'धनहा चौर' का यह विवरण अत्यन्त यथार्थवादी है—

"बीचों-बीच एक-डेढ़ फर्लांग की लम्बाई और डेढ़-दो सौ गज की चौड़ाई में छातीभर पानी था। जेठ आते आते यह पानी कमर भर रह जाता था। असाढ़ से लेकर कातिक-अगहन तक धनहा चौर का इतना भाग अथाह पानी की वजह से झील बना रहता था। शरद ऋतु में खुलकर खिलने वाले नीले कमलों की बहार देखते ही बनती थी। इमुनी की सी शकलवाली यह मनोरम झील ही धनहा चौर के यश में चार चांद लगाये हुई थी।"[4]

'सागर लहरें और मनुष्य' का कथा-क्षेत्र है बरसोवा। "जवेरी से आती एक लम्बी सड़क के किनारे पूर्व और पश्चिम में यह गांव बसा है। जब बम्बई बसा भी नहीं था तब बरसोवा एक बड़ा बन्दरगाह था। पुर्तगालियों के जहाज पहिले यहीं लगा करते थे।'[5] बम्बई तट का विशाल समुद्र और वक्ष पर तैरने वाली नावों का चित्रण उपन्यास को विशिष्ट भौगोलिक परिवेश प्रदान कर देता है।

---

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ९।
२ वही, पृष्ठ २१।
३ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ३५।
४ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ३३।
५ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ १०।

'पानी के प्राचीर' का कथांचल गोरखपुर जिले में राप्ती और गौरी नदियों की धाराओं से घिरा हुआ एक विशाल भू-भाग है जो युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर केवल विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटा हुआ यह प्रदेश अपने आप में एक संसार है।[1]

नदियों के पानी के प्रचार से घिरा यह भू-भाग वास्तव में बन्दी है। यह गांव घोर कछार में बसा हुआ है। इसके चारों ओर फैली हुई नदियां बरसात में बीसों मील तक उमड़ कर ठाठें मारती है। बाहर से न कोई आता है न कोई जाता है। यह कछार प्रान्त अपने आप में स्वतन्त्र है, पूर्ण है।[2]

'आदित्यनाथ' में कुल्लूघाटी के परिवेश का चित्रण है

"बरफ की सफेद टोपियां पहने गगन-चुम्बी चोटियां मानो स्थान स्थान पर पहरा देती है। चोटियों के उदर से निकलती नदियां और झरने मानो जीवन के बीज बिखेरते है। शिखरों पर पर्वतों के कटिबन्धों पर फैली हुई चीड़-देवदारु की हरी-भरी वन-वीथियों में नाना प्रकार के तरु-गुल्मों में नाचती हुई प्रकृति मानो जीवन की मुस्कान लुटाती है · सेव, नाशपाती व खुमानी के बाग-बगीचे, क्यारियों में बने हुए खेतों की उतराई और चढ़ाई बिलकुल सीढ़ियों जैसी''।'[3]

श्री शैलेश मटियानी ने अलमोड़ा के पहाड़ी जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। 'हौलदार' में धौलछीना गांव का यह विवरण परिवेश का सुन्दर दृश्य उपस्थित करता है—

"तलिगाड़ के दोनों पार्श्वों में धान के खेतों की सार थी, जो नीचे गहरी तलहटी में बहती सुयाल तक पहुंचती हुई थी। सुयाल के किनारे सिंचाई की सुविधा होते हुए भी एकदम सकरी घाटी होने के कारण खेतों का सिलसिला टूट जाता था। धौलछीना वासियों के लिये तो सुयाल बेटी जैसी थी जो अपने घर का धन दूसरे घर को ले जाती है · बहू तो वह पत्यू से नीचे को पड़ने वाले अर्वे-छानी-तिवाड़ी गावों के लिए थी, जहां उसके हाथों के मांगलिक जल-कलश की बूंद-बूंद चौड़ी चौड़ी छाती वाले खेतों के काम आती थी।"[4]

'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के भौगोलिक रूप को कथानक का आधार बनाया गया है यद्यपि केन्द्र है दिसांगमुख और माभुती, परन्तु उनकी भी अपनी विशिष्टता है—

"अहोम राजाओं की पुरानी राजधानी शिवसागर यहां से तेरह मील है।

१ 'पानी के प्राचीर' (पूर्वाभास), पृष्ठ १।
२ 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ १०६।
३ 'आदित्यनाथ', पृष्ठ १८।
४ 'हौलदार', पृष्ठ १४१।

देखिए न, यहां दिमाग नदी ब्रह्मपुत्र में मिलती है''

'ब्रह्मपुत्र' हमारी माटी काटकर ले जाता है तो हम कुछ बोल भी तो नहीं सकते'' नित नित इसके किनारे टूटते हैं एक किनारे में दूसरा किनारा नजर नहीं आता ' बीच-बीच में रेत और माटी के द्वीप भी बनते-मिटते रहते हैं। छोटे द्वीप को 'सापरी' कहते हैं और बड़े को 'माभुली'। माभुली तो बस एक ही है। सापरियों की तो यह अवस्था है कि आज हैं कल नहीं है ।' [१]

भौगोलिक परिवेश में भी अधिक आंचलिकता का निर्माण वातावरण के माध्यम से होता है। वातावरण के भी दो पक्ष हैं—प्राकृतिक, सामाजिक।

प्राकृतिक वातावरण

प्राकृतिक वातावरण प्राकृतिक दृश्यों—प्रात, संध्या, रात्रि, ऋतुओं, खेतों, खलिहानों आदि से संबंधित होता है और सामाजिक वातावरण रहन-सहन की विशेषताओं, समस्याओं तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक निरूपण में।

प्राकृतिक वातावरण आंचलिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है। आंचलिक उपन्यासकार बड़ी कुशलता से विभिन्न प्रकृति रूपों के चित्र उपस्थित कर विशिष्ट वातावरण की सृष्टि करता है जो कथा को उसका अपना प्रभावशाली परिवेश प्रदान करता है। उदाहरणार्थ 'सागर लहरें और मनुष्य' में समुद्रीय जीवन से संबंधित यह चित्र मछुओं की कथा की आवश्यक भूमिका है—

"उस दिन मंगलवार था, पूनो की रात। आकाश से दूध की धार बरस रही थी। धरती का कोना-कोना हंस रहा था। समुद्र की सतह पर जहां तक निगाह जाती, मोतियों का चूरा बिछा था। लहरों की आकाश चूमने वाली ऊंची-ऊंची दीवारों के किनारों पर फेनों की गोट लगी दीख पड़ती थी'' सारा समुद्र एक महान खिलाड़ी के उल्लास उमंग से उत्तरंग हो रहा था।' [२]

रात्रि के इस प्राकृतिक चित्रण के साथ ही बरसोवा की सुषुप्त बस्ती का भी सुन्दर चित्र उपन्यासकार ने कुशलता से अंकित किया है—

"पहले पहर की उसी रात को बम्बई के पश्चिमी तट पर बसा हुआ मछलीमारों का गांव बरसोवा उनींदा हो रहा था। गदेलों और कथरियों पर लेटी जवान औरतें काम-काज से थककर छाती पर हाथ रखे सपने देखने की तैयारी कर रही थीं। कुछ ''पांच नम्बर के बलवों पर नजर गड़ाये कल्पना के चित्र बुन रही थीं। दुर्गंध, पानी कीचड़ से नहाई गलियां, कच्ची सड़कों पर ऊर्ध्व-ग्रीवा कुत्ते कभी-कभी सातों स्वरों में तान आलाप छेड़ बैठते और अपने समवेत गान

---

१ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ १५।
२ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ ३।

"कुए से आगे मचान पर सफेद और बैंगनी सेम की बेलें लतरी हुई थी। पत्तो, फूलो और फलियो से लता-वितान ढका पड़ा था। जरा हटकर क्यारियो मे पातगोभी के बीस-एक मुकुटनुमा पौधे इठला रहे थे। बैंगन के बौने भाडो पर बुढ़ापा उतर आया था। पके-पाड़े दानेदार गुच्छों के वजन से भी सौंफ की डठले झुकी नही थी।"[१]

गाओ पर प्रकृति का कोप नदियो नालो की बाढ के रूप मे प्रकट होना है—

"चारो ओर शोर हो रहा है, राप्ती बढ रही है, गौरी बढ रहा है, मदना मे पानी गिर रहा है। सैनवा नाला मे भी पानी आ गया। अब खेत बचना मुश्किल है ···।"[२]

"घुर-घुर, घुर-घुर पानी की धारा गड्ही मे गिर रही है। गड्ही और खेत देखते-देखते एक हो गये। गाव के चारो ओर पानी ही पानी। आदिगन्त सफेद-सफेद फेन फैलता जा रहा है—

ह—ह—ह—हाग—ह—ह—ह—ह—हाग—भेडिया उछल रही है। तेज पुरवा हुहुकार रही है। ऊपर से पानी बरस रहा है और बाढ की ऊची तरगें हहहास कर रही हैं।"[३]

ब्रह्मपुत्र भी आजाद बस्तियो और सुन्दर बगीचो को निगल जाता है—

"चतुर्दिक जल ही जल है, जल ही जल है। जैसे यहा प्रलय आ गई हो। चतुर्दिक चीख-पुकार है और ब्रह्मपुत्र पागल हाथी के समान चिंघाड रहा है।"[४]

'रतिनाथ की चाची' मे बलुआहा पोखर का विस्तृत वर्णन उसके आचलिक महत्त्व को स्पष्ट करता है—

"हेमन्त की हलकी ठड मे सिल्लियो और वन मुर्गियो का झुण्ड बलुआहा के निर्मल जल मे घने सेवार पर इधर से उधर छप-छप करके दौडा करता। शिशिर की नीरव निस्तब्ध निशा मे रह-रह कर एक आध बडी मछली पानी पर उतराकर अपने पर फटकारती तो ठिठुरती प्रकृति के एकान्त क्षण मुखरित हो उठते। वसत मे ग्रामीण बालक बालिकाए लाख मना करने पर भी जल-विहार आरभ कर देते···वैशाख और जेठ के महीनो मे···मछुए महाजाल डालकर बलुआहा की तमाम बडी मछलिया निकाल लेते···

भीट पर चारो ओर बरगद, पीपल, पाकड, मौलश्री, आम और जामुन के पेड थे। गर्मी, बरसात, और जाडे के दिनो मे चरवाहो और राहगीरो के वे

१ 'दुखमोचन', पृष्ठ ७।
२ 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ १३४।
३ वही, पृष्ठ १३५।
४ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ४२४।

मा-बाप थे।···कीड़े-मकोड़े तक उनकी स्नेह सुधा से वंचित न थे।"[१]

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यासों में प्रकृति के नाना रूपों का निरूपण बड़ी कुशलता से किया जाता है। परन्तु प्रकृति चित्रण केवल भौतिक चित्रण बनकर नहीं रह जाता, उस पर मानवीय संवेदनाओं के आरोप द्वारा उसमें प्रभाव-प्रवणता का समावेश भी कर दिया जाता है। उपन्यासकार की भावुकता इस प्रकार के आरोपण में अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है और ऐसे स्थल गद्य-गीत की गंभीरता प्राप्त कर लेते हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में उपन्यासकार को आकाश से 'दूध की धार'[२] बरसती दिखाई देती है, 'समुद्र महान खिलाड़ी के उल्लास-उमंग'[३] को प्रकट करता दीखता है, तूफान आने से पूर्व हवा की सांस घुटने लगती[४] है, लहरों की हिम्मत टूट[५] जाती है और उनके गीत सोने[६] लगते हैं।

धरती तो 'रेणु' को वन्ध्या नारी के समान लगती है[७] इसी धरती का उद्धार होता है और "सेमल वनों के आकाश में अबीर गुलाल उड़ता है और आसन्न-प्रसवा धरती हंस कर करवट लेती है।'[८]

"अपने दोनों हाथों से कछार की धरती पर सुख-समृद्धि बांटती हुई दुलारी दाय वन्ध्या धरती की सम्वेदना में बहती अश्रुधारा जैसी[९] दीखती है।

वर्षा आती है 'छररररर छररर' मानो बादल धरती पर उतर कर दौड़ रहे हैं। छहर छहर! खेतों में गीत हो रहे हैं।'[१०]

इसी भावुकता के कारण अंधेरा चुमकी मारता दिखाई देता है[११] और नदी जलतरंग बजाती[१२] दिखाई देती है। मिट्टी के अंदर में घुसने की कोशिश में लगे अंकुर मदारी का तमाशा देखने वाले बच्चों की तरह ऊपर उचकने लगते हैं।[१३]

हिमालय से निकल कर बहने वाली नदियां—'अल्हड़ किशोरियां सी फर्र-

---

१ 'रतिनाथ की चाची,' पृष्ठ ४१।
२ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ ३।
३ वही, पृष्ठ ३।
४ वही, पृष्ठ ४।
५ वही।
६ वही।
७ 'परती परिकथा', पृष्ठ ६।
८ वही पृष्ठ ५०१।
९ वही, पृष्ठ २१।
१० 'मैला आंचल', पृष्ठ २४४।
११ 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ ३८६।
१२ 'रथ के पहिये', पृष्ठ ७५।
१३ [illegible]

फर्र नाचनेवाली, होंठो के दायरे मे ही प्रतिध्वनित होकर रह जाने वाली, हू—हु—हु—की हुकार भरने वाली ' पर्वतराज हिमालय की सदैव जीवात मूर्तिमान रहने वाली बेटिया—पार्वतिया।"[1]

शुक्ल पक्ष की रात मे "थक-थका के बेसुध पडी धरती पर चन्दरमा भर-भर सूप दूध उडेलते है ।"[2]

प्रकृति वर्णन की ये पक्तियां कविता का ही रस देती हैं—

"उषा की सिन्दूरी आभा धीरे धीरे खेतो मे फैलकर रगीन झील की तरह मुस्करा उठी—नदी का पानी सुनहरे आबे-रवा के दुपट्टे की तरह लहरा उठा प्रकृति ने एक मीठी अगडाई लेकर खुमार भरी पलकें उठाई। सूरज की पहली किरन ने उसके अधर चूमे और चर अधर ने झूम कर जीवन और प्रेम की रागिनी छेड दी।'[3]

ब्रह्मपुत्र तो जल देवता है ही जिसकी सारे दिमागमुग्रवासी जय बोलते है[4] वह 'दयावान भी है और बहुत क्रोधी भी'[5] इसके क्रोध को शान्त करने के लिए लोग नारियल चढाते है और दूध की मटकिया भी।

प्रकृति के नाना रूपो पर इस प्रकार मानवीय सवेदनाओ के आरोप से प्रकृति-रूप कितने आकर्षक प्रभविष्णु एव सरस हो उठते हैं यह कदाचित् कहने की आवश्यकता नही।

सामाजिक परिवेश एव सामाजिक वातावरण

वातावरण का दूसरा पक्ष है जन-जीवन या सामाजिक पक्ष। आचलिक उपन्यास जिन अचलो से सबधित होते हैं उनकी अपनी सामाजिक समस्याए होती हैं, अपने नैतिक मान-दण्ड होते हैं और अपनी सस्कृति होती है। इन्ही का कुशल चित्रण सामाजिक वातावरण का प्रभावशाली रूप उपस्थित करता है।

सभी आचलिक उपन्यासो का सामाजिक जीवन समस्याग्रस्त होता है क्योकि अचल पिछडे हुए क्षेत्र होते है और पिछड़ापन समस्याओ का जनक होता है। उपन्यासो म सामाजिक समस्याए अपने ढग की होती हैं। 'मैला आचल' मे बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगज गाव के १९४६ से अगस्त १९४८ तक का काल लिया गया है। यह देश मे भी उथल-पुथल का काल था। गाव की राजनीतिक जागृति पर गाधीजी का प्रभाव इसी का परिणाम है और बालदेव, कालीचरण

१ वही, पृष्ठ १३९ १४०।
२ 'बलचनमा' पृष्ठ २१७।
३ गगा मैया', पृष्ठ १००।
४ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ १४।
५ वही, पृष्ठ १५।

तथा बावनदास उसी पक्ष का उद्घाटन करते हैं। जाति के आधार पर दलबदी है। कायस्थ, राजपूत और यादव तीन प्रमुख वर्ग हैं जो एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए सभी प्रकार के धधे करते हैं। मलेरिया से ग्रस्त इस इलाके के लोग इतने अध-विश्वासी हैं कि अस्पताल खुलना तक भयकर विपत्ति का सूचक मानते हैं। ब्राह्मण टोली के लोग असहयोग ही नही करते वरन जोतखीजी यह फतवा भी दे डालते हैं कि "डाक्टर लोग रोग फैलाते हैं, सुई भोंककर देह म जहर देते हैं, आदमी हमेशा के लिए कमज़ोर हो जाता है हैजा के समय कूआ म दवा डाल देते हैं, गाव का गाव हैजा से समाप्त हो जाता है पूरब मुलुक कामरूप कमिच्छा हासाम से काला बुखार वालों का लहू शीशी म बद करके यही लोग ले आये थे। आजकल घर-घर मे काला बुखार फैल गया है इसके अलावा बिलैती दवा म गाय का खून मिला रहता है।"[1] ये लोग यादवो की प्रगति से ईर्ष्या भी करते हैं। पूजीवाद गाव की जडो को खोखला किये डाल रहा है। महगाई बढ रही है, भाव चढ रहे हैं, किसान लुट रहा है। तीन-चार रुपै वाले लोग हैं बाकी सब गरीब, मजदूर या कृषक। अगूठे की टीप देकर बार-त्यौहार मालिक लोगो से नाज आदि ले लेते हैं और फिर ज़िंदगी भर चुकाते रहते हैं। ज़मीदार ज़मीन हडपने की फिक्र मे हैं। नये नय ज़मीन के बदोबस्त होते है जिनके द्वारा तहसीलदार एव ज़मीदार दोनो गरीबों को लूटते हैं। यहा ऐसे इन्सान भी हैं जिन्हे आम की गुठलियो के गूदे पर ज़िन्दा रहना पडता है—

"आखिर वह कौनसा कठोर विधान है जिसने हजारो क्षुधितों को अनुशासन मे बाध रखा है ? कफ से जकडे हुए दोनो फेफडे, ओढने को वस्त्र नही, सोने को चटाई नही ' भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नही जी जाता है।'[2]

वहा सात माह के बच्चे बथुए के साग पर पलते है, देह मे तेल लगाना भी जहा के निवासियो के लिए विलासिता है। गरीब किसान गरीब होता जा रहा है और शहरो की ओर भागने को तैयार है।[3] फिर भी गाव मे सामाजिक-सास्कृतिक उत्सवो का जोर कम नही है। विदापत नाच के मृदग पर चलती बज रहा है परन्तु कपडे के कन्ट्रोल, कोसी मैया पर बाध का काम, पटवारी, पुलिस आदि के अत्याचार इसमे सम्मिलित कर लिए गए हैं—

"नटुआ दोनो हाथ जोडकर फन काढे गेहुअन साप की तरह हिलते-डुलते, कमर के सहारे बैठ रहा है। धरती पर घाघरी पुरैन के पत्ते की तरह बिछी हुई है—

१ 'मैला आचल', पृष्ठ २१।
२ वही, पृष्ठ २८८।
३ वही, पृष्ठ ३६१।

आह, एकहि न-गर बसू माधव हो,
....
आहे छोड़ छोड़ जदुपति आचर हो
हो मागत नव सा री।

"हा भैया कोटा-कनटरोल का जमाना है। कपडा नही मिलता। जरा होशियारी से··[1]

"नायक जी हमको धीरज बधाने वाला कोई नही। सुनते हैं कि बराह-छत्तर मे सरकार बहादुर कोसी मैया को बाध रही है, लेकिन हमारे दिल को बाधने वाला कोई नही।"[2]

"सर्वे सेटलमैंट जब होने लगा
दस हाथ के लगर बनैल क
पाचे हाथ न पाई [3]

और गली, कूचे, घाट-बाट, डगर-पोखर सभी नाप लिये और इस घर पर भी "इधर जमींदार क सिपाही छप्पर पर का कद्दू, लत्तर का खीरा, बकरी का पाठा और चार जोडा कबूतर सिर्फ तलबाना मे ही साफ कर गया।"

तब
थारी बैच पटवारी के दे लिये
लोटा बैच चौकीदारी
बाकी थोडेक लिखाई जै रहलै
कलम देकर घुराई रै धिरजा '[4]

इस प्रकार के लोकगीत आचलिक जीवन का साक्षात् चित्र उपस्थित कर देते हैं। लोक-पर्व भी मनाए जाते है—होली अपनी मस्ती लेकर मेरीगज मे उतरती है, होली मे सब माफ है—

अरे बहिया पकडि झकझोरी श्याम रे
फूटल रेशम चूडी
मसकि गई चोली, भीगल साडी।"[5]

होली की इस हुडदग मे जोतखीजी भी तो नही छोडे जाते—

अरे हो बुडबक बमना, अरे हो बुडबक बमना,
चुम्मा लेवे मे जात नही रे जाय

---

१ 'मैला आचल', पृष्ठ १०७।
२ वही।
३. वही।
४ वही पृष्ठ १०८।
५ 'मैला आंचल', पृष्ठ ९६०।

जोन्हा, धुनिया, नेनी तेलनिया ने पीये न छुअल पनिया
नटिनी के जोबना के गंगा-जमुनवा में डुबकी लगा के नहनिया। [1]

गिरवापर्व पर 'मदमगी' भी होती है[1] और वर्षा के लिए जाट-जट्टिन खेलना और बहों को गाली देना भी लोग नहीं भूलते। यहां का धार्मिक और नैतिक जीवन भी अपनी विशेषता रखता है। महन्त गद्दी के लिए झगड़ते हैं और समाज में अनैतिकता घुसी हुई है। इस संबंध में सभी उदार हैं—नोने की स्त्री राम लगनसिंह के बेटे से फंसी हुई है, उचितदास की बेटी कोयरी टोले के सरवन महतो से, हरगौरीसिंह अपनी ग्राम मौसेरी बहन से फंसा हुआ है बालदेव जी कोठारिन में लटपटा गये हैं कालीचरन ने चरखा स्कूल की मास्टरनी को अपने घर में रख लिया है। शिवशंकरसिंह बेइज्जत हो चुके हैं और डाक्टर भी कमला में उलझा हुआ है। महन्त दासिन रखते हैं, गाजा पीते हैं और जनता के पैसे पर ऐश करते हैं।

लोक-गीतों तथा लोक-उत्सवों में जीता यह समाज सामाजिक मान्यताओं में मर रहा है।

'परती परिकथा' में १९५३ के लगभग के 'लैंड सर्वे-सैटलमैन्ट' एवं कोसी बांध-निर्माण के काल में पूर्णिया जिले के परानपुर ग्राम का जन जीवन चित्रित है। यह ग्राम अपनी विशिष्टता रखता है —

"ग्राम परानपुर, थाना रानीगंज ' परानपुर की प्रतिष्ठा सारे जिले में है। लोग यहां दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पॉकिट एक बार टटोल कर देख लेते हैं। फारबिसगंज बाजार की किसी दुकान पर चले जाइये ज्योंही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीजों को समेटना शुरू कर देता है ' हाकिम-हुक्काम भी यहां के लोगों से बातें करते समय इस बात का ख्याल रखते हैं कि सिर्फ एक ही गांव में एक वर्ष के अन्दर सरकार के तीन तीन विभागों के अधिकारियों की आंखों में धूल झोंकी गई। '' ट्रेन के चैकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चैकर को गोड़ें और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं।' [2] परन्तु यह परानपुर सारे अंचल का प्राप है और इसीकी धूसर वीरान, अंतहीन, पतिता भूमि, परती जमीन, बंध्या धरती की कथा कही गई है।

सामाजिक जीवन अशांत है—जमींदारों एवं पूंजीपतियों का शोषण है। गांव टूट रहे हैं, परिवार टूट रहे हैं, सर्वे सैटिलमैन्ट की आंधी ने गांव को झकझोर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का हक लूटने को तत्पर बैठा है,

---

१ वही पृष्ठ १६५।
२ वही पृष्ठ १६१।
३ परती परिकथा', पृष्ठ १७ १८।

नारियल पूर्णिमा[१] तथा होलीकोत्सव के विवरण इस मछुआरा समाज के सांस्कृतिक जीवन को कुशलता से उद्घाटित करते हैं।

'वरुण के बेटे' मलाही-गोढियारी के मछुओं के जीवन की समस्याओं का उद्घाटन करता है। तीस पैंतीस परिवारों वाले गांव में अधिकतर मछुए निपट गरीबी में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पास-पड़ोस के इलाके में पांच-सात कोस तक और कभी-कभी पन्द्रह कोस तक मछलियां पकड़ने निकल जाते हैं।[२]

' इधर के जितने भी पोखर थे, जितनी भी ताल-तलैया थी, जितनी भी नदियां और झीलें थीं पानी का जहां भी जमाव टिकाव था—सारा का सारा उनका शिकारगाह था। मछलियां नहीं सिंघाड़ा—तालमखाना कमल और कुई के फूल कमल गट्टे, कमलनाल, कडहर, कैमोर, मारुख जैसी चीजें भी पानी से वे हासिल करते थे। पुड़इन पद्म के गोल गोल चिकने-चिकने पत्तों की भी बाजारों में काफी खपत थी। तालमखाना उपजाने के लिए हजारों की एड वान्स देकर ये लोग पोखर लेते थे ठेके पर।'[३] फिर भी लाभ सम्पन्न मछुओं को ही होता था, खुरखुन जैसे गरीब को तो केवल दशांश ही मिलता था। तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में सारा परिवार रह सकता था।[४]

देश आजाद है, जमींदारी उन्मूलन हो चुका है फिर भी जमींदारी शोषण अभी समाप्त नहीं हुआ है। मछुओं से अभी भी जलकर किसी न किसी बहाने वसूल किया जाता है। "नौकरशाही, भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जनजीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अभी चल रहा था। मछुआ-संघ की तरफ से कई मैमोरेन्डम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके थे। लिखित और मौखिक दोनों प्रकार से यह बात जिला अधिकारियों तक पहुंचाई जा चुकी थी।"[५] परन्तु जनता के मालिकों के कान पर जूं नहीं रेंग रही थी। यही नहीं, व्यक्तिगत जोतों की जमीन, बाग-बगीचे, कुआं-चभच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम चढ़ी हुई जायदाद, चरागाह, परती परांत, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि जैसी कुछ एक अचल सम्पत्तियों के मामले में जमींदारी-उन्मूलन कानून ने भू स्वामियों को खुली छूट दे रखी थी। नतीजा यह हुआ था कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे।[६] भ्रष्टाचार चरम सीमा पर था, चुनाव के समय जो तकावी बांटी गई थी, चुनाव समाप्त होते ही वसूल की

१ सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ ३४, १५२।
२ वरुण के बेटे', पृष्ठ १८।
३ वही।
४ वही, पृष्ठ १६।
५ वही, पृष्ठ १२७।
६ वही, पृष्ठ ३१।

जाने लगी। सफेद पोशों की धींगामुश्ती के कारण अस्पताल का लाभ भी सौ मे पचानवे रोगी नही उठा पाते थे। ईमानदारी और जन-सामान्य का पक्षधर होकर जो डाक्टर वहा रहना चाहता वह चार महीने भी टिक नही पाता।[१] राजनीतिक नेताओं की टूर दस गुनी बढ गई थी और गाव के घर-घर मे राजनीति घुस गई थी। इन सभी समस्याओं से ग्रस्त मछुओं के सामाजिक जीवन का चित्रण उपन्यास का लक्ष्य है।

'कब तक पुकारू' मे नटो के जन-जीवन की समस्याए उद्घाटित की गई हैं। लेखक ने भूमिका मे ही स्पष्ट कर दिया है कि उसने नटो के जीवन के माध्यम से गावो मे बसे असली भारत का चित्र खीचा है जो अब भी मध्य-कालीन विश्वासो से ग्रस्त है तथा उसी आर्थिक व्यवस्था म नियन्त्रित है।[२] यह सारा खानाबदोश समाज घोर उत्पीडित और शोषित है। *सुखराम भी जानता है—*

'सिपाही मे ताकत होती है। वह राजा का आदमी होता है। वह सबस घूस लेता है। गाव के लोग उससे डरते है। यह जिधर जाता है उधर ही नट डरकर छिप जाते है "चाहे जब चाहे जिस नटिनी या कजरिया को पकड ले जाता है। हम सब उससे डरते थे क्योंकि वह हमे थाने म पकड ले जाता था। वहा पर हमे चोर कह देता था। फिर हम लोग बेंतो से पिटते थे। कभी-कभी गुड के पानी के छीटे दे दिये जाते थे जिससे चीटे लग जाते थे और देही सूज जाती थी। [३]

'दरोगाजी को जरूरत पडती तो इनमे से किसी को बुला लेते और सिपाहियों के जरिये समझा बुझाकर बनियो की चोरी करवा देते—माल बट जाता। गाव बाहर चामड के पीछे जुए का भी एक अड्डा पुलिस ने बनवा दिया था, जिसकी नाल का चौथाई दरोगा जी के हाथ मे जाता था।"[४]

नटो के जीवन का चित्रण उनके समाज के वातावरण के चित्रण से आप्लावित है। नटो के क्रियाकलाप, पारिवारिक, व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा सामाजिक नैतिकता सबधी मान्यताए विशिष्ट प्रकार की है। करनट खानाबदोश तो होते ही है जरायमपेशा भी होते है। इनमे मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते है। चोरी करते हैं, ढोल मढ़ते हैं और हिरन की खाल बेचते हैं, मोर की दलैया बनाते हैं, कस्तूरी, शहद, रोज के सींग, साडा और ऐसी ही दवा-दारू जो पौरुष को उत्तेजित कर सके बेचते हैं। औरतें मुह खोलकर नाचती हैं। दस-दस घडे सिर पर रख लेती हैं और कमर मटकाती हैं। मर्द बास पर चढकर तरह-तरह के खेल दिखाते हैं। इनकी स्त्रिया चोरी ही नही करती ऊची जात वालो

१ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ८३।
२ 'कब तक पुकारू', (भूमिका)।
३ 'कब तक पुकारू', पृष्ठ ६१।
४ वही, पृष्ठ ६६।

से नाजायज संबंध जोड़कर पैसा भी कमाती है। शादी-ब्याह आपस में ही हो जाते हैं। नैतिकता जैसी कोई चीज़ उनमें नहीं होती। शराब पीना, जुआ खेलना, चोरी करना सभी नैतिकता में आ जाते हैं। सौनो को सुखराम में जवानी का हुडक्म्प इसलिए नहीं दिखाई देता क्योंकि वह शराब पीने में हिचक जाता है, किसी की लड़की के साथ एक दिन भी नहीं पाया गया, गाली वह नहीं देता था जो मर्दानगी की निशानी है, चोरी वह नहीं करता न जुआ ही खेलता।[१] पति-पत्नी में प्रेम हो तो भी नए संबंध करने तथा पुराने तोड़ने की स्वतन्त्रता रहती है। एक साथ कई से संबंध भी चल सकते हैं। सुखराम जब २२ वर्ष का था और प्यारी उन्नीस की तब सोनो (प्यारी की मां) पैंतीस वर्ष की उम्र में एक २२ साल के गबरू नट के साथ बैठ गई थी। उसकी नज़र तो अपनी बेटी के पति सुखराम पर भी थी। प्यारी के फटकारने पर उसने जो उत्तर दिया वह नटों के सामाजिक जीवन को अत्यन्त कुशलता से अभिव्यक्त करता है—

'तूने क्या बनिया बामन समझा है कि जीते जनम बैठी रहूंगी? मल्को गूजरी ने तो लाली रहते रोटी न तोड़ी, दम्यारी न सही, मौरसिंह गूजर के जा बैठी।' ठठेरनी अलबेली के सात यार थे, खसम के रहते 'मरा तो जा बैठी अमरू ठठेरे के घर। कस्तूरी नाइन तो बूढ़ी थी, जब उसे पैंसठ वर्ष के बेनी नाई ने अपने घर न बैठने पर चोरी लगा पुलिस में फंसा दिया था तब भी अपने मन के यार के घर जा बैठी। मेरा तो कोई नहीं—कल ही चली जाऊंगी। नटनी का क्या? चाहे जिसके बैठ जाय।'[२]

इन नटों में न छुआछूत चलती है न शादी-ब्याह में ब्राह्मण ही बुलाया जाता है। ये लोग हिन्दुओं के देवी-देवताओं को ही मानते हैं जन्म मृत्यु, आत्माओं आदि के संबंध में इनकी अपनी मान्यताएं होती हैं। इन्हीं सबके चित्रण द्वारा नट समाज का वातावरण उपस्थित किया गया है।

गाडों के जीवन का चित्रण 'जंगल के फूल', 'सूरज किरन की छांह' और 'रथ के पहिये' में हुआ है। इनमें 'जंगल के फूल' *सबसे प्रभावशाली है।* बस्तर के गाड आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। अंचल का अधिकांश भाग जंगलों एवं पहाड़ों से आच्छादित है न खेती के योग्य पर्याप्त भूमि ही है और न यहां के निवासी उसका समुचित उपयोग ही कर सकते हैं। वर्ष भर खाने लायक भी उत्पन्न नहीं होता। दिन में स्त्री-पुरुष सभी चारे की तलाश में जंगल में निकल जाते हैं, सिर्फ छोटे छोटे बच्चे घरों में रह जाते हैं।[३] लोग अंध-विश्वासी हैं। भूत-प्रेत आदि में उनकी पूर्ण आस्था है। गांव का सिरहा इन बाधाओं से उनका

१ 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ २३।
२ वही, पृष्ठ ४७।
३ 'जंगल के फूल', पृष्ठ ६१।

उद्धार करता है। उनका प्रमुख देवता नारायन देव है जो बीमारियों का भी राजा है। जादू-टोने का देवता है नदराज।[1] परिवार के अतिरिक्त अविवाहित युवक-युवतियों के लिए घोटुल होते हैं जहां वे रात्रि आनंद-उत्सव में व्यतीत करते हैं। घोटुल के जीवन में स्वतंत्रता, समानता एवं मस्ती होती है। कथा कहने और घोटुल की दीवार पर चित्र बनाने में उनका समय बीतता है। घोटुल का एक चुना हुआ 'सिरदार' होता है। यह घोटुल गांव की रखवाली करता है और रात भर जागता है। इसके सदस्य गांव के जवान सिपाही हैं। लडकियों का सिंगार देखते बनता है···दिन भर आवारा भले रहे रात को लगन से सवरती हैं बालों में प्यार में लहरियां डालती हैं, पडियां खोंसती हैं। पडियां उनकी जिंदगी हैं, उनके प्रेमियों के प्यार की निशानी—चेलिक उनका प्रेमी है वह भी सज-संवर कर घोटुल में आता है।[2]

घोटुल के बाहर समाज में स्त्री की स्थिति हीन होती है। एक पुरुष कई-कई औरतें रख सकता है। औरत को स्वाद बदलने वाली चीज समझा जाता है[3] यदि कोई स्त्री अन्य पुरुष के साथ प्रेम करती दीखे तो हरजाना भर देना पर्याप्त होता है।

समाज का मुखिया गायता होता है जो जुम्मेदारी और बुद्धिमता से व्यवस्था करता है। पूरा गांव उसकी अंगुलियों के इशारे पर नाचता है। इन गांडों में अपनी विशिष्ट कथाएं प्रचलित हैं और उनके विभिन्न प्रतीक। भंगेला एवं लनमेना रखने की प्रथा है, गुदना गुदाना अत्यंत शुभ समझा जाता है। तम्बाकू मांगना अनुचित प्रेम संबंध के प्रस्ताव का प्रतीक है। दूध लौटाने पर परगौनी जैसी प्रथाएं भी प्रचलित हैं।

सामाजिक उत्सवों में गोंडों का सांस्कृतिक जीवन झूम उठता है। प्रमुख उत्सव हैं—लाडूकाज, कारा पाण्डुम, इरपू पाण्डुम, काडा मरेगा आदि। विवाह-संस्कार भी अपनी विशेषताएं रखते हैं। संगीत और नृत्य इन सभी उत्सवों में प्रमुख होते हैं। करदंगल की पूजा[4] तथा नारायण देव की पूजा[5] के विवरण गोंडों के धार्मिक और सामाजिक जीवन को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

'रथ के पहिये' में सामाजिक वातावरण के चित्र अधिक प्रभावशाली नहीं हैं फिर भी सामान्य समस्याओं का उद्घाटन हुआ ही है। करमानृत्य तथा भीमसेन, अन्न देवता एवं सांप से संबंधित लोक कथाएं आंचलिक वातावरण के हल्के

१ जंगल के फूल', पृष्ठ १६१।
२ वही, पृष्ठ २३।
३ वही, पृष्ठ १३६।
४ वही, पृष्ठ ११८।
५ वही, पृष्ठ ८।

रूप उपस्थित कर देती हैं। लगभग यही स्थिति 'सूरज किरन की छाह' की भी है। इसमे उस गरीबी और अशिक्षा का विवरण है जो गोडो को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रेरित करती है। फिर भी उनके जीवन का अपना आकर्षण है। धार्मिक एव सास्कृतिक उत्सव जीवन के आनददाई पक्ष को प्रकट करते हैं। मुलदेवा की पूजा, हरपू पाड्डुम का त्योहार, मरूका पाड्डुम, नुका नोरदाना पाड्डुम और रीना गाया जाना, कुछ प्रमुख सास्कृतिक उत्सव हैं। गोडो की सामाजिक एव धार्मिक मान्यताए तथा अध-विश्वास भी स्थान-स्थान पर उद्घाटित किये गये हैं।

धार्मिक स्थलो का वातावरण 'लोक-परलोक' तथा 'काका' मे बडी कुशलता म अभिव्यक्त हुआ है। लोक-परलोक' मे गगा के तट पर पद्मपुरी नाम के तीर्थ-ग्राम का चित्रण है जहा टीले पर देवी के मदिर मे दो बार यात्रियो का मेला लगता है जिसे 'जात' कहते हैं। स्टेशन से तीन-चार मील दूर-कच्ची सडक पार कर यहा आना होता है, किनारे-किनारे दूर तक साधुओ की कुटिया बनी हुई हैं।[1] गाव के समाज मे ब्राह्मण हैं पण्डे है, ठाकुर हैं, चमार, लोवे एव गडरिये भी है। "गाव का सारा वातावरण अधकचरा, ज्ञान और अज्ञान की कडी पर झूल रहा है।[2] गाव की सामाजिक हालत बहुत शोचनीय है। मालूम होता है कि देश की स्वतत्रता का गाव पर कोई प्रभाव नही पडा है। गाव की खूबी यह है कि कोई किसी का भला नही चाहता पडोसी का मकान गिरना क्या कम खुशी की बात है ?[3] ठाकुरो और पण्डो मे चढावे के प्रश्न को लेकर भयकर वैमनस्य है। पाखण्डी पण्डे सवेरे से भाग का गोला चढाकर, सरसो के तेल मे डूबे बाल काढकर, सारी देह मे चदन गगारज पोतकर घाट पर जा बैठते हैं, अकेली दुकेली स्त्रिया को छेड भी देते हैं। शकरानद जैसे पाखण्डी साधु निकम्मे तथा आलसी आदमियो को चेला बनाकर उनके माध्यम से भोले भक्तो को ठगते है। शिष्यो को शोषण के गुर सिखाए जाते है—"यहा जितना आडबर होगा उतने पुजोगे। याद रखो इस काम मे बहुत चालाकी की जरूरत है।"[4] इस प्रकार के विवरणो के साथ तीर्थ-यात्रियो के चित्रण[5] प्रभावशाली वातावरण का निर्माण करने मे अत्यन्त सहायक होते है।

मथुरा के धार्मिक जीवन का चित्रण भी लगभग इसी प्रकार का है। वहा भी एक ओर गुसाई हरिदास जैसे पाखण्डी, लोलुप एव कामी सन्यासी है और दूसरी ओर वन महाराज और पानीवाले महाराज जैसे ठग भी है। पण्डे अपेक्षा रखते है कि उनकी पडिने 'जिजमाना की सेवा करके माल पोटें'। गुसाइयो की

---

१. लोक परलोक', पृष्ठ ५।
२ वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ३५।
४. वही, पृष्ठ ५४।
५ वही, पृष्ठ १।

चेलिया कुटनी का काम करती हैं, भोली-भाली स्त्रिया को फंसाने का प्रयत्न करती हैं। पण्डे उनमे छेड-छाड ही नही करते, तीर्थ-यात्रियो मे उनके द्वारा कमाई भी करना चाहते हैं। मथुरा नगरी के इस वातावरण का बडा सुन्दर चित्रण त्रिन्दिया ने इस एक वाक्य म कर दिया है—

"जमुना मे कछुए, आसमान मे गिद्ध और मथुरा मे पण्डे किसी को नही छोडते।'[1]

पार्वतीय जीवन मे सबधित उपन्यासो मे पार्वतीय समाज के जन-जीवन का सुन्दर चित्रण मिलता है।'हौलदार' का धौलछीना गाव अलमोडा से करीब तेरह-चौदह मील की दूरी पर विनसर पर्वत की उपत्यका मे बसा है। यहा के निवासियों मे ब्राह्मण और क्षत्रियो मे, वर्ग भावना जोरो पर है। राजपूत विष्ट हैं तो निम्नवर्गीय शिल्पकार एव शिल्पकारिने भी हैं, विस्टो की विस्टाणि या गुसैणिया हैं। जीवन-यापन का साधन खेती और जानवर पालना है। टेकुआ बनाने की सामाजिक अनैतिकता भी प्रचलित है। लोक देव गोल्लगगनाथ और सेमदवता हैं। धूनिया है जहा गाव वालो के सयुक्त प्रयास से हर साल लोक-देवताओ का अवतार कराया जाता है—लगातार बाईस, ग्यारह या कम-से-कम सात दिन तक। 'वैसी' रात को ही लगती है जिसमे विशेष देवता होने हैं। 'जागर' के कुछ लाक देवता 'वैसी' मे अवतार नही ले सकते।[2] डगरिया के शरीर मे देवता अवतार लेते हैं। नौताड के डगरिया का पूर्णावतार अलग से कराया जाता है और पुराने डागरिया गुरु मत्र देते हैं।[3] जब लोक-देवता प्रचड अवतार की स्थिति मे होने हैं तब उनके हाथ मे नीबू या दाडिम देकर निस्सतान औरतें स तति प्रार्थना करती है। चमत्कारी घटनाए हो सकती हैं इसीलिए गोल्ल-गगनाथ और सेमदेवता से मानता मानी जाती है, बकरे चढाये जाते हैं, और मान्यता पूरी होने पर कास्य घटिया टगवाई जाती है।

कुछ सामाजिक प्रथाए भी आचलिकता का निरूपण करती हैं। बच्चे के नाम-करण के समय पिता पगडी बाध कर हल्दी-पुते चौक पर बैठता है।[4] शादी के समय जाते हुए वर्ग के हाथ मे रूमाल अथवा आईना रहता है। कुमाऊ मे अधिकाश कन्याए वास्तव मे कन्या के रूप मे ही ब्याही जाती है—रजस्वला लडकी व्यभिचारिणी मानी जाती है। रजोधर्म सम्पृक्त कन्या के दान से पिता नरकगामी होता है।[5] चैत के महीने मे विवाहिता पुत्री को भिटौली भेजन की प्रथा

१ 'काका', पृष्ठ १२५।
२ 'हौलदार', पृष्ठ २४६।
३. वही, पृष्ठ २४७।
४. वही, पृष्ठ २००।
५ वही, पृष्ठ १४८।

है। वस्त्राभूषण सबधी भी अपनी आचलिक मान्यताए है।

'चिट्ठीरसैन' मे कुमायू अचल के ऊडतगो ग्राम के जन-जीवन का चित्रण है। यहा सीढियों जैसी बनावट के खेत है जिनका सिलसिला ऐसे मोडो पर खत्म होता है कि फर्लांग भर के फासले का गाव आखो से परे होता है ठीक आखो की सीध मे गाव दूर-दूर तक दिख जाते है। इसका पर्वतीय जीवन भी हौलदार जैसा ही है। 'चौथी मुट्ठी' मे तो आचलिक जीवन की सामाजिक-पारिवारिक समस्याओ का ही चित्रण प्रमुख है। फौजी तथा परदेशी, विधवाओ एव अनाथिनियो को भगा ले जाते है। कुमाऊ के इस अचल ने देश की सेना के लिए सदा ही सैनिक दिये है। हौलदार या जमादार बनकर गाव लौटकर गाव वालो पर अपने व्यक्तित्व का रौब डालने की इच्छा प्रत्येक नौजवान के मन मे होती है इसीलिए वे फौज म भरती होते है। बहुत से पहाडी बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि स्थानो को भाग जाते है और दरबान, होटल-ब्वाय जैसी नौकरिया करते है,

"परदेश की नौकरी मे गये बटा-पनिया वाली पहाडना का हिया प्यार से हिलुरता है, टीस से कसमसाता है और वो ऊचे टीलो पर खडी, सडको पर चलते मुसाफिरो को देखकर अपनो की स्मृति मे गदगदा उठती है गाव की ओर आते चिट्ठीरसैन को देखते ही उनकी सिरधरी गगरिया छलछलाने लगती है।'[1] इस प्रकार के सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक पर्वतीय जीवन का कुशल उद्घाटन शैलेश जी के उपन्यासो मे हुआ है।

मिथिला के जन-जीवन की समस्याए नागार्जुन के उपन्यासो को शक्तिशाली आचलिक वातावरण प्रदान करती है। एक समय था जब मिथिला मे घर-घर तकली चला करती थी। तकलिया किर्र-किर्र करके कासे के कटोरो मे नाचती और पूनी से खीचकर सर्र सर्र सूत निकलता था। कुलीन ब्राह्मणियो के जीवन मे तकली का बहुत महत्त्व था—जनेऊ के लिए इन बारीक सूतो की आवश्यकता अनिवार्य समझी जाती। आठ-दस वर्ष की उम्र से लेकर जीवन-पर्यन्त तकली का और उनका साथ रहता। ईस्ट इण्डिया कपनी के शासन से पहिले तकली के ये सुन्दर सूत मल-मल बुनने के काम आते थे।[2] गाव गाव मे बढी मण्डल प्रतिमाए बनाया करते। आश्विन मे दुर्गा की, कार्तिक म काली, चित्रगुप्त और कार्तिकेय की, माघ मे सरस्वती की चैत मे राम, लक्ष्मण, सीता तथा उनके स्वजन-परिजन, अनुचर-परिचर की। भादो म कृष्ण की।[3] इस क्षेत्र की ऐसी जातीय प्रथाए है जो अन्यत्र देखने मे नहीं आती और जिनका मूलाधार है अध-विश्वास-

१ 'चिट्ठीरसैन' (भूमिका), चिट्ठी के चार अक्षर,' पृष्ठ १।

२ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ १२।

३ वही, पृष्ठ ४२।

जातीयता तथा कुलीनता की भावना। कन्याओं को अपने से उच्च कुल में दान करने की ब्राह्मणों की सनक ने बिकौआ प्रथा को जन्म दिया। बहुपत्नीत्व वहां की सामान्य विशेषता है। मिथिला के ब्राह्मणों के अभिजात्य को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मणों का विद्या, आचरण कुलीनता आदि के आधार पर पंजा तैयार करा दिया गया है। 'ब्राह्मणों की ऐसी सिलसिलेवार फेहरिश्तें भारत भर में और कहीं नहीं है।" सौराठ का वैवाहिक मेला भी मिथिला की अपनी विशेषता है।[१]

इन धार्मिक, सामाजिक समस्याओं के साथ आर्थिक विपन्नता की समस्याएं भी उलझी हुई हैं। ब्राह्मणों में विशेषकर कुलीन ब्राह्मणों में, दरिद्रता अपनी चरम सीमा पर है। बिकौआ प्रथा एवं दरिद्रता ने अनैतिकता को जन्म दिया है। दम्मा फूफी, शकुन्तला, जनक किशोरी आदि के अपने अपने प्रेम संबंध है।[२] 'बलचनमा' में मालकिन की खवासिन का संबंध अपने मालिक से था। उस पर भी उसमें वासना की तीव्र आग थी, "जिस आबोहवा में पल पुस कर वह बड़ी हुई थी उसमें कई हाथों की फेरी रही होगी।'[३] जब वासना की चुड़ैल चढ़ती तब वह "काछा खोलकर नंगी हो जाती और हाय-बाय, हाय-बाय, करती हुई जीभ निकालती· ही ही ही ही मैं काली हूं खा जाऊंगी सभूचा गांव ·।"[४] चौदह-पंद्रह वर्षीय बलचनमा पर भी वह डोरे डाल रही थी।

गांवों में जमींदारी शोषण अपनी चरम सीमा पर था। गिरहथ जरा-जरा सी बात पर अपनी गरीब प्रजा की बुरी तरह पिटाई कराते। बलचनमा की दो 'किसुनभोग' आम तोड़ लेने पर खम्भे में बांध कर पिटाई की गई थी।[५] इन जमींदारों को किसी अन्य व्यक्ति का आत्म-सम्मान भी सह्य नहीं था। शत्रुमर्दन-सिंह को तीस रुपये का ऋण न चुका सकने के कारण चीटों से कटाया गया था—

"बिलबिलाते लाल चीटों वाला आम के अध-सूखे पत्तों का वह घोंसला रायजी के माथे पर टिकाया · चीटे हजारों की तादाद में शत्रुमर्दन की देह पर फैल गये · एक साथ हजारों की संख्या में चलती फिरती भूखी प्यासी जहरीली सुइयों ने लाचार आदमी पर हमला कर दिया।'[६]

बलचनमा के समान ही चमारों पर भी जमींदारों के अत्याचार होते थे। मंगरूआ व उसका पिता झगड़ू मालिक के इन अत्याचारों से दुखी होकर गांव छोड़-

१ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ१३६।
२ वही, पृष्ठ ६८।
३ 'बलचनमा', पृष्ठ १८।
४. वही, पृष्ठ २७।
५ वही, पृष्ठ १२।
६. 'बाबा बटेसरनाथ', पृष्ठ ४३।

कर भागते रहते थे। मालिक लोगों को तो उन लोगों की थोड़ी सी जमीन भी अच्छी नही लगती थी यद्यपि ये गरीब इनके ऊपर जान देने को तैयार रहते थे। जब जमींदारी-उन्मूलन हुआ तब भी इन जमींदारो ने उसका भर-पूर लाभ उठाया।[१]

बलभद्र ठाकुर के उपन्यासो मे आचलिक वातावरण का प्रभावशाली रूप केवल 'आदित्यनाथ' मे प्रकट हुआ है। ग्यारह हज़ार फीट की ऊचाई पर बसे मलाणे की जीवन-प्रणाली अनोखी है। उस पर बाह्य जगत् का प्रभाव लेश-मात्र भी नही पडा है बल्कि वहा के निवासी वाह्य जगत् से घृणा करते हैं, उन्हे पढाई *की जरूरत ही नही है*—

'मलाणे मे पढाई की जरूरत नही ! नही जरूरत ! पढा लिखा लोग बडा बेईमान, बडा बेईमान !"
मलाणे पर जमलूदेवता का राज है। जमलूदेवता की दया है। सब जमलू की प्रजा हैं। जमलू शरणागतपाल है, समदर्शी है। यह उसीका प्रताप है कि मलाणे मे कोई भूखा नही, नगा नही, भीख मागने वाला नही, अमीर और गरीब नही, वहा वास्तव मे वर्ग-विहीन समाज है।[२] लोगों का धधा कष्ट-साध्य खेती और आसपास की जोतो से जडी-बूटिया उखाड कर कुल्लू उपत्यका की मण्डियों म बेचना है। 'मलाणे मे खाने का बडा तक्लीफ ! जोत पर अगर जडी बूटी न होवे तो मलाणे का लोग भूख से मर जावे।'[३] फिर भी यहा का समाज ईमानदार है।" यहा का आदमी किसी दूसरे की चीज़ नही छूता चाहे सोना-चादी ज़मीन पर फक दो।"[४] यहा का नारी-सौन्दर्य भी ला-जवाब,[५] स्त्री-अगो मे सकोच का अधिकार भी अभी जननेन्द्रिय से आगे नही जा सका। यहा "विवाह-बधन मे कोई दृढता नही है। विवाह कोई समस्या नही है और न ही सभ्यता के उलझावो से उत्पन्न यौन-जीवन की जटिलता।'[६] बीस वर्ष की उम्र होने के पूर्व एक स्त्री कई-कई पुरुषों से विवाह कर चुकी होती है, हरजाना केवल बीस रुपये देना होता है जो 'मरद का खुसामद' करके कम भी हो सकता है। गाव की सनातनी पचायत के दो अग होते है—ज्येष्ठाग और कनिष्ठाग। इनका निर्वाचन एव गठन भी अपनी विशिष्टता रखता है। यहा भी जाति भेद है। धोखे से अछूत से छू जाने पर दण्ड देना पडता है। भूत-प्रेत, पिशाच, डकिनी, शकिनी आदि मे यहा के

१ 'बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ २-३।
२. 'आदित्यनाथ', पृष्ठ २०२।
३ वही, पृष्ठ ११७।
४ वही, पृष्ठ १७६।
५ वही, पृष्ठ १८२।
६. वही, पृष्ठ १८४।

निवासी विश्वास करते हैं। फिर भी यहा का जीवन-क्रम निश्चित है और उत्सव और त्योहार के दिन एव तरीके भी। यहा की नाप तौल भी अपनी ही है। बोली कणाश है। इस प्रकार के अनोखे सामाजिक वातावरण में रहने वाली जाति का चित्रण उपन्यास का प्रमुख सौन्दर्य है।

'नेपाल की वो बेटी' मे नेपाल के मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओ का चित्रण है जिसकी कोई विशेषता नही क्योकि वह नेपाल का मामान्य जन-जीवन है। यही बात 'मुक्तावती' के सबध मे भी सत्य है। जातीय एव सामन्ती सघर्षों के बीच सामाजिक उत्सवो का चित्रण हुआ है। थावल चोडा, हलकार, वारुणी पर्व तथा लाई हराउबा नृत्य आदि के विवरण मणिपुरी वातावरण निर्मित करने मे सहायक होते हैं। इस सबध मे होलीकोत्सव के विवरण, 'लोकताल' के सौन्दर्य-चित्रण तथा मणिपुर पुराण की अनुश्रुतिया, अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। स्थानीय समस्याओ मे बगाली-मणिपुरी-समस्या, ब्रह्म-सभा की समस्या, श्राद्ध कर, नागा, माइतेइ तथा उच्च वर्ग का अतर, आचलिक जीवन के निरूपण म सहायक ही नही होता, सुन्दर आचलिक वातावरण भी उपस्थित करता है।

'ब्रह्मपुत्र' मे असमी, मीरी और नेपालियो के बीच चलने वाले सामाजिक सघर्ष की पृष्ठ-भूमि मे ब्रह्मपुत्र की बाढ एव उसकी माटी काटने की समस्या, दरोगा के अत्याचार तथा देश की स्वतत्रता का सघर्ष आदि, ब्रह्मपुत्र की उपत्यका मे निवास करने वाले लोगो के जीवन की सामाजिक-आर्थिक समस्याओ का उद्घाटन करते हैं।

"ब्रह्मपुत्र बडे-बडे कगार निगल कर भी बराबर भूखा नजर आ रहा है। यह देखकर तो यही कहा जा सकता है कि ब्रह्मपुत्र देवता नही दानव है राखाल काका ने बडी-बडी दरारो की ओर सकेत हुए कहा अब यह भूमि भी कट जायेगी।"[१] ब्रह्मपुत्र का पठार वहा के निवासियो की जायदाद है,

> "बखार मे धान हो गाय दूध देती रहे। केले के पेड फलते रहे। ताम्बूलपान की कमी न रहे ' रेशम के कोडे रेशम तैयार करते रहे हमारे करघे चलते रहे, एण्डी और मगा के थान बुनती रह हमारी कन्याए—मछलिया फसती रहे।'[२]

बस फिर कुछ नही चाहिए इन ब्रह्मपुत्र के किनारे निवास करने वालो को। असम सोने का देश है—"इसकी वेगवती नदिया, छोटे छोटे गाव, धान के पके हुए सुनहले खेत, झिलमिलाते पोखर, गाव की गली म कँ-कँ करती बतखें, पोखरा मे तैरते राज हम, कले, सुपारी और बास के कुज ' ये ब्रह्मपुत्र के प्रदेश का प्रभावशाली वातावरण निर्मित करते है।

१ 'ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ २१८।
२ वही, पृष्ठ ४०२।

इन विशिष्ट क्षेत्रो से सबधित उपन्यासो के वातावरण की तुलना मे ग्राम्य जीवन का सामान्य चित्र उपस्थित करने वाले भी कुछ ऐसे उपन्यास है जिन्हे ग्रामीण वातावरण के चित्रण के कारण ही आचलिक माना जाता है। ऐसे उपन्यासो मे प्रमुख हैं— सती मैया का चौरा', 'पानी के प्राचीर, 'नदी फिर वह चली आदि। ग्राम्य सस्कृति एव जीवन समग्र भारत मे लगभग एक जैसा रहा है इस दृष्टि से ऐसे उपन्यास उन उपन्यासो के समकक्ष नही बैठते जो अन्य तत्त्वो मे भी आंचलिकता को उदघाटित करते है। फिर भी आचलिक वातावरण की सफल अभिव्यक्ति किसी भी उपन्यास के लिए गर्व का विषय हो सकती है।

षष्ठ अध्याय

जीवन-दर्शन गत उपलब्धिया एव तद्विषयक शिल्प

दर्शन शब्द दृश (देखना) धातु से करण अर्थ म ल्युट प्रत्यय लगाकर बना है। अपने पारिभाषिक अर्थ म यह शब्द उस शास्त्र क लिए प्रयुक्त होता है जिसम आत्मा अनात्मा जीव ब्रह्म प्रकृति पुरुष जगत धर्म मोक्ष मानव जीवन उद्देश्य आदि का निरूपण हो। इस अर्थ म यह तत्व ज्ञान कराने वाला शास्त्र[1] है। यह

'वह शास्त्र या विद्या है जिसम प्रकृति आत्मा परमात्मा जगत के नियामक धर्म और जीवन के अतिम लक्ष्य आदि का निरूपण होता है।'[2]

अग्रेजी म इसका पर्याय है फिलासफी जो दो ग्रीक शब्दो स मिलकर बना है— फिलेइन (Philein) अर्थात प्रेम और सोफिया (Sophia) अर्थात ज्ञान। इस प्रकार फिलासफी का अर्थ हुआ बुद्धिमत्ता अथवा वस्तुओ के व्यावहारिक अथवा सैद्धान्तिक कारणो क ज्ञान के प्रति प्रेम अथवा उनका अध्ययन अथवा उनकी खोज।[3]

दर्शन और जीवन दर्शन

दर्शन शब्द को जब जीवन शब्द के साथ जोड दिया जाता है तब वह अग्रेजी शब्द फिलासफी आफ लाइफ का पर्याय जीवन दर्शन बन जाता है। इस प्रयोग म दर्शन शब्द का एक सीमित अर्थ ही रह जाता है क्योकि जहा दर्शन तत्वज्ञान कराने वाला शास्त्र होता है वहा जीवन-दर्शन केवल एक दृष्टि

---

१ बृहत हिन्दी कोश (ज्ञानमडल बनारस स० २००६) पृष्ठ ५८६।

२ नालन्दा विशाल शब्द सागर पृष्ठ ५६७।

3 The love study or pursuit of wisdom or of knowledge of things their causes whether theoritical or pract cal —THE OXFORD ENGLISH DICTIONARY Vol VII, page 781

कोण होता है और वह भी जीवन के संबंध में। उसका आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, धर्म, मोक्ष, मानव-जीवन के उद्देश्य, आदि से या तो कोई संबंध रहता ही नहीं, यदि रहता भी है तो केवल ऊपरी। इनकी गहराई तक वह नहीं जाता न जाने की आवश्यकता ही होती है। इस अर्थ में 'जीवन-दर्शन' या 'कलाकार का जीवन दर्शन' एक विशिष्ट सत्य की ओर संकेत करता है। वह सत्य है, कलाकार ने जीवन को कैसा पाया, उसने जीवन के संबंध में क्या धारणा *बनाई और जीवन को वह कैसा समझता है। संक्षेप में जीवन-दर्शन कलाकार की* जीवन की आलोचना होती है। इस संदर्भ में जीवन-दर्शन का दर्शन-विज्ञान से कोई संबंध नहीं रह जाता क्योंकि दर्शन-विज्ञान जीवन की गहराई में प्रवेश करता है और जीवन दर्शन सतह पर उसे देखकर परखता है। एक की दृष्टि आत्मा पर होती है, दूसरे की शरीर पर। भारतीय षट्-दर्शनों की विभिन्न पद्धतियों में जिस आध्यात्म का निरूपण हुआ है उससे "पूर्णतः अनभिज्ञ होते हुए भी जीवन के संबंध में कोई धारणा बनाई जा सकती है। बड़े से बड़े विद्वान से लेकर सामान्य से सामान्य व्यक्ति तक जीवन को किस प्रकार का समझता है—उसके प्रति राग रखता है अथवा विराग, यही उसका जीवन-दर्शन है। तात्पर्य यह है कि जीवन-दर्शन के लिए दर्शक में किसी विशेष योग्यता अथवा अंतर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं होती परन्तु जितनी ही योग्यता अधिक होगी और अंतर्दृष्टि पैनी उतना ही जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण अधिक सत्य होगा क्योंकि वास्तविक जीवन का उतना ही अधिक गहराई में अनुभव प्राप्त किया गया होगा। इसके विपरीत दार्शनिक होने के लिए व्यापक अनुभव, गहन अध्ययन, विकसित तर्क-बुद्धि, पैनी दृष्टि, तीव्र लगन एवं लम्बी साधना की आवश्यकता होती है।

'दर्शन' दार्शनिक का क्षेत्र होता है और 'जीवन-दर्शन' कलाकार का। दार्शनिक अपने चिन्तन में सोद्देश्य लक्ष्य निर्धारित करके प्रवृत्त होता है, कलाकार का अनजाने ही एक दृष्टिकोण बन जाता है और अनजाने ही वह उसकी कला में अभिव्यक्त भी हो जाता है। एक का उद्देश्य होता है समाज के लाभ के लिए सत्य का उद्घाटन करना, दूसरे का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं होता। कभी-कभी परिणाम विपरीत भी निकल सकता है—अर्थात् कलाकार का जीवन-दर्शन समाज को गुमराह भी कर सकता है अथवा उसका अहित भी कर सकता है क्योंकि वह व्यक्तिगत संवेदना पर आधारित होता है, फलतः उसकी उपयोगिता एवं सत्य भी सीमित होता है। वर्तमान साहित्य का एक बड़ा अंग कुण्ठाओं और पूर्वाग्रहों का साहित्य है और समाज को पथभ्रष्ट करने अथवा उसमें निराशा का संचार करने के लिए बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। वह एक दृष्टिकोण पर ही आधारित होता है परन्तु दृष्टि केवल एक ही पक्ष पर जम कर रह गई हो तो कोई क्या करे? यदि गुलाब में कोई काँटा को ही सत्य मानकर चलता है तो वह अवश्य

फूल के प्रति विराग उत्पन्न कर देगा, परन्तु जिसके काटा कसक गया है और जो फूल प्राप्त नही कर पाया वह काटो की कसक को भूलकर फूल के सौरभ का गुणगान करे यह सभव भी नही। दर्शन खोज पर आधारित होता है और जीवन-दर्शन कार्यो के परिणाम पर। दोनो के सत्य इसीलिये भिन्न भी हो सकते हैं। दर्शन के सत्य प्रामाणिक एव स्थायी सत्य होते हैं, जीवन-दर्शन के सत्य प्रामाणिक एव स्थायी सत्य हो, यह आवश्यक नही। यही कारण है कि विभिन्न कलाकारो का जीवन-दर्शन भिन्न होता है, विभिन्न कालो मे जीवन दर्शन भिन्न रहता है और विभिन्न स्थानो पर जीवन-दर्शन भिन्न रहता है। इसके विपरीत भले ही हम भारतीय दर्शन की बात करें अथवा ग्रीक दर्शन की, प्राचीन भारतीय दर्शन की बात करें अथवा वर्त्तमान भारतीय दर्शन की, उनमे मूलभूत समानता अवश्य दृष्टिगोचर होगी।

'जीवन-दर्शन' की उपन्यास मे संयोजना

'दर्शन' शब्द मे सयुक्त होकर भी यदि जीवन दर्शन दर्शन-शास्त्र या दर्शन-विज्ञान में स्थान नही बना पाता तो उसका कारण (जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है) यह है कि वह दर्शन शास्त्र की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर पाता। फिर भी कलाकृति मे उसकी अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से हो जाती है। ऐसा होने का कारण है। कलाकार क्रिया जगत का प्राणी होता है अत मनुष्यो से, उनके क्रिया-कलापो, सबधो, विचारो, अनुभूतियो तथा सुख-दु ख मे, उसका सबध हो ही जाता है। सासारिक परिस्थितियो का स्वय उस पर भी प्रभाव पडता है और प्रभाव की अभिव्यक्ति अथवा प्रतिक्रिया उसकी कला मे स्वत ही प्रकट हो जाती है। इस दृष्टि से छोटी से छोटी कहानी भी विश्लेषण करने पर अपने पात्रो एव कथानक के माध्यम से उनके निर्माण के पीछे निहित, कथाकार की जीवन सबधी मान्यताओ अथवा धारणाओ को किसी न किसी सीमा तक अभिव्यक्ति दे ही देती है। इस दृष्टि से तो हल्की से हल्की कृति भी अपने पीछे निहित किसी न किसी दृष्टिकोण अथवा दर्शन को अभिव्यक्त करती हुई दिखाई देगी परन्तु इस प्रकार की अभिव्यक्ति को जीवन-दर्शन के सुदर नाम से अभिहित नही किया जा सकता। इसलिये नही कि वहा जीवन-दर्शन नही होता, बल्कि इसलिये कि वह विकसित व गहरा नही होता और न किसी ऐसे गभीर सत्य का उद्घाटन ही कर पाता है जिसको विचार का विषय बनाया जा सके। परन्तु महान् कलाकार जीवन का दर्शक होने के साथ उसका चिन्तक भी होता है। उसका जीवन का अनुभव अत्यन्त गहरा होता है, उसकी दृष्टि पैनी होती है और भावुकता का आधार पाकर उसका दर्शन अनजाने ही उसकी कृतियो मे अभिव्यक्त हो जाता है। इस दार्शनिक तत्त्व का महत्त्व कितना है यह इसी बात

से स्पष्ट हो जाता है कि किसी उपन्यास पर विचार करते हुए हम अनजाने ही जीवन पर विचार करने लगते हैं।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार प्राय निश्चित दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनी कृति मे प्रतिपादित करने का लक्ष्य रखकर नही चलता, न ही उसकी कला जीवन से सबधित कुछ धारणाओ को कला के रूप मे ढालने का प्रयत्न करती है। कलाकार का कोई दार्शनिक उद्देश्य भी नही होता। वस्तुस्थिति यह होती है कि कलाकार ने जो कुछ जीवन के बारे मे विशेष रूप से देखा होता है वही अनजाने अथवा जान-बूझकर उसकी कृतियो मे समाहित हो जाता है। यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन करना ही होता है। कलाकार के जीवन की परिस्थितिया इस सबध मे अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। जब हम यह कहते हैं कि कलाकार के अपने अनुभव उसकी कला-प्रवृत्तिया का निर्माण करते है तब हम केवल एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य का ही उद्घाटन करते है क्योकि जीवन के अनुभवो की प्रतिक्रिया ही मनुष्य के कार्यों मे अभिव्यक्त होती है। कवयित्री महादेव वर्मा के काव्य की पीडा उनके जीवन के एक तीखे अनुभव एव अभाव मे ही जनित हैं पत का प्रकृति प्रेम उनके जन्म-स्थान के वातावरण के प्रभाव मे ही उदभूत है, रेणु और नागार्जुन का ग्राम्य जीवन उनके व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। वर्ड्सवर्थ ने अपने ग्रथ 'प्रिल्यूड' मे अपने ऊपर पडने वाले प्रभावो का कुशलता से अकन किया है शैली को क्रान्तिकारी कवि उसके अपने जीवन के अनुभवो ने बनाया था गोर्की की कहानियो एव उपन्यासो मे रूस के तत्कालीन जीवन के प्रभाव की स्पष्ट छाप है, टामस हार्डी के निराशावाद के स्वर के पीछे उसके काल के इगलैण्ड की परिवर्तनशील परिस्थितिया ही थी, इसी कारण लगभग उसी काल म यही प्रवृत्ति फ्रास के मोपासा, जर्मनी के शोपेनहावर तथा रूस के पुश्किन म भी दिखाई देती है। हेमिग्वे के उपन्यासो मे वर्णित युद्ध की विभीषिका का अनुभव उन्हे स्वय था। इस प्रकार किसी भी कलाकार पर उसके जीवन की परिस्थितिया जो प्रभाव डालती है वही उसकी कला मे भी जीवन दर्शन के रूप मे प्रकट हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, कलाकार के व्यक्तित्व का उसके जीवन दर्शन मे गभीर सबध होता है। इसीलिये साहित्य समाज का दर्पण बन जाता है।

---

1 "How important is this philosophical element in their work is, strikingly shown by the fact that in discussing any great novel we soon find overselves involved in the discussion of life itself"

—William Henry Hudson, AN INTRODUCTION TO THE STUDY OF LITERATURE, page 216-217

यह स्वीकार कर लेने के उपरान्त कि उपन्यासकार के व्यक्तित्व से उसके जीवन दर्शन का घनिष्ठ संबंध होता है यह देखना भी आवश्यक है कि क्या इस संयोजना के पीछे उसका कोई उद्देश्य होता है अथवा वह निरुद्देश्य होती है। उपन्यासकार दोनों ही रूपों में इसकी संयोजना कर सकता है। परन्तु निरुद्देश्य संयोजना में ही उपन्यास कलाकृति बना रहता है, सोद्देश्य संयोजना तो उसे प्रचार साहित्य बनाकर ही छोड देती है।

जीवन दर्शन की उपन्यास में अभिव्यक्ति की दो पद्धतियां है। प्रथम गौण द्वितीय, स्पष्ट। इन्हीं को नाटकीय एवं विश्लेषणात्मक भी कहा जा सकता है। नाटकीय पद्धति में उपन्यासकार नाटककार के समान जीवन के प्रदर्शन मात्र से ही उसके संबंध में अपनी धारणा स्पष्ट कर देता है। इस कार्य के लिये वह जीवन के तथ्यों की संयोजना इस प्रकार करता है कि उनके माध्यम से कुछ विशिष्ट तथ्य अधिक उभर आये। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह पात्रों एवं उनके चरित्र पर एक विशिष्ट दृष्टिकोण से प्रकाश डालता है। कथा की संयोजना कुछ इस ढंग से की जाती है कि वह लेखक के दृष्टिकोण की पुष्टि कर सके। इस दृष्टि से ऐसा प्रत्येक उपन्यास एक लघु विश्व बन जाता है जिसका विधाता उपन्यासकार होता है तथा कथानक विधि का विधान। इस प्रकार केवल वस्तु के चयन तथा प्रतिस्थापन द्वारा, पात्रों के प्रस्तुतीकरण एवं प्रभावशीलता द्वारा तथा कथानक के विकास की विशिष्ट दिशा द्वारा, उपन्यासकार जीवन के संबंध में अपने विचार प्रकट कर देता है। इसके उपरान्त यह कार्य आलोचक का रह जाता है कि वह उपन्यास में छिपे हुए तथा बिखरे हुए विचार-सूत्रों को संगठित कर उन्हें लेखक के जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत करे।

उपन्यासकार स्पष्ट रूप से भी स्वकथना तथा व्याख्या द्वारा अपनी विचार धारा को स्पष्ट करता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी कथा के प्रवाह का स्पष्टीकरण तथा पात्रों के कार्यों एवं आचरणों की आलोचना तथा इन दोनों से उद्घाटित होने वाले नैतिक प्रश्नों की व्याख्या भी करता जाता है। परिणाम-स्वरूप अपने द्वारा निर्मित कृत्रिम विश्व का वह विधाता एवं व्याख्याकार दोनों बन जाता है। उसका यह विश्व लौकिक जगत् का ही एक संक्षिप्त संस्करण होता है। इसलिए उसके विश्व की समस्याओं की व्याख्या लौकिक विश्व पर भी लागू हो जाती है। ऐसा उपन्यासकार अपने विचारों को स्पष्ट अभिव्यक्ति देकर तथा आलोचक के उत्तरदायित्व का भी किसी सीमा तक निर्वाह करके करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यासकार के जीवन-दर्शन का उपन्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आंचलिक उपन्यास भी पहिले उपन्यास होता है अतः उसमें भी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति होनी स्वाभाविक है। देखना यह है कि उसका कौन-सा रूप आंचलिक उपन्यासों में दिखाई देता है

तथा वह अन्य उपन्यासों से किस प्रकार भिन्न होता है।

आंचलिक उपन्यास और जीवन-दर्शन

इससे पूर्व कि आंचलिक उपन्यासों में जीवन दर्शन के निरूपण पर विचार किया जाय यह आवश्यक है कि उसकी प्रवृत्ति पर किंचित् दृष्टिपात कर लें क्योंकि उपन्यास की प्रवृत्ति का उसमें निरूपित जीवन-दर्शन से घनिष्ठ संबंध होता है। आंचलिक उपन्यास का लक्ष्य सम्पूर्ण अंचल के जीवन की विशिष्टता को स्पष्ट करना होता है। अतः उपन्यासकार की कथा आंचलिक जीवन की समस्याओं की कथा होती है और उसके पात्र विशिष्ट प्रवृत्ति के होते हैं। इन्हीं के माध्यम से उपन्यासकार जीवन एवं जगत् संबंधी अपने विचारों को स्पष्ट करता है। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यासकार का कार्य अन्य उपन्यासकारों की तुलना में किंचित दुष्कर होता है क्योंकि उसे अपेक्षाकृत अनजान परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के माध्यम से ज्ञात और विश्वसनीय सत्यों का उद्घाटन करना होता है। आगे प्रमुख आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में इस स्थिति पर विचार करेंगे।

मैला आंचल में राजनीतिक पार्टियों के पाखंडवाद, स्वार्थपरता एवं तज्जनित सामाजिक अशान्ति की कथा कही गई है पहिले बालदेव के माध्यम से गांधीवादी मार्ग का उत्कर्ष दिखाया गया है परन्तु वह अपने ही आदर्शवाद का शिकार होकर समाप्त प्राय हो जाता है। इसी प्रकार कालीचरण के व्यक्तित्व का सहारा पाकर समाजवादी विचारधारा गांव में तेजी से फैलती है परन्तु अपने ही ऊपरी वर्ग के नेताओं की स्वार्थपरता तथा विश्वासघात के कारण इसका भी आकस्मिक पतन हो जाता है। सामन्तवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व दो पात्रों में हुआ है—तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद तथा जनसंघी हरगोविन्दसिंह। हरगौरी-सिंह के दल का न तो अधिक विकास ही दिखाया गया है और न पतन ही। वह स्वयं सथालों के आक्रमण का शिकार हो जाता है। तहसीलदार को उसके सद्गुणों के कारण तहसीलदारी पुनः मिल जाती है उसने गांव वालों की दुर्दिनों में सहायता भी की थी उसमें दया एवं सहानुभूति भी थी। इन पात्रों एवं इनकी कथाओं के माध्यम से उपन्यासकार स्पष्ट करता है कि राजनीतिक स्वार्थ एवं पाखण्ड सफल नहीं हो सकता। न कोरा आदर्शवाद ही सफल हो सकता है। सरलता सहानुभूति एवं उदारता उच्चवर्ग में स्वत: ही आ जाती है और अंत में सफल होती है। तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद की तहसीलदारी के पद पर पुनर्प्रतिष्ठा तथा हरगौरीसिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति तटस्थता प्रदर्शित कर, गौण रूप से उपन्यासकार ने सामन्तवादी विचारधारा, जातीय उच्चता के सिद्धान्त तथा मानवतावाद की ही विजय दिखाई है। कालीचरण के पतन,

[illegible]

कि जिस समाज मे राजनीतिक आग्रह प्रबल हो जाता है उसमे त्याग, बलिदान एव सज्जनता के मार्ग से सफलता मिलना असभव न हो तो कठिन अवश्य हो जाता है। डा० प्रशान्त के माध्य से ग्रामो की सामाजिक कायापलट के लिए शिक्षित वर्ग के सहयोग की आवश्यकता की ओर सकेत किया गया है। ममता भले ही उपन्यास मे हाथ की छठी अगुली[1] के समान हो परन्तु वह डाक्टर को आसुओ से भीगी धरती पर प्रेम की खेती करने की प्रेरणा अवश्य देती है। उपन्यासकार ने राजनीतिक मतवाद से दूर ग्रामो के पुर्ननिर्माण के मानवतावादी मार्ग के महत्त्व को स्वीकार किया है। डाक्टर ने कमला को विश्वास दिलाया था "जो होगा मगल होगा",[2] यह उसका भी विश्वास था। उसे स्वीकार करना पड़ा था कि 'आदमी के दिल होता है, शरीर को चीड-फाडकर जिसे हम नही पा सकते। वह 'हार्ट' नही वह अगम-अगोचर जैसी चीज़ है, जिसमे दर्द होता है, लेकिन जिसकी दवा ऐड्रिलिन नही। उस दर्द को मिटा दो, आदमी जानवर हो जाएगा…दिल वह मदिर है जिसमे आदमी के अदर का देवता निवास करता है।'[3] वह तो किसी अभागिनी मा की कहानी सुनते ही मन ही मन उसकी भक्ति करने लगता है, "पतिता निर्वासिता और सबसे नीच मा की गोद मे क्षण भर को अपना सिर रखने को व्याकुल हो जाता है।'[4] इसी मानवतावाद का स्वर साम्प्रदायिकता के साथ भी सयुक्त है। उसमे भी कालीचरण ही उपन्यासकार के विचारो को अभिव्यक्ति देता है। धर्म मे पाखण्ड एव राजनीति का विरोध करके वह सेवादास का महत बनवाता है क्योंकि धर्म-स्थान किसी की बपौती नहीं, दूसरी ओर वह फुलिया का चुमौना सहदेव से करवाने की घोषणा भी कर देता है। इस प्रकार उपन्यासकार की धार्मिक सहिष्णुता की विचारधारा को वह प्रतिपादित करता है। जोनखीजी के पाखण्डवाद, प्रतिक्रियावाद, दुराचार, अध विश्वास एव मानव-हत्या की उन्हे यह सजा मिलती है कि उन्हे लकवा मार जाता है। भगवान के इस इसाफ को देखकर रामनारायण भी डर गया था।[5] उपन्यासकार दैवीय न्याय मे विश्वास करता है। अत मे केवल डाक्टर तथा कमला की जोडी सुखी होती दिखाई देती है जो भौतिकता, राजनीति और प्रतिक्रियावाद पर मानवतावाद और प्रेम की विजय का ही प्रतिपादन करती है। वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रगति के कल्याणकारी होने का भी उपन्यासकार को विश्वास नहीं… एटम ब्रेक कर रहा है, चारो ओर महा अधकार… हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही

---

१. श्री नेमीचन्द्र जैन, 'विदेश के रग', पृष्ठ २१६।
२. 'मैला आचल', पृष्ठ २३५।
३. वही, पृष्ठ १७६-१८०।
४ वही, पृष्ठ १८१।
५. वही, पृष्ठ ३२६।

है। मानवता को शरण कहा मिले ? परन्तु मिट्टी और मनुष्य की मोहब्बत किसी लेबोरेटरी मे नही बनती, वह बन सकती है गाव के सरल वातावरण मे ही, अत गाव की ओर लौटो जैसे डाक्टर लौटता है और प्यार की खेती करो। इसी मे मानवता का विकास एव उनकी सुरक्षा निहित है। इस प्रकार यह उपन्यास वर्त्तमान जीवन की विभिन्न समस्याओ के प्रति उपन्यासकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता हुआ उसकी विचारधारा से पाठक को अवगत कराता है।

मानवतावाद एव प्रगतिवाद का यही स्वर 'परती परिकथा' मे भी स्पष्टत देखने को मिलता है। यहा जितेन्द्र इसका विधाता बनकर आया है। उसी के माध्यम से चेतना एव प्रगति की अवतारणा करके उपन्यासकार ने अपने जातीय उच्चता मे विश्वास को दृढ किया है। लत्तो चमार है, सभी प्रकार से प्रयत्न करने के बाद भी वह ऊचा नहीं उठ पाता। अत मे भी उसके प्रति जो धारणा बनती है वह यही है कि "सौ लुच्चों का सरदार है, परानपुर का लुत्तो लुच्चा मारलक बैग, पाच पर्सेन्ट एक हो टैंग।"[1] परन्तु जितेन्द्र भी एक हारा हुआ पुरुष है। राजनीति मे वह हारकर आया है। यह भी उपन्यासकार की इसी विचारधारा की पुष्टि करता है कि वह राजनीति को भले आदमियो की चीज नहीं मानता। वह तो लुत्ता रोशन बिस्वा और कुबेरसिंह जैसे आदमियो की ही वस्तु है। फिर भी ग्राम-समाज पर तो वह विजय पाता ही है। जब वह परती तोडने चलता है[2] तब लुत्तो के साथ सारा गाव उसका विरोध करने आ धमकता है परन्तु उसके प्रखर व्यक्तित्व के सामने सब निष्प्रभ हो जाते है। लेखक के सामन्तवादी आदर्श का प्रतिनिधि है जितेन्द्र। उसमे जो कपट क्रूरता और दृढता दिखाई गई है स्तुत्य ही लगती है। जितेन्द्र के माध्यम से उसी सामन्तवाद के साथ प्रगतिवाद का भी समन्वय कर दिया गया है और मानवतावाद का स्वर मुखर हो उठा है। इसीलिए जहा सामन्तवाद के विरोध मे चमार लुत्तो सफल नही हो पाता वही चमारिन मलारी उसका विरोध न करने पर भी सफल हो जाती है। इस प्रकार कूटनीति के विरोध मे सरलता तथा प्रतिहिंसा के विरोध मे प्रेम की सफलता दिखाकर उपन्यासकार ने प्रेम एव बलिदान को महत्त्व देने वाली अपनी उसी विचारधारा की पुष्टि किया है जो मैला आचल मे प्रथम बार स्पष्ट हुई थी। इसीलिए राजनीतिक पार्टीबन्दी के सभी पात्र लुत्तो, महाजन रोशन बिस्वा तथा कामरेड मकबूल आदि को अत मे जितेन्द्र के सम्मुख परास्त प्रदर्शित किया गया है। मानवतावादी विचारधारा के आग्रह ने नट्टिनी ताजमनी को रीतिकालीन नायिका के रूप मे चित्रित कर उच्च वर्ग का अधिकारी बना दिया है। आर्थिक सघर्ष मनुष्य के हृदय को मूल मधुचक्र सा बना देता है। जाति-

---

१　परती परिकथा' पृष्ठ ४८६।
२　वही, पृष्ठ ६७-६८।

वाद की दीमकें उसी पर पनती रहती हैं और जब सामाजिक आंधी आती है तो वही छतनी जैसा आदमी का दिल पीपल के सूखे पत्ते की तरह उड़ने लगता है।[1]

गांवों में मुख्य समस्या भूमि की है, उसीसे गाय गांव वालों का अधिक एवं भावनात्मक संबंध भी रहता है। इसी के इर्द-गिर्द सारी नैतिक एवं सामाजिक समस्याएं निर्मित और विघटित होती रहती है,[2] और लेखक ने इनका लोकमंच के सहारे सांस्कृतिक समाधान प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार के दृष्टिकोण में प्रगतिवाद का आग्रह है और अभिजात्य वर्ग को महत्त्व प्रदान करने के उपरान्त भी उसके दृष्टिकोण में दोष नहीं आ पाया है क्योंकि अभिजात्य वर्ग का पात्र अभिजात्य वर्ग का होने के कारण आदर्श नहीं बना है, अपने गुणों और विचार-धारा के कारण बना है। इसी आधार पर निम्नवर्ग के पात्र भी उसके समकक्ष आ बैठते हैं और इसीलिए उपन्यासकार का दृष्टिकोण अग्राह्य नहीं बन पाता।

'जुलूस' में आर्थिक दृष्टि से ही आंचलिकता है परन्तु उसमें भी इसी आदर्शवाद और मानवतावाद का स्वर है। उसकी नायिका भी अभिजात्य वर्ग की है—बंगाली चटर्जी परिवार की वह पढ़ी-लिखी कन्या है। उसमें भी डाक्टर प्रशान्त वाला आदर्श है। उसने भी सदा दुःख ही उठाया है। मां तक उसे अपनी 'सौत'[3] कहकर कोसती रही थी। उसे जो तोड़कर परिश्रम करना पड़ता था और ऊपर से मिलते थे तमाचे और मिलती थी गालियां, परन्तु उसकी आंखों में कभी आंसू नहीं आ सके। वह नागिन है, उसे प्यार करने वाला अधिक नहीं जी पाता[4] और अब तो शरणार्थी है, प्यार का उसे अधिकार नहीं। परन्तु वह निराश नहीं होती। अपनी चारित्रिक दृढ़ता से वह समाज के ऊपर शासन करती है और त्याग, सेवा एवं प्रेम का आदर्श प्रस्तुत करती है। ईश्वरीय न्याय में इस उपन्यास में भी 'रेणु' ने विश्वास प्रकट किया है। पवित्रा के प्रति किये गये दुर्व्यवहार की सजा देने को ही शायद भीषण आंधी और तूफान आया। "आश्चर्य इस देवी के प्रकोप की चपेट में सिर्फ इस गांव के लोग पड़े हैं। सारे जिले में कहीं न एक बूंद पानी पड़ा और न हवा चली ..।"[5] उपन्यासकार ने यहां भी पुनरुद्धार का 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' वाला, त्याग, प्रेम एवं लोकमंच वाला मानवतावादी प्रगतिवादी सूत्र प्रस्तुत किया है। डाक्टर प्रशान्त ने नव जीवन पाया था वैसे ही पवित्रा भी जी गई है वह अनुभव करने लगी कि वह अकेली नहीं, कहीं

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ३६।
२ श्री गोपीकृष्ण प्रसाद, 'रेणु और परती परिकथा', आलोचना अक्टूबर १९५७, पृष्ठ ७४-७५।
३ 'जुलूस', पृष्ठ ८०।
४ वही, पृष्ठ १८३।
५ वही, पृष्ठ १८०।

निर्जन में नहीं—एक विशाल परिवार की बेटी है, इन आत्मीय स्वजनों के बीच पारस्परिक सहानुभूति और सहयोग को फिर पनपायेगी, खोई हुई चीज़ों का उद्धार करेगी, "मैं अपनी सत्ता को इस समाज में विलीन कर रही हूं। लोक-संस्कृतिमूलक समाज के गठन के लिए—आमि अभा के उत्सर्ग कालीम। आमि आज जीवन प्रथम बार धन्य हइलाम।"[1] 'दीर्घतपा' की स्थिति कुछ भिन्न है, परन्तु वहाँ भी नायिका बेला गुप्ता त्याग, सेवा एवं तपस्या का आदर्श उपस्थित करती है।

'जंगल के फूल' में उपन्यासकार का दर्शन कुछ भिन्न रूप में आया है। कथा तो अधिकारों की रक्षा के लिए रक्त की अंतिम बूंद तक बहा देने का आदर्श उपस्थित करती है जो अपने आप में कोई दर्शन नहीं। उपन्यासकार का दृष्टिकोण तो प्रमुख घटनाओं पर उपन्यासकार की टिप्पणियों में निहित है। उदाहरणार्थ महुआ और सुलक के संबंध को लेकर लेखक कहता है—

> "भाग्य छाया की तरह होता है। जब कोई उसे पकड़ना चाहता है, तो वह दूर भागता है। जब आदमी उदासीन हो जाता है, वह पीछा करने लगता है।[2]

हिरमे और मुंदरी के प्रेम का झगड़ा जब बिभली और गढ़ बंगाल का झगड़ा बन गया तो आपस में दोनों ही दल मैदान में उतर आए, टंगिया और फरसे भी चले,

"आखिर इस कलह का अंत बुरा हुआ। हर झगड़े का अंत बुरा होता है।'[3] हिरमे की दूसरी शादी के प्रश्न को लेकर औरत और मरद के संबंध पर भी लेखक का मत है—

"मरद का शीशम का पेड़ है और औरत उसकी अमर बेल।"[4]

सुलक और महुआ तो विवाह के बंधन में बंधकर नहीं रहना चाहते। इस पर लेखक का मत है—

> "बंधन, चाहे जैसा हो आखिर आदमी को बांध लेता है। तब आदमी दास बन जाता है, बिक जाता है। परवशता बुरी चीज है' चाहे वह आदमी को ब्याह करने से मिले या अपने देश पर पराये शासक के अधिकार कर लेने से।[5]

सुलकसाए से सुखी दूसरा नौजवान गढ़ बंगाल में नहीं—

"दुनिया में वही आगे बढ़ता है जो अपने जीवन का मोह छोड़ दे।'[6] महुआ

---

१ 'जुनूस', पृष्ठ १८७।
२ जंगल के फूल', पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ३४।
४ वही, पृठ ३५।
५. वही, पृष्ठ ३७।
६ वही।

के मान करने पर उपन्यासकार ने नारी की मनोवृत्ति पर लिखा है—

"औरत, जो पुरुष पर शासन करना चाहती है, उस पर अपना अधिकार समझती है और यू भी कहा जाय जो पुरुष को अपना चाकर समझती है—चाहती है, वह बिगडे तो पुरुष उसे मनाये, उसकी खुशामद करें, उसके गले मे हाथ फेरे, उसकी पीठ सहलाए उसके नाक-नक्शे के सौन्दर्य को निहारे···औरत काव्यमयी भाषा सुनने की आदी होती है। वह जब पुरुष के कठ से अपनी प्रशसा मे गीत निकलने सुनती है, तो फूली नही समाती। प्रेम के किस्से उसे बेहद पसन्द होते हैं ··किस्से की हर लकीर उसे ताजगी देती है। शायद इसीलिए पुरुष किस्से कम सुनाता है, किस्से बनाता अधिक है।"[1] और

"आदमी की गलती यह है कि वह औरत की आखो की गहराई मे उतरना छोडकर उसके मन मे गोते लगाने को कूद पडता है।"[2]

उपन्यासकार ने कुछ पात्रो के मुख से भी अपने विचार कहलाए हैं। ऐसे पात्रो मे प्रमुख हैं महुआ और सुलकसाए। महुआ नारी-जागरण का उपन्यासकार का आदर्श है। नारी पुरुष को ललकार कर सचेत कर सकती है।[3] वह सघर्ष के लिए औरतो की सेना बनाती है। झालर के यह कहने पर कि औरत के मन नही होता, वह बिगड पडती है—

> "तो यह कहो कि तुम मर्दो ने उसके मन को दीमक की तरह खा डाला है। लिंगो की दुनिया मे औरत-मरद का भेद नही···भेदभाव की ये दीवारें तुम्हारी बनाई हुई हैं।"[4]

सुलकसाए उपन्यासकार के आदर्श पुरुष पात्र का रूप उपस्थित करता है। वह 'अनबिहाए' रह कर भी घोटुल की ज़िंदगी भर सेवा करना चाहता है और एक मिसाल रखना चाहता है।[5]

बूढो को जवानो को, जिनकी रगो मे अधिक खून दौडता है आगे आने देना चाहिए। इसके लिए सिकमी के माध्यम से लेखक ने यह प्रस्ताव भी रखाया है—"पचास साल की उम्र के बाद गायता को अपना काम दूसरे को सौंप देना चाहिए।"[6] अत मे, उपन्यासकार ने, सुलकसाए के माध्य से ही आशावाद का महान् सदेश दिलाया है।

'रथ के पहिये' तो एक सोद्देश्य रचना ही है अत इसमे उपन्यासकार का

---

१. 'जगन के फूल', पृष्ठ ६७-६८।
२ वही, पृष्ठ १४०।
३ वही, पृष्ठ २६।
४ वही, पृष्ठ १७४।
५. वही, पृष्ठ २२५।
६. वही, पृष्ठ ३६।

आदर्श ऊपर से ही झलक जाता है। स्वय देवेन्द्र सत्यार्थी ने इसे अपना एक साहित्यिक प्रयोग कहा है यद्यपि श्री शिवदानसिंह चौहान इसे किसी भी दृष्टि से नया प्रयोग नही मानते—

"रवि, शरत् और प्रेमचन्द से आती हुई उदार सामाजिक चेतना के देश-प्रेमी लेखकों की यह परम्परा रही है कि उन्होने जैसे बार-बार विधवा-विवाह, वेश्या वृत्ति, धार्मिक अध-विश्वास आदि सामाजिक कुरीतियो को ध्यान मे रख-कर अपनी रचनाओ से उनके विरुद्ध लोकमन को उद्बुद्ध करने की कोशिश की है वैसे ही अशिक्षा को हमारे देश के पिछड़ेपन, गरीबी, भेद-भाव और राष्ट्रीय पतन का कारण बनाकर शिक्षा-प्रसार के निमित किये गये सार्वजनिक उद्योगो को कथा का रूप देकर सराहा और प्रोत्साहित किया है।'[1]

"मानव-सभ्यता का रथ निरतर बढता चला आया है। उसका आदिम रूप मोहन जोदडो मे है और अन्तिम रूप क्या है? सत्यार्थी जी के 'रथ के पहिये' आदिवासियो की प्रगति की दिशा मे चल रहे हैं—वर्तमान काल मे धरती पर दो सभ्यताए पनप रही हैं—एक तो भौतिक प्रगति की विकृत सभ्यता और दूसरी आदिवासियो की प्रकृत सभ्यता। यदि प्रगति के रथ को निरन्तर बढते रहना है तो उसमे यह दोनो पहिये के रूप मे अवश्य ही जोडी जायेंगी। उनमे से एक की भी उपेक्षा करके मानव-सभ्यता जी नही सकती। यह है 'रथ के पहिये' के "री—री—ना' ध्वनि मे व्यक्त होने वाला सदेश।"[2]

इसी कारण आनद आगे बढ़ने का कायल बन जाता है पुरानी वस्तुओ की खोज उसे पीछे लौटना दिखाई देती है। वह जीवन का अन्वेषक है।[3] कुलदीप नागापाल ने उसे बताया है कि खण्डहरो से अधिक प्यारी वस्तु ज़िदगी है। पुरानी वस्तुए कितनी भी सुन्दर क्यो न हो, आदमी की ज़िन्दगी से सुन्दर नही होती। आनन्द भी अनुभव करने लगता है 'ज़िन्दा इन्सानियत एक उदास कब्रिस्तान से कही बढकर होगी।'[4] उपन्यास मे करजिया के गोडो को सभ्य बनाने की कथा है। आनद, सोम एव उनके सहयोगियो के प्रयत्न से करजिया भी नये जीवन की कर-वटें लेने लगता है—परिणाम यह होता है कि जहा आनद बैलगाडी मे बैठकर आया था वहा से कार मे बैठकर जाता है। लगता है कि उपन्यासकार एक कला-कार है कोरा साहित्यकार नही और उसे लगता है कि कला के माध्यम से ही प्रगति का रथ आगे बढ सकता है—ठीक वैसे ही जैसे कर्मण्यता से। इन दोनो

१. श्री शिवदानसिंह चौहान, 'साहित्यानुशीलन', 'रथ के पहिये', पृष्ठ २६४।
२. डा० सुधीन्द्र, 'रथ के पहिये 'उपन्यास की एक नई दिशा', साहित्य सदेश', (मार्च १९५५), पृष्ठ २३५।
३. 'रथ के पहिये, पृष्ठ ६४।
४. वही, पृष्ठ ४३।

मार्गों को उपन्यासकार के दो पात्र, आनंद एवं सोम, स्पष्ट करते हैं। आनन्द के पग सतत गतिशील है, वही सोम पैर के चक्कर और जगह-जगह भटकने की मनोवृत्ति की उपेक्षा करता हुआ कहता है—

"मैं कोई सिकन्दर महान् तो हू नही कि दुनिया भर को हाथ लगाकर यह सतोष पाने के पीछे मरता रहूँ कि मैंने विश्व पर विजय प्राप्त कर ली है।"— मानव जहा भी रहता है वही उसका विश्व विराजमान है। क्यो न वह अपने चतुर्दिक ध्यान से देखें'' जो सुगंध विश्व म भटक रही है वह किसी एक फूल को सूघने से भी प्राप्त हो सकती है।

'परन्तु गति दोनों के ही चरणो म है। आनन्द के चरणो मे एक यात्री की गतिशीलता है तो सोम के चरणो म एक नृत्यकार की। दोनो का प्रत्येक चरण नवीन एव सौन्दर्यशाली है, दोनों ही रूपो मे प्रगति का रथ गतिशील है' जब तक मानव अपने गतिशील और विकासशील सत्य को नही पा लेगा तब तक उसकी विजय-यात्रा और सत्य-यात्रा पूरी न होगी तब तक ये रथ के पहिये चलते ही रहेगे।"[1] यही उपन्यासकार का जीवन दर्शन भी है जिसे चुन्नू मिया के अत मे इस प्रकार समाहित कर दिया है—

"रथ नही रुक सकता—कोई रथ से उतर जाये चाहे कोई रथ पर सवार हो जाये, रथ नही रुक सकता। पहिये चलते रह, पहिये रुकन न पाय। चलो पहियों! कभी हौले हौले, कभी तेज-तेज। चलो पहियों।'[2]

गोडो के जीवन पर आधारित तीसरा उपन्यास है 'सूरज किरन की छाह'। यह आत्मकथात्मक उपन्यास है अत इसमे जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति ध्वनित होती है, वह उपन्यासकार द्वारा कथित नही है। इस उपन्यास मे ईसाई मिशनरियो द्वारा भोले आदिवासियो का फुसलाकर धर्म-परिवर्तन करा देने की समस्या उठाई गई है परन्तु उपन्यासकार पूर्वाग्रह से पूर्णत मुक्त है और ईसाई प्रचार के भले एव बुरे दोनो पक्षो को तटस्थता से देख सका है। एक ओर डा० जेकब है जो मजबूरी मे ईसाई बना है और ईसाईयो के लोभ और मोह द्वारा फुसला कर धर्म-परिवर्तन कराने के पक्ष मे नही, दूसरी ओर बजारी है जो अपने धर्म मे पूर्ण आस्था रखती हुई भी ईसाई धर्म के सुन्दर आदर्श को स्वीकार कर लेती है। परन्तु यह समस्या का समाधान नही है। समस्या का समाधान है आदिवासियों मे जागृति का प्रचार कर, उनकी सेवा कर, उन्ह फुसलाहट से धर्म-परिवर्तन करने से रोकना जिससे उनके जीवन की शान्ति नष्ट न हो। बजारी ने उपन्यास के अत मे अपने शेष जीवन के उद्देश्य से इसे स्पष्ट कर दिया है—

---

१ डा० सुधीन्द्र, 'रथ के पहिये उपन्यास की एक नई दिशा', साहित्य संदेश' (मार्च १९५५), पृष्ठ ३५३।

२. 'रथ के पहिये', पृष्ठ ४००।

"जब मैं बगला से गाव अपने गाँव को वापिस चली जाऊगी। गाव और गाव वालो की सेवा कर अपने पाप का मोचन करूगी और देखूगी की वहा की किसी बजारी को निर्वासित हाकर फिर मिसेज बैजो जोसेफ न बनना पडे। [1] उपन्यास का सदश है—गांवो की आर लौटा और ग्रामवासियो के जीवन को सवारो।

'सागर लहरें और मनुष्य' म उपन्यासकार की दृष्टि वर्तमान सभ्यता के दुष्परिणामा की ओर विशेष रूप से रही है। बरसावा बबई की एक निकट-वर्ती मछलीमार बस्ती है अत नगरीय जीवन का विषैला प्रभाव वहा भी पहुचने लगता है। और कालेज म पढने वाली मछलीमारा की लडकी रत्ना के माध्यम से प्रकट हो जाता है। उसके जीवन के चढाव उतार की कथा के माध्यम स उपन्यासकार ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि वर्तमान नगरीय जीवन की तडक-भडक मोन के उस घट की चमक है जिसके भीतर विष भरा हुआ है। उसमे न केवल मत्स्यगधा बनने की लालसा है वरन् वैभव-विलास का जीवन व्यतीत करने की चरम अभिलाषा भी। अंग्रेजी उपन्यासो ने उसकी सुषुप्त वासना को उभाड दिया है। उसके माध्यम से उपन्यासकार यह स्पष्ट करना चाहता है कि कैसे वर्तमान सभ्यता का प्रेत भोले भाले सरल प्राणियो के जीवन म विष घोल देता है। परन्तु उद्धार के मार्ग की ओर भी वह सकेत कर देता है—सेवा मार्ग। रत्ना सेवा मार्ग चुनकर एक प्रसिद्ध चिकित्सक की पत्नी बनने मे सफल हो गई और उसका प्रेमी यशवन्त भी उसी मार्ग का अनुसरण करके अपने ही ग्राम का नेता बन गया। नगरीय-सभ्यता की विषैली प्रवृत्ति के साथ उपन्यासकार अपने इस दृढ मत की भी पुष्टि करता है कि वासना यदि पतन की ओर ले जाती है तो प्रेम उत्थान की ओर—रत्ना और यशवत दोनो के उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। यही है उपन्यासकार का जीवन दर्शन।

मछुआ के जीवन से ही सबधित 'वरुण के बेटे' भिन्न आग्रह से ग्रस्त है। नागार्जुन साम्यवादी विचारधारा से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं अत उनका यह उपन्यास भी उसी के दर्शन को उद्घाटित करता है। पूजीवादी मनोवृत्ति शोषण की ओर उन्मुख रहती है। यह शोषण चाहे बडा पूजीपति करे चाहे छोटा—खुरखुन की हैसियत के दरिद्र मछुआ का शोषण यदि सतघरा का जमीदार करता है तो खुरखुन के ही वर्ग का सम्पन्न मछुआ भोला भी उसे छोड नही देता। सारा परिश्रम खुरखुन करता है परन्तु उसे आय का दशाश ही मिलता है। और जब सतघरा के जमीदार का वश चलता है तो गढ पोखर का ही वह अवैधानिक बदोबस्त नही करता, जमीदारी उन्मूलन के परिणाम का अनुमान कर, व्यक्तिगत

१ 'सूरज किरन की छाह', पृष्ठ १६८।

जोन की जमीन, बाग-बगीचे, कुआ, चमच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम चढ़ी हुई जायदाद, परती-परात, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि, चरागाहों आदि का भी बंदोबस्त कराने लगता है। "आग लगने झोपड़ी, जो निकले सो लाभ।"[१]

उपन्यासकार मानता है कि राज्य शक्ति भी शोषण में सहायक होती है इसलिये उसके बनाये हुए कानून भी भू-स्वामियों के लिए भी लाभदायक होते हैं। यही समस्या श्री नागार्जुन के अन्य उपन्यासों में भी उठाई गई है। 'बाबा बटेसरनाथ' में बाबा बटेसरनाथ जैकिसुन को वस्तु स्थिति बताकर प्रश्न करते हैं—

"जाते जाते भी ये राजा, जमींदार, भू-स्वामी, सामन्त चाँदी काट रहे हैं। घोड़े की कीमत पर वे हाथी हटा रहे हैं, बछड़े की कीमत पर घोड़ा ··तांबा, पीतल और कांसा के दस-दस बीस बीस मन वजन वाले बर्तन रातों-रात ठठेरों के यहां पहुंचाए जा रहे हैं।

और तेरी यह आज़ाद सरकार इन सामन्ती श्रीमन्तों को ज्यादा से ज्यादा हरजाना देने की तिकड़में भिड़ा रही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के वाजिब हकों का दायरा बेहद बढ़ाकर जमींदारी प्रथा का यह जो नकली श्राद्ध कांग्रेसी लोग कर रहे हैं, क्या नतीजा निकलेगा इसका ?"[२]

राजसत्ता भ्रष्ट होती है इस बात को भी उपन्यास में स्पष्ट कर दिया गया है—

'नौकरशाही भ्रष्टाचारों और कानूनी असंगतियों के चलते जन-जीवन के साथ बेतुका खिलवाड़ अब भी चल रहा है। मछुआ मंडल की तरफ से कई मेमोरेंडम पटना और दिल्ली के महाप्रभुओं की सेवा में भेजे जा चुके हैं, लिखित और मौखिक दोनों प्रकार से जिला अधिकारियों तक यह बात बार बार पहुंचाई जा चुकी थी।"[३] परन्तु लालफीताशाही के कारण नेता लोग कुछ नहीं कर सकते हालांकि वोटों की खोज में "पिछले पांच-सात वर्षों में मिनिस्टरों-आफिसरों-नेताओं ठेकेदारों की टर दस गुनी बढ़ गई है।'[४] सरकार की योजनाओं में पैसे की बरबादी भी राजसत्ता के दुरुपयोग का ही उदाहरण है—

"लाखों के ठेके मिले हैं ठेकेदारों को···पानी···तरह रकम बहाई जा रही है।"[५]

---

१ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ३१।
२ 'बाबा बटेसरनाथ', पृष्ठ ३३।
३. 'वरुण के बेटे', पृष्ठ १२७।
४. वही, पृष्ठ ३५।
५. वही, पृष्ठ ४४।

भ्रष्टाचार भी इसी राज्यसत्ता का परिणाम है—तकावी बाटने मे भ्रष्टाचार है (चुनाव के प्रचार के रूप मे) तथा अस्पतालो मे ही भ्रष्टाचार है।[1] साम्यवादी विश्वास करते है कि शोषण और श्रम का सघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक शोषण और उसके सभी साधन समाप्त नही हो जाते। यह सघर्ष अभी समाप्त नही हुआ है, उपन्यास भी इसे अधूरा छोडकर समाप्त हो जाता है क्योकि साम्यवादी विचारधारा के अनुसार यह बहुत लम्बा चलने वाला सघर्ष है।

उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण पात्र मधुरी इस शोषण का दूसरा पहलू—सामाजिक पहलू—भी स्पष्ट कर देती है। कुसुम ककड ने उसे सलाह दी थी "लात मार साले को। जब तेरा अपना घर वाला ही बौडम निकला तो ससुर की क्या बात करनी है?"[2] ससुराल के अत्याचारो से भाग कर आई मधुरी अब निश्चय कर लेती है—

"वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे (ससुर) की लात बात बर्दाश्त करने नही जायेगी फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर नेक-चलन और मेहनतकश जवान से "और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिंदगी नही गुजार सकती क्या?"[3]

इस प्रकार यह उपन्यास नागार्जुन की साम्यवादी विचारधारा का ही प्रतिपादन करता है। लगभग ऐसी ही विचारधारा नई पौध मे भी है जहा बिसेसरी स्वय भी अनमेल विवाह के विरोध मे सहयोग देती है और अपने नाना की इच्छा के विरुद्ध विवाह कर लेती है।

'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' मे भी नागार्जुन के समाजवादी यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। मिथिला के ग्राम्य जीवन पर भूपतियो के अत्याचारो और शोषण की कथा इन दोनो मे ही कही गई है। दोनो मे शोषण के विरुद्ध सघर्ष प्रारभ हो गया है। 'बलचनमा मे अभी नई सुबह' दूर दिखाई देती है क्योकि बलचनमा जख्मी है और बन्दी है तथा जमीदार का अत्याचारचक्र गतिशील है[4] परन्तु 'बाबा बटेसरनाथ' मे अनाधिकृत बन्दोबस्त के विरुद्ध सघर्ष मे पहिली विजय मिल गई है। दोनो ही उपन्यास उसी वर्ग सघर्ष का आह्वान करते है जिसका एक रूप वरुण के बेटे मे भी दिखाया गया है। आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक शोषण के विरुद्ध नागार्जुन की विचारधारा का तीव्र स्वर तीनो ही उपन्यासो का आधार है।

नागार्जुन के अन्य दो उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' और 'उग्रतारा' यद्यपि

---

१ वरुण के बेटे', पृष्ठ ८३।
२. वही, पृष्ठ ६६।
३ वही, पृष्ठ १२१ १२२।
४ बलचनमा, पृष्ठ १२१।

चरित्र प्रधान है तथापि उन पर भी उपन्यासकार में समाजवादी दर्शन की छाप दिखाई देती है। 'रतिनाथ की चाची' में तारानन्द समाजवादी-दृष्टि का प्रतीक है ही, चाची गौरी स्वयं भी मृत्यु की छाया से घिर कर भी महायुद्ध में रूस की विजय की कामना करती है। परम्पराओं एवं अंध-विश्वासों के बंधनों में जकड़ी यह दुर्बल नारी भी यदि यह अनुभव करने लगती है तो वह उसी विचारधारा की पहली सीढ़ी है जो कहती है 'लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का।' 'उग्रतारा' में भी नरसिंह सिपाही उदार शोषक है इसीलिए सिपाहीजी ने 'उगनी' को 'परकाला' तो जरूर दिया था, 'पति नहीं मिल रहा था।'[1] यद्यपि यह आंचलिक उपन्यास नहीं है तथापि रतिनाथ की चाची के पुरुष द्वारा स्त्री के शोषण की विचारधारा का स्वरूप इसमें भी विद्यमान है जो नागार्जुन की समाजवादी विचारधारा को ही स्पष्ट करता है।

नागार्जुन के उपन्यासों पर समग्र रूप से विचार करने पर उनके जीवन-दर्शन के संबंध में निश्चित धारणाएं बनाई जा सकती है। मानवतावाद का स्वर उनके उपन्यासों में पूर्ण मुखर है इसी कारण उन्होंने सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामन्ती शोषण के शिकार पात्रों का चित्रण किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने जनवादी विचारों के कारण इस चित्रण में विशेषता भी ला दी है। उन्होंने जन-साधारण को वाणी देकर के न केवल प्रेमचन्द की परम्परा पुनर्स्थापित की वरन् उसे आगे भी बढ़ाया। नागार्जुन ने दिखाया कि प्रेमचन्द का होरी, आज न केवल सामाजिक विकृतियों और विभाचा का शिकार होकर मर जाता है बल्कि उनसे मुक्ति पाने के लिए संघर्ष भी करता है। वह जाग रहा है और उसमें दृढ़ता आ गई है। बलचनमा, बिसेसरी और गाँव के नौजवान टूट सकते हैं पर झुक नहीं सकते। इस प्रकार श्री नागार्जुन ने भारतीय किसानों और जन-साधारण में छिपी शक्ति का यदि दर्शन कराया है तो इस कारण कि नागार्जुन की अपनी विशिष्ट विचारधारा थी। प्रेमचन्द में आदर्श-यथार्थ का द्वन्द्व था जो उनके मजदूर किसानों को आगे नहीं बढ़ने दे रहा था। नागार्जुन में वह द्वन्द्व नहीं है। इसीलिए नागार्जुन में ही पहिली बार भारतीय जनता को जगाने के लिए मजदूर एवं किसान आगे बढ़े हैं। साम्यवादी विचारों से अनुप्राणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है, यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

'लोक परताप' एक तीर्थ स्थल का इतना गहन अध्ययन प्रस्तुत करता है कि उपन्यासकार के दृष्टि-कोण का कोई निश्चित आभास नहीं मिलता। घटनाओं एवं चरित्रों पर उपन्यासकार की टिप्पणियाँ भी नहीं है। इस तीर्थग्राम में वर्णि

---

१ 'उग्रतारा, पृष्ठ ४६।

वादी कटुता इतनी तीव्र है कि गाव का उद्धार सभव नही दिखाई देता। सभी लोग अपने स्वार्थों मे अधे हैं। उपन्यास की अतिम पक्तियों से लेखक का यह मत ध्वनित होता है कि त्याग एव तपस्या सफल अवश्य होते है। चमेली की सेवा एव त्याग का ही यह परिणाम था कि उसके शव पर इतने आदमी गाव के इतिहास मे पहिली बार जुडे थे और "ऊपर किनारे पर श्रद्धा और भक्ति की गगा वह रही थी—मनुष्य की भक्ति की, मनुष्य के प्रति श्रद्धा की, एक मानवात्मा की विजय की। [१]

रागेयराघव का 'काका' भी धार्मिक स्थल से सबधित हैं। इसम लेखक का दृष्टिकोण कथा के प्रवाह एव पात्र के चरित्र द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ है। उपन्यास की कथा मे रामधुन बिन्दिया एव कान्ता नैतिकता के नवीन मानदण्ड उपस्थित करते है जबकि काका परमराम एव परमसुख जैसे आचलिक पात्र परम्परागत मान्यताओ के भले तथा बुरे रूप ही प्रकट कर पाते है। नवीन एव परम्परागत मान्यताओ के सघर्ष द्वारा ही उपन्यासकार के विचारो का पता चलता है। दुष्ट पात्र परमसुख ने गडा हुआ धन देखने की लालसा मे अपनी जान खोई, वन महाराज और पानी वाले महाराज पकडे गये और गुसाईं हरिदास का भी भडाफोड हो गया। यद्यपि काका भी पागल हो गए और बिन्दिया भी मार डाली गई तथापि उनकी मृत्यु एक सदेश छोड गई—प्रेम, महानुभूति तथा सदाचार अमर है। कान्ता एव रामधुन को बिन्दिया राह दिखा गई थी। काका परसराम के माध्यम से उपन्यासकार ने आदर्श पण्डे का चित्रण किया है। गिरधर भी जब भगवान का ध्यान करता था तो उसके मन मे काका का रूप आ जाता था "भगवान जरूर ऐसे ही करण हैं।' [२] उपन्यासकार के मतानुसार "पहले जिजमान की परदस मे रच्छा करने को पण्डा बने थे, लूटने को नही '[३] जो रच्छा नही कर पाये तो उसे ही दण्ड भुगतना चाहिए। रामधुन के माध्यम से उपन्यास कार स्पष्ट करता है कि

'तुम देवता हो काका पर भिखारी हो। नया जमाना आदमी चाहता है ' मैं अपनी आत्मा को घोट कर नही रह सकता हम किसी की महरबानी पर पलने वाले लोग नही हैं।"[४]

आधुनिक नवयुवक का आत्मसम्मान उसके माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। बिन्दिया उपन्यासकार की ही पाप पुण्य सबधी धारणा अभिव्यक्त करती है— रोटी की भूख बहुत बुरी होती है जो लुगाई को बाजार मे बैठा देती है, जहा

१ लोक परलोक', पृष्ठ २०६।
२ 'काका', पृष्ठ ३१।
३ वही, पृष्ठ १०८।
४ वही, पृष्ठ ७४।

दुनिया मे इतने पाप हैं वहां ऐसा छोटा पाप करना बुरा नही जिससे बड़ा पाप करने से व्यक्ति बच जाय।[१] पाप-पुण्य की झूठी मान्यताओं पर कान्ता के विचार भी उपन्यासकार की तत्संबंधी मान्यता ही उद्घाटित करते है—पुनर्विवाह कोई पाप नही—

"भले ही ये पाप हो पर यही अच्छा है। मेरे वेश्या बनने मे या चेली बनने से यह पवित्र है। स्त्री हूं तो स्त्री जैसा जीवन क्यों न बिताऊं? अगर धर्म इसे नहीं मानता तो धर्म गलत है। इन लोगों ने धर्म को भी अपने नफे नुकसान की चीज बना लिया है।'[२]

"पाप हममे नही है, ससार में है—जो आदमी को रहने नहीं देना चाहते वे ही हमारे दुश्मन हैं।'[३]

कान्ता और रामधुन को नवीन जीवन मे प्रविष्ट कराकर तथा पुराने जीवन के पात्रों को निष्क्रिय करके (परमसुख एवं बिन्दिया मर गये है और काका पागल हो गये है) उपन्यासकार ने बताया है कि नया ससार बन रहा है, पुराना टूट रहा है—जो टूट रहा है वह तो टूटने को ही है क्योंकि उसी की नींव पर नया ससार खड़ा होगा (कान्ता और रामधुन का जीवन बिन्दिया और परमराम ने ही सुधारा था) अत. उस टूटते जर्जर ससार की ओर बिना देखे आगे बढ जाओ—वैसे ही जैसे स्नेहमयी बिन्दिया और देवता स्वरूप काका को छोडकर रामधुन और कान्ता आगे बढ गये थे। नवीनता का प्राचीनता के साथ मेल बैठ भी नहीं सकता उपन्यासकार का यही जीवन-दर्शन उपन्यास के अतद्वारा उद्घाटित हुआ है।

रांगेयराघव का दूसरा उपन्यास 'कब तक पुकारूं' धर्म-अधर्म से दूर खानाबदोश करनटों मे सबधित है। उपन्यासकार ने अपनी भूमिका मे स्पष्ट कर दिया है कि "मैंने इनकी मान्यताओं एवं नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नही किया है। बल्कि पाठकों को इसम सेक्स की ऐसी जानकारी के रूप मे हासिल करना चाहिए कि यह इनमे होता है।"[४] उपन्यासकार ने पात्रों के माध्यम से एवं स्वकथनों से अपने विचारों को प्रकट किया है। जातीय उच्चता की भावना तथा अधिकार-रक्षा की कामना, पथ-भ्रष्ट होकर मनुष्य को कहां ले जा सकती हैं, इसका उदाहरण है सुखराम। लेखक सुखराम को बताता है कि "इन्सानियत की रूमड़ी सबसे बड़ी है'[५] परन्तु वह एक निश्चित साचे मे ढला हुआ है और इस कारण अपनी धारणा को त्याग नही सकता। वह मानव की समानता मे विश्वास

१ 'काका', पृष्ठ १५३।
२ वही, पृष्ठ १६४।
३ वही, पृष्ठ १७३।
४ 'कब तक पुकारूं', भूमिका।
५ 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ १०।

रखता है परन्तु अपने नट होने से असन्तुष्ट है ।[१] मनुष्य की कथनी और करनी मे विचार और अनुभूति कितना अतर डाल देते है, यह उपन्यास के चरित्रो द्वारा स्पष्ट किया गया है । ऐसे व्यक्ति जिस प्रकार असतोष एव अशाति जीवन व्यतीत करते है इसका भी उदाहरण सुखराम ही है। एक कहावत है—यदि अज्ञान सौभाग्य बन सके तो बुद्धिमता मूर्खता है सुखराम इसी मूर्खता का परिचय देता है जबकि अज्ञान के सौभाग्य का प्रमाण प्यारी और कजरी मे मिलता है । वे दोनो ही न तो इस गलत फहमी मे है कि वे उच्च जाति की है और न उच्च बनने की अभिलाषा ही रखती है । अपने जीवन के प्रवाह से वे सतुष्ट है इसीलिए सुखी भी प्यारी सरलता से पर-पुरुष ससर्ग स्वीकार कर लेती है और सुखराम के यह कहने हैं। पर कि ऐसी स्थिति म वह मर क्यो नही जाती, अत्यन्त सरल उत्तर देती है—

"इत्ती ज़रा सी बात के लिए मरना मुझे नही आता। औरत को तो औरत का ही काम करना पडता है । इसमे ऐसी बात ही क्या है ?'[२]

नटो के जीवन का जो सत्य है उसे प्यारी अत्यत सरलता से स्वीकार कर लेती है । जब उसकी मा कहती है—"जानती है सिपाही क्यो आया था ?" तब वह उत्तर देती है—' जानती हू दरोगा मुझे दिन म घूर रहा था । मरे की तबियत आ गई है । पर सुखराम नही मानेगा ।'

इस पर सौनो का सरल उत्तर है, ' नही मानेगा ? अरी यह तो औरत के काम है । उसे बताने की जरूरत क्या है ।[३] प्यारी की नैतिकता आदर्श है "नाता जोडना और बात है, मन की होकर रहना और बात है," मन पवित्र है तो कुछ भी बुरा नही । अहकार एव जातीय उच्चता की भावना मनुष्य को कहा तक ले जा सकती है इसका उदाहरण सुखराम है जो अत म चदा की हत्या इसलिए कर देता है कि ठकुरानी को बार-बार भटकना न पडे । उपन्यास की ध्वनि म उपन्यासकार का सदेश भी निहित है—उच्चता का झूठा दावा, असतोष, अशान्ति और दु ख का कारण होता है, सरलता और मानसिक पवित्रता पर कार्यों की अच्छाई-बुराई का प्रभाव नही पडता, आत्मिक शान्ति, सतोष एव सुख के लिए सरलता तथा मानसिक पवित्रता आवश्यक हैं । डा० विक्रमसिंह के माध्यम से उपन्यासकार ने आदर्शवादिता के पाखण्ड का भी भण्डा फोड किया है—न्याय और सत्य की दुहाई देने वाले भी न्याय और सत्य का गला घाट सकते है ।

भीलो के जीवन पर आधारित श्री श्याम परमार के उपन्यास 'मोरझाल म पिछडे लोक-जीवन तथा प्रगतिशील सभ्य जीवन की कथाए अलग-अलग चलती हैं। दोनो कथाओ के प्रेम तत्त्व की भिन्नता के आधार पर लेखक ने अपना दृष्टि-

१ कब तक पुकारू', पृष्ठ २०६ ।
२ वही, पृष्ठ ४२।
३ वही पृष्ठ ४१ ।

कोण स्पष्ट किया है। एक ओर तो बना थी जो अपनी कामनापूर्ति के लिये स्वतन्त्र थी इसीलिए अपनी मा की इच्छा के विरुद्ध अपने प्रेमी सुन्दरया के साथ भाग गई। दूसरी ओर थी सभ्य समाज की माधवी जिसे अपने पिता की इच्छा पर अपने प्रेम की बलि देनी पड़ी। एक जीवन में मोरभात का स्पर्श उपचार का साधन बनता है, दूसरे जीवन में एक मोरपंख की स्मृति मात्र अजीब सी सिहरन उत्पन्न कर देती है।[1] सभ्य माधवी को आंचलिक जीवन का आकर्षण पलायन लगता है—

"शहर के व्यस्त वातावरण में वन-फूलों की खुशबू, प्राकृतिक सुषमा और पहाड़ी झरना की कल्पना कर कविताएं लिख लेना या बहुत हुआ तो किसी दिन बाउटिंग पर जाकर लैण्ड-स्केप बनाना और बात थी पाउडर, स्नो और मोहक सेन्ट के सुवास से जी ऊब जाय तो भले ही कुछ समय के लिए करौंदों या महुआ की मादक खुशबू अथवा सेमल या अमलतास की रंगीली शोभा में ध्यान बटाया जा सकता है, किन्तु जीवन की सच्चाई को दृढ़ता के साथ ग्रहण करने के बजाय इस तरह कल्पना-लोक की सृष्टि करना पलायन ही तो है।'[2]

"यह सब किताबों में भला लगता है दूर से ही।"[3] दोनों कथाओं को अलग-अलग रखकर और दोनों को भिन्न प्रदर्शित कर उपन्यासकार ने यही स्पष्ट किया है कि लोक-जीवन और सभ्य जीवन की समस्याएं एवं आवश्यकताएं भिन्न ही हैं, उनका एकाकार होना कठिन है। इस दृष्टि से 'रथ के पहिये' का संदेश दूसरा ही है।

'ब्रह्मपुत्र' विनाश पर निर्माण का आदर्श उपस्थित करता है। ब्रह्मपुत्र कितना ही प्रलय ताण्डव क्यों न करे, प्रगतिशील मानव की गति को वह रोक नहीं सकता। एक दिमागमुख नष्ट हो जाय तो दूसरा दिमागमुख बस सकता है, बस लगन, साहस और एकता चाहिए। बड़ा धर्मानन्दी अन्त में उपन्यासकार के दर्शन को स्पष्ट कर देता है—

"जो दोपहर को रोष में लाल-पीला होता है, वह सांझ को शान्त भी होता है। रोष ही जीवन नहीं। कोमलता और विनम्रता चाहिए, सुन्दरता शान्ति और संगीत चाहिए'''जो मन के भीतर है, उसी की झलक है मन के बाहर। अपना कोई आदर्श हो, उसी के लिए मर मिटे ''अब तक ठोकरें खाने के बाद बुद्धि आती है। असल बुद्धिमत्ता तो वह है जो अनु आने से पहिले ही रास्ता पा ले।'[4]

पात्रों के माध्यम से भी उपन्यासकार ने अपने विचार स्पष्ट किये हैं—

---

१ 'मोरभात', पृष्ठ ११८।
२ वही, पृष्ठ ११५।
३ वही, पृष्ठ १६।
४ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ४२१।

"मनुष्य मरने के लिए पैदा होता है—पर वह जीने के लिए मरता है। जीवन से डरो मृत्यु से नहीं।"[१]

"आजादी ऊपर से उतरकर लोगों तक नहीं पहुचती, लोगों को ही ऊंचे उठकर आजादी तक पहुचना होता है।'[२]

उपन्यास ब्रह्मपुत्र के जीवन का पुराण है और उससे ध्वनित होने वाला सामान्य संदेश यही है—

"ब्रह्मपुत्र गरा काटता हुआ और इधर को आयेगा, तो दिसागमुख और पीछे हट जायेगा ब्रह्मपुत्र नूतन रचना का चित्रपट है—सदैव नूतन रचना करता आया है।'[३]

श्री शैलेश मटियानी के उपन्यासों में आंचलिक जीवन के चित्रण का ही विशेष महत्त्व है परन्तु कुछ पात्रों के माध्यम से लेखक का जीवन दर्शन मुखर हो उठा है। चिट्ठीरसैन उन सरल पर्वतीय बालाओं की व्यथा से भरा हुआ है जिनके पति एवं प्रेमी सेना में भर्ती होकर दूर देश चले जाते हैं और बरसों बाद लौटते हैं या उनकी मृत्यु की सूचना ही आती है। ऐसी स्त्रियों का पथभ्रष्ट हो जाना बहुत स्वाभाविक है परन्तु उनकी स्थिति को समझते हुए नाथू हौलदार वाला दृष्टिकोण ही मानवोचित है—

"गल्ती इन्सान से होती है, मिट्टी के हाथ-पाव हैं, ईश्वर खुद सुधार लेगा—इन्सान की जिस गल्ती को इन्सान सुधार नहीं सकते, वास्ते उसके हमको उस गल्ती की सज़ा देने का भी कोई हक नहीं है।'[४]

नाथू हौलदार बुजुर्गों के कर्त्तव्य भी सुन्दरता से स्पष्ट करता है—

"बहू-बेटियों के लिए आप बुज़ुर्ग लोग ही तो पालनहार हैं। बच्चों से गलतिया हो सकती हैं मगर बच्चों का गला कौन घोटेगा—उन्हें प्यार-जतन पूर्वक अपने ताब में रख लेना, उनके दु ख के आसू पोछ देना – यह सब आप बुज़ुर्ग लोगों के ही हाथ में है। [५]

"हौलदार' मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कोटि तक पहुच जाता है अत जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति उसमें नहीं हो पाती। फिर भी उपन्यासकार यह तो स्पष्ट कर ही देता है कि अतृप्त वासनाएं एवं महत्त्वाकांक्षाएं किस प्रकार शारीरिक अक्षमता से संयुक्त होकर ऐसी हीन-मनोवृत्ति को जन्म देती हैं जिसमें स्वार्थ,

---

१ 'ब्रह्मपुत्र', पृष्ठ ४४७।
२ वही, पृष्ठ ४४६।
३ 'ब्रह्मपुत्र', लेखक की भूमिका, ब्रह्मपुत्र की भाषा, पृष्ठ १३।
४ 'चिट्ठीरसैन', पृष्ठ १०७।
५ वही पृष्ठ २४४।

अविश्वास एवं संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। डूंगरसिंह का संपूर्ण चरित्र इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

शैलेश जी ने 'चौथी मुट्ठी' की प्रस्तावना (एक मूठ अक्षर मेरे) में अपने उपन्यासकार के दायित्व पर टिप्पणी करते हुए अपनी विचारधारा तथा दृष्टि-कोण को भी स्पष्ट कर दिया है—

"मैंने भारतीय समाज के तथाकथित सांस्कृतिक महंतों और शोषकों—उत्पीड़कों के आगे उनकी आत्माओं के वीभत्स और घिनौने रूपों के प्रतिबिंब को उघाड़ने वाले आईने यदि रखे है, तो एक साहित्यिक दायित्वबोध के साथ।"[1]

शैलेश जी के मतानुसार उनका लक्ष्य 'सेक्स-अपील' और गुदगुदी जगाना नहीं बल्कि शोषितों पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और ममता-संवेदना जगाना तथा पाठकों में सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक विभीषिकाओं, विच्युतियों के प्रति आक्रोश जगाना है।[2] इस प्रकार शैलेश जी ने नारी को पतुरियाने की अपेक्षा पातर को नारी रूप दिया है। इसीलिए अपनी सौनिमा मस्तानी के चित्रण में उन्होंने दोहरा दायित्व निभाया है। नारी के रूप में वह उनकी 'महतारी' है और उनके द्वारा निर्मित पात्र होने के कारण उनकी आत्मजा भी। महतारी की व्यथा को उसके महाकाली रूप में चित्रित कर उसे अपने अक्षरों की मूठ सौंपी और आत्मजा के प्रति दायित्व-बोध के कारण अंत में उसके सिर पर आंचल डालकर उसे पुनः घर-गृहस्थी के काम-काज में लगाने की व्यवस्था कर दी। इसी प्रकार कौशिला ने पहिली मुट्ठी अपनी सौत राडी के सत्यानाश के लिए डाली, दूसरी सासू राडी की कद्दू जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए, तीसरी ससुर रडवे के सत्यानाश के लिए, चौथी मुट्ठी अपने पति के नाश के लिए डालना चाहती थी कि उसे ध्यान आ गया—"इन तीनों तिक्टों का जो नाश हो गया तो आखिर लिली के बोज्यू मेरे ही साथ तो गृहस्थी बसायेंगे ? अरे मस्तानी सौत राडी का बहकाया हुआ मरद है।"[3] और चौथी मुट्ठी उसने दोनों हाथ में बांटकर श्रद्धा से आंचल में वापिस डाल ली—"लिली के बाबू को तो सुखी-सन्तोषी काया के साथ घर लौटा लाना स्वामी···मेरे सारे छीने हुए हक मुझे वापिस मिल जायेंगे तो सुदिनों की पूजा चढ़ाने आऊंगी।"[4] उसकी मति अंत में पलट गई—"अरे मैं कोई डायन-चुड़ैल तो हूं नहीं ? अगर मेरे कलेजे में जो निरमूल नहीं मारे, मेरा हक तो मुझे दे दें तो मुझे सौत या सासू से किस बात का बैर रह जाय ?"[5]

१ 'चौथी मुट्ठी', 'एक मूठ अक्षर मेरे' (प्रस्तावना)।
२ वही।
३. 'चौथी मुट्ठी', पृष्ठ १६६।
४. वही।
५. वही, पृष्ठ १६७।

और मोतिमा के प्रति भी उसका क्रोध शान्त हो गया—"अरे सद्‌बुद्धि और दया-ममता वाला खसम मिल जाय तो उसकी चौडी छाती पर सिर टिकाते हुए किस औरत को सुख नही मिलेगा।' [1] यही है पहाडी नारियो की समस्याओ के प्रति उपन्यासकार का दृष्टिकोण।

श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों मे आचलिक जीवन पर राजनीतिक-सामाजिक जागृति के प्रभाव तथा तज्जनित सघर्ष का ही रूप प्रमुख रूप मे उद्‌घाटित हुआ है परिणामस्वरूप सभी उपन्यासों का सदेश एक ही है—अन्याय के विरुद्ध सघर्ष। अपने उपन्यास 'आदित्यनाथ' का तो उद्देश्य ही उपन्यासकार ने बताया है—

"ताकि वे नवरक्त की भावुकता भरी लहरो मे स्वामी सोमानन्द की तरह बहकर बाद मे विनष्ट न हो जाए, स्वामी सत्यकेतु और वीरेन्द्र वर्मा जैसे लोग स्वय आदित्यनाथ के जीवन से बहुत कुछ सीख सकें, तथा स्वस्थ स्वाभाविक जीवन के मूल्य को पहिचान सकें।"[2]

'मुक्तावली' में यही सदेश सघर्ष मे सफलता के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। इसमें यथार्थ की पृष्ठ-भूमि पर मणिपुर मे गाधीवाद एव मार्क्सवाद के जन्म और द्वन्द्व, एव बाद मे पारस्परिक प्रेम, आदर और विश्वास के आधार पर उभय पक्ष मे पारिवारिक सह-अस्तित्व और समन्वय की ओर बढने की कहानी भी सोद्देश्य कही · और यथार्थ की पृष्ठ-भूमि पर प्रान्तवाद और जातिवाद के घृणित द्वन्द्व और उसके समाधान की कहानी भी' [3] कही गई है। इसी आग्रह के कारण जहा एक ओर स्वाभाविकता का ह्रास हुआ है वही दूसरी ओर आचलिकता का भी।

'नेपाल की वो बेटी' मे सामन्ती शासन मे जकडा हुआ जन-जीवन भी उद्‌घाटित हुआ है, उपन्यासकार ने कोई हल नही निकाला है क्योंकि उपन्यास की नायिका हेमा पलायन कर जाती है—फिर भी सामाजिक स्वत्व की रक्षा मे सघर्ष का मार्ग लेखक के अन्य उपन्यासो के समान ही इसमें भी अभिव्यक्त हुआ है।

उन उपन्यासो मे जिनमें आर्थिक जीवन की समस्याए अधिक मुखर हैं, जीवन सघर्ष भी अधिक जटिल हो गया है और उपन्यासकार का समाधान भी समाजवादी विचारो के पोषण मे दिखाई देता है—ऐसे उपन्यासो मे प्रमुख है 'बलचनमा', 'लोहे के पख' और 'नदी फिर बह चली'। सभी मे अधिकारो की रक्षा के लिए सघर्ष का मार्ग, उपन्यासकारो के मतानुसार, उद्धार का एक-मात्र मार्ग है। इस सघर्ष मे राजनीतिक पार्टियो तथा उनकी विशिष्ट विचार-धारा पर भी उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण से विचार व्यक्त करता जाता है। परन्तु

१. 'चौथी मुट्ठी', पृष्ठ १६७।
२. 'आदित्यनाथ', 'पाठकों से · ' (भूमिका)।
३. 'मुक्तावली', 'पाठको से' (भूमिका), पृष्ठ 'ठ'।

इसका समष्टि रूप 'लोहे के पख' मे मिलता है जहा मगरुआ यह अनुभव करता है—

"देश के नेताओ ने तरह-तरह के सिद्धान्तो की रट लगाकर मजदूर-किसानो के दिमागी कधो पर लोहे के पख बाध दिये हैं। वे इतने बोझिल हो गये हैं कि सुख और शाति के आसमान मे उडने की बातें सोच तो सकते हैं, लेकिन उड नही सकते। वे सोच नही सकते कि किस पार्टी का झण्डा मुझे ऊपर उठायेगा।"[१]

परन्तु मगरुआ के ही आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा उपन्यासकार ने अपना सदेश भी दिया है—

"अपनी-अपनी खूबियो के लिए हर पार्टी के आदर्श को अपनाना चाहिए, मैं अपनी ही घुटन अथवा चिढ से सारी पार्टी को तौलना अनुचित समझता हू··· हमारी रक्षा के साधन हमे मिल गए हैं और उनके दिमागी कधो पर जो लोहे के पख लगे हैं वे धीरे धीरे कट रहे हैं।"[२]

'नदी फिर वह चली' मे तो भूमिहीन परवतिया गावो के किसानो के अधिकारो के पीछे सघर्ष करती हुई मर गई परन्तु उसने

"उस समाज मे, जिसकी चरित्र और वर्ग-एकता की धारा सूख गई थी, शुचिता और शक्ति की नदी फिर से बहा दी।"[३]

शोषण की प्रवृत्ति के विरुद्ध उपन्यासकार ने वर्ग-एकता तथा जन-शक्ति के द्वारा सघर्ष का मार्ग सुझाया है। उसका मत है—

"विरोधीदल कायम नही होता, परिस्थितिया ऐसे दलो को खुद पैदा कर देती हैं।"[४]

'बलचनमा' का सघर्ष सामाजिक अधिक हो गया है जो सामन्तवाद के विरुद्ध सगठित है। ऐसा ही सघर्ष 'अविरल आसू', 'गगा मैया', और 'पानी के प्राचीर' मे भी है। 'अविरल आसू' मे नारी की पवित्रता एव त्याग के आदर्श को स्थापित किया गया है, इसी भावना से राधिका नौमेरा की कोठी के नृशस, लोलुप निलहे साहब मि० स्टीन का हृदय-परिवर्तन करने मे सफल होती है।

'गगा मैया' को समाजवादी चिन्तन से प्रेरित माना गया है।[५] 'गोदान' मे होरी अत मे मर गया था, उसकी मृत्यु समाजवादी जीवन-दर्शन को अखरती है। उसकी तुलना मे मटरू किसान को खडा करके श्री भैरवप्रसाद गुप्त ने किसान की लाश मे रूह फूकने का काम किया है, और सहकारी तथा सामूहिक खेती

---

१ 'लोहे के पख', पृष्ठ ४४३।
२. 'लोहे के पख', पृष्ठ ४४४।
३. 'नदी फिर वह चली', पृष्ठ ३३४।
४ वही, पृष्ठ ३२७।
५ डा० सुषमा धवन, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ३०६।

की योजना का समावेश कर समाजवादी दृष्टिकोण का ही पोषण किया है।[1]

इससे मिलती जुलती दृष्टि 'सत्ती मैया का चौरा' में भी है। उसमें परिप्रेक्ष्य और अधिक विस्तृत हो गया है और धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं राजनीतिक समस्याएं भी उसकी परिधि में आ गई हैं। आदर्श वही ग्राम-सुधार एवं ग्रामोत्थान का है जिसकी प्राप्ति के लिए मन्ने मृत्यु से भी लड़ने को तैयार है। इसीलिए अस्पताल में होश आते ही वह कहता है—" मैं मरूंगा नहीं, सभापति जी।"[2]

'पानी के प्राचीर' में भी ग्राम-जीवन के उज्जवल भविष्य की कल्पना की गई है। उसका स्वर भी उपन्यासकार के आस्थावादी दर्शन को उद्घाटित करता है। यद्यपि स्वर मंद है तथापि उसकी प्रतिध्वनि पूर्ण उपन्यास में व्याप्त है।

यह तो हुई आंचलिक उपन्यासों के जीवन-दर्शन के स्वरूप की बात। इस स्वरूप पर गंभीरता से विचार करने पर इसमें दृष्टिकोण संबंधी कुछ नवीनता परिलक्षित होती है। जो नवीनता सबसे अधिक मुखर है वह यह है कि सफल आंचलिक उपन्यास निराशावाद का प्रचार नहीं करता। उपन्यास सफलता लिए हुए हों अथवा असफलता, किसी भी स्थिति में वह यह ध्वनित नहीं करता कि अंचलों का जीवन रहने योग्य नहीं है। निराशावाद के बहिष्कार की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों के दो वर्ग बन जाते हैं, प्रथम वे उपन्यास जिनका अंत सफलता की ओर निश्चित संकेत करता है। इस वर्ग के प्रमुख उपन्यास हैं—

मैला आंचल, परती परिकथा, सागर लहरें और मनुष्य, लोक परलोक, रथ के पहिये, चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी, मुक्तावली, सूरज किरन की छांह।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे उपन्यास आते हैं जिनमें निश्चित सफलता तो प्राप्त नहीं होती है परन्तु सुन्दर भविष्य की ओर संकेत अवश्य होता है जो लगभग पचास प्रतिशत सफलता ही होती है। ऐसे उपन्यासों में संघर्ष चलता रहता है परन्तु आदर्श अथवा प्रगतिशील पात्रों के कारण दिशा निश्चित दिखाई देती है ऐसे उपन्यासों में प्रमुख है—'सत्ती मैया का चौरा', 'वरुण के बेटे', 'बलचनमा', *'अविरल आंसू', 'जंगल के फूल', और 'नदी फिर बह चली।'* इसी वर्ग के कुछ अन्य उपन्यासों में दुःख और सुख का संतुलन दिखाई पड़ता है जैसे 'काका', 'पानी के प्राचीर', 'ब्रह्मपुत्र' तथा 'आदित्यनाथ'। इनमें प्रगतिशील पात्र असफल नहीं होते। उदाहरणार्थ 'काका' में रामधुन एवं कान्ता का नया जीवन प्रारम्भ होता है 'ब्रह्मपुत्र' में स्वतन्त्रता मिल गई है और दिमागमुग्ध नवीन उत्साह से पनप रहा है, 'पानी के प्राचीर' में प्राचीर टूटने की आशा की ओर संकेत है। 'आदित्यनाथ' में नायक के हृदय में नई आशा की किरण फूट पड़ती है। हां, अपवाद स्वरूप एक दो ऐसे उपन्यास अवश्य हैं जो विषादपूर्ण वातावरण में

१ डा० इन्द्रनाथ मदान, 'आज का हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ५६।

२ 'सत्ती मैया का चौरा', पृष्ठ ७४३।

समाप्त होते हैं जैसे—'रतिनाथ की चाची', 'नेपाल की वो बेटी', और 'हौलदार'। परन्तु यह प्रवृत्ति आचलिक उपन्यासों के अनुरूप नहीं है इस कारण ऐसे उपन्यासों में आचलिकता के समकक्ष एक विशिष्टता और चलने लगती है। परिणामस्वरूप 'रतिनाथ की चाची' में चरित्र प्रधान हो जाता है, 'नेपाल की वो बेटी' में सामाजिकता प्रमुख हो जाती है और 'हौलदार' में मनोवैज्ञानिक आग्रह प्रबल हो जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आचलिक उपन्यास इन गुणों से रहित होता है, तात्पर्य यह है कि उसमें इनका सन्तुलन होता है। जिस सीमा तक यह सन्तुलन बिगडता है उस सीमा तक आचलिकता का भी ह्रास हो जाता है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण की यह नवीनता ही हिन्दी के आचलिक उपन्यासों को अन्य भाषाओं के ऐसे ही उपन्यासों से भिन्न करती है। देश की प्रान्तीय भाषाओं में आचलिक जीवन का उद्घाटन करने वाले जो उपन्यास हैं, वे अपने प्रान्त के जन जीवन को अपने निरूपण का विषय बनाते हैं। प्रान्तीय समस्याएं प्रान्तीय भाषा में, प्रान्त के जीवन के यथार्थ का उद्घाटन तो कुशलता से ही करती हैं, आचलिकता से सबधित आदर्शवादी प्रेरणा उनके पीछे नहीं होती। परिणामस्वरूप उनमें जीवन दर्शन का सामान्य रूप ही दिखाई देता है—वैसा ही रूप जैसा कि सामान्य सामाजिक उपन्यासों में होता है उसकी कोई अपनी विशिष्टता नहीं होती। यही स्थिति विदेशी प्रादेशिक उपन्यासों की भी है। पिछड़े-जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति जिस आन्दोलन से प्रेरित थी, उसका लक्ष्य था अकृत्रिम जीवन का चित्रण ('प्रकृति की ओर लौटो' आन्दोलन), तिरस्कृत, उपेक्षित मानव के प्रति प्रेम (मानवतावादी आन्दोलन) तथा स्थानीय विशेषताओं में रुचि (स्थानीय रंग आन्दोलन)। ये सभी प्रवृत्तियां यथार्थवादी आन्दोलन की विभिन्न धाराएं थीं। यान्त्रिक सभ्यता तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण ने चिरन्तन मूल्यों को दृष्टि से ओझल कर दिया परिणामस्वरूप यथार्थ की अवतारणा असंतोष की पृष्ठ-भूमि पर हुई। इसीलिए आलोचना, व्यंग्य, पीडा एवं निराशावाद का समावेश भी उनमें हो गया। चार्ल्स डिकेन्स, टामस हार्डी एवं हैमिंग्वे के उपन्यासों में इन्हीं प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। ये प्रवृत्तियां हिन्दी के आचलिक उपन्यासों की प्रवृत्ति से भिन्न ही नहीं, विपरीत भी है। साहित्य का उद्देश्य—सत्य, शिव एवं सुन्दर की अभिव्यक्ति —केवल हिन्दी के आचलिक उपन्यासों की ही विशेषता है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जीवन के यथार्थ का चित्रण, जो उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय होता है, यदि कला बनकर कहीं आता है तो हिन्दी के आचलिक उपन्यासों ही में। अन्य भाषाओं के आचलिक अथवा प्रादेशिक उपन्यासों में वह केवल यथार्थवाद बनकर रह जाता है। यही हिन्दी के आचलिक उपन्यासों तथा अन्य भाषाओं के ऐसे ही उपन्यासों के जीवन दर्शन का प्रमुख अंतर है।

सप्तम अध्याय

भाषा-शिल्प

आंचलिक उपन्यासों के वर्गीकरण में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि कतिपय उपन्यास अपनी भाषा की विशिष्टता के कारण आंचलिक प्रतीत होते हैं। ऐसा उस स्थिति में भी होता है जब न कथा ही आंचलिक होती है और न चरित्र ही। कई उपन्यासों में आंचलिक वातावरण तक निर्मित नहीं होता। ऐसी स्थिति में भी उन्हें आंचलिक मान लेने का कारण उनमें भाषा-तत्त्व का प्राबल्य ही होता है। यह तत्त्व इतना मुखर हो जाता है कि अन्य तत्त्वों को अपने पीछे दबा लेता है। इसी कारण 'पानी के प्राचीर', 'नदी फिर बह चली', 'लोहे के पंख' जैसे उपन्यासों को भी आंचलिक उपन्यास मान लिया जाता है। अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सामान्य उपन्यास एवं आंचलिक उपन्यास की भाषा में ऐसा कौनसा अंतर होता है जो उन्हें अन्य तत्त्वों के लगभग समान होने पर भी भाषा तत्त्व के आधार पर ही पृथक् करता है। इसके लिए पहिले सामान्य उपन्यास की भाषा पर विचार कर लें।

सामान्य उपन्यास में भाषा के सामान्यतः दो रूप दिखाई देते हैं—प्रथम वह भाषा जिसमें उपन्यासकार कथा कहता तथा घटनाओं एवं पात्रों का विश्लेषण करता है। यह तो हुई *उपन्यासकार की भाषा जो सम्पूर्ण उपन्यास में एक-सी* रहती है। द्वितीय, वह भाषा जिसका प्रयोग उपन्यास के पात्र वार्त्तालाप में करते हैं। इसे वार्त्तालाप की भाषा भी कहा जा सकता है। यह भाषा पात्रों के अनुसार मिलते-जुलते अनेक रूप ग्रहण करती रहती है क्योंकि इसका आधार पात्रों का विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उपन्यासकार विभिन्न पात्रों के माध्यम से उपन्यासों में भाषा-रूपों की प्रदर्शिनी ही आयोजित कर देता है। ऐसा होता भी नहीं। प्रत्येक पात्र का बोलने का अपना ढंग होता है अपनी शैली होती है और उसकी अपनी शब्दावली होती है। इस प्रकार सामान्य भाषा में थोड़ा अंतर आ जाता है और भाषा पात्रानुकूल बन जाती है।

आंचलिक उपन्यास और भाषा संबंधी विशिष्टता

पात्रानुकूल भाषा की दृष्टि से तो आंचलिक उपन्यास की वार्त्तालाप की

भाषा का आधार वही होता है जो सामान्य उपन्यास की वार्त्तालाप की भाषा का होता है। अतर केवल इतना होता है कि जहा सामान्य उपन्यासकार की वार्त्तालाप की भाषा पर पात्र के व्यक्तित्व का हल्का रग होता है वहा आचलिक उपन्यास मे वही रग अधिक गहरा हो जाता है क्योकि आचलिक पात्र आचलिक भाषा का प्रयोग अधिक व्यापक रूप मे करते हैं।

परन्तु सामान्य उपन्यास और आचलिक उपन्यास की भाषा का प्रमुख अतर भाषा-प्रयोग के प्रथम रूप—उपन्यासकार की भाषा मे दिखाई देता है। सामान्य उपन्यास में यह भाषा जन-साधारण की भाषा होती है परन्तु आचलिक उपन्यास मे यह भाषा जन-सामान्य की होते हुए भी आचलिक रग मे रगी होती है, अर्थात् आचलिक उपन्यासकार आचलिक रूपो का समावेश कर कथा ही नही कहता, घटनाओ और चरित्रो का विश्लेषण भी करता है। परिणाम यह होता है कि जहा सामान्य उपन्यास मे उपन्यासकार तथा पाठकों मे से एक के रूप मे कहता है वही आचलिक उपन्यास मे वह पात्रो मे से एक बन जाता है। इस दृष्टि से आचलिक उपन्यास म भाषा के उपर्युक्त दोनो रूप एक ही रग के हल्के एव गहरे 'शेड्स' रह जाते है। सक्षेप मे, आचलिक उपन्यास मे उपन्यासकार की भाषा तथा वार्त्तालाप की भाषा का प्रमुख अतर मिट जाता है। जितना कम यह अतर होता है, भाषा उतनी ही अधिक आचलिक उपन्यास के अनुकूल होती है।

आचलिक उपन्यास मे भाषा का यदि दूसरा रूप दिखाई देता है तो अन्य सदर्भ मे—कलाकार के सदर्भ मे। आचलिक उपन्यासकार भी कलाकार होता है। अत भावुकता के आग्रह से रहित नही होता। भावना के आवेग मे उस पर से आचलिकता का नियत्रण ढीला पड जाता है और वह शुद्ध कलाकार के रूप मे बोलने लगता है। ऐसा दो स्थितियो मे होता है। प्रथम, तब जब वह कथा से किंचित तटस्थ हो अपनी भावनाओ को अभिव्यक्ति देने लगता है। द्वितीय, तब जब वह कथा के प्रवाह मे बहकर परिस्थिति को अधिक प्रभावशाली रूप मे उपस्थित करना चाहता है। प्रथम स्थिति म उसकी भाषा मे काव्यत्व आ जाता है और द्वितीय मे भावत्व। इसी दूसरे रूप को ध्वनि-रूपक या 'टेप रेकार्डर' की पद्धति भी कह दिया जाता है। जहा भी काव्यत्व अथवा भावत्व आ जाता है वहा उपन्यास की भाषा अत्यत प्रभावोत्पादकता हो ही जाती है, वह उपन्यासकार की भाषा-क्षमता का भी अभिनव रूप प्रकट करती है।

इस प्रकार आचलिक उपन्यास की भाषा मे भी दो रूप तो दिखाई देते हैं परन्तु ये सामान्य उपन्यास की भाषा के दो रूपो से भिन्न होते हैं। यहा दोनो ही रूपो मे गहराई होती है, रग की अथवा भाव की। यही गहराई उस क्लिष्टता का कारण बनती है जिसका आरोप सामान्यत आचलिक उपन्यास की भाषा पर किया जाता है। यद्यपि यह आरोप निराधार नही होता तथापि इसके लिए आच-

लिक उपन्यासकार को दोषी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका उद्देश्य ही अंचल को उसकी सम्पूर्णता में उद्घाटित करना होता है और आंचलिक उपन्यासकार यह तीव्रता से अनुभव करता है कि बिना भाषा में उतनी गहराई लाये आंचलिकता की सफल अभिव्यंजना नहीं हो सकती। आंचलिक उपन्यास की यह आवश्यकता उसकी विशिष्ट विधा के अनुकूल ही होती है। नाटक दृश्य-साहित्य होने के नाते विशिष्ट दृश्य-संयोजना की अपेक्षा रखता है, रेडियो-रूपक श्रव्य साहित्य होने के कारण विशिष्ट ध्वनि-संयोजना की अपेक्षा रखता है और आंचलिक उपन्यास लोक साहित्य होने के कारण विशिष्ट लोक-रंग की अपेक्षा रखता है। एक बात और है—जीवन जितना ही विशिष्ट होगा भाषा को भी उसी अनुपात में विशिष्ट बनना पड़ेगा। सामान्य उपन्यास सामान्य जीवन को अभिव्यक्त करता है, अतः जन सामान्य की भाषा से उसका काम चल जाता है। परन्तु आंचलिक उपन्यास विशिष्ट और अपेक्षाकृत अल्प ज्ञात जीवन की अभिव्यक्ति करता है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उसकी भाषा भी विशिष्ट हो। यह विशिष्टता भाषा के अल्प-ज्ञात रूप से भी प्राप्त की जाती है।

आंचलिक उपन्यास की भाषा की इस विशिष्टता के कारणों को हृदयंगम कर लेने के उपरांत प्रयुक्त भाषा के वास्तविक रूप का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। आगे की पंक्तियों में आंचलिक भाषा के दोनों रूपों—हल्के-गहरे आंचलिक रूपों तथा हल्की-गहरी भावोक्तियों पर किंचित् विस्तार से विचार किया जायेगा।

आंचलिकता के हल्के गहरे रूप शब्दों के लोक-प्रचलित रूपों तथा आंचलिक भाषा के शब्दों मुहावरों तथा लोकोक्तियों के विस्तृत प्रयोग द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। इस प्रयत्न में शब्दों के विकृत रूप प्रभाव-प्रवणता की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। विश्लेषण की भाषा में इनका प्रयोग कुछ सीमित होता है अतः वहाँ आंचलिक रंग हल्का होता है परन्तु वार्त्तालाप की भाषा में यही रंग गहरा हो जाता है क्योंकि वहाँ इनका विस्तृत प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ 'जंगल के फूल' की विश्लेषण की भाषा इस प्रकार की है—

"गाँव से कुछ औरतें आ गई थीं। वे अपने साथ नुकाग लाई थीं। वे अधजले थे। उन्होंने सारे चेलिकों में नुकाग बाँटे और रिवाज के अनुसार प्रत्येक को वे खाने पड़े। खाकर सब मैदान में कूद पड़े। अधजली डगालें बाहर फेंक दी गईं और सब मिलकर घोमना से रास बराबर मैदान में फैलाने लगे।'[1]

"धीरे-धीरे पारद सिर पर आ गया। दूर से ढोलों की आवाज़ सुनाई देने लगी। गाँव के सारे लोग गवड़े पर जमा हो गए। उन्होंने बारात का स्वागत

1. 'जंगल के फूल', पृष्ठ ६८ ६६।

लिया और गाव के अंदर लाकर उसे जनमासा दिया। पेरमा मण्डप के नीचे पूजन की तैयारी कर रहा था।"[१]

यही रूप वार्तालाप की भाषा मे अधिक गहरा हो गया है—

'अपने नामी बटे का नाम हवा मे उडता सुनोगे, तब मेरी छाती ठण्डी होगी। मेरा मगू···! सनकी, ओ सनकी!"

"इगे, यायूने!"

"दम तो भला मगू कहा गया? कुन्हाल घडी भर लोन मे नही रह सकता।"[२]

महुआ ने अपने बचन छुडाने की कोशिश की तो वह बोला, "क्या नाम है तेरा! क्या देह है तेरी! म · हु ··आ! देखकर जीभ म पानी आता है। एक बूद मिल जाय तो डोगुर मे सरग उतर आए!'

महुआ ने सुना तो मन्न रह गई। बोली, "क्या कहता है रे कमटा, मैं तो तेरी पेडगी जैसी ·।"

"अरी वाह!" एक अजब अन्दाज़ से उसने कहा था, 'मरी भी क्या कोई पेडगी है! अभी अपनी उम्र ही क्या हुई है! तेरी जैसी कोई पकी खुश हो जाय तब तो तार्पं बनू।"[३]

"म · हुआ!ऽऽ··" मत्ताए जैसे चीख पडी हो, "तू उससे पिरेम करती है और उसके पिरेम मे बौरा गई है। बेशरम, माइलुटिया, सिट्टी चिपरी ·· सलदरी।'[४]

ऊपर के उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार ने शब्दो के लोक प्रचलित रूपो को सामान्य शब्दों के साथ मिलाकर आचलिक भाषा का निर्माण किया है। ये लोक प्रचलित रूप शब्दा के विकृत रूप ही है जिनके विकार पर लोक-रग का प्रभाव दिखाई देता है। यहा आचलिक भाषा के अनुरूप ही शब्दा मे विशिष्ट परिवर्तन हो गया है जैसे—पिरेम, सिरदार, असीस, जिन्गी, बिहाव आदि।

यद्यपि यह भाषा इस प्रकार के मिश्रण के कारण कुछ कठिन हो गई है परन्तु सौन्दर्य लोकोक्तियों और मुहावरो के प्रयोग मे आया है। आचलिक भाषा के ये रूप आलकारिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है—

बूढे गायता का शरीर 'करई मुण्डा के पत्थरा सा दृढ' है। सुअर के खून की धार को देखकर महुआ के काले बदन म 'सेमर के फूल की तरह चमकने होंठ

१. 'जगल के फूल', पृष्ठ १८५।
२. वही, पृष्ठ ४८।
३. वही, पृष्ठ ५५।
४. वही, पृष्ठ ११९।

अपने आप गुनगुना उठे' और 'बास की जवान कोपल की तरह उसने अपनी कमर को लचकाया', मुदरी के होठ 'लाल तुरई के फूल जैसे' थे। सत्ताय की 'छिलवा के लाल-काले फूलो की तरह'''देह खिल रही थी।' बूढा सिकमी मर गया 'आखिर कब तक जांगर तोडता।' जब महुआ प्रसन्न होती तो 'धतूरे का फूल' लगती थी। भुसरी को यह पसद नही था कि उसके साइगुती के प्रति कोई 'अलवा-जलवा' बके। सुलक को शीघ्र ही अनुभव हो गया कि प्रेम 'छिलवा की डाल की तरह नाजुक' होता है। अभोती 'सूरत मे करई मुण्डा का पत्थर'''और शरीर की बनावट मे नरवा की घाटी' था। हबका कहता है 'तब के जवान महुआ के फूल थे, अब के जवान सेमल की घेंटी हैं।' सुलक मे इतना परिवर्तन आ गया कि जब 'कोई मोटियारी उससे कभी मागती तो वह कह देता मैं आन गाव का हू साइगुती, परदेशी की पिरीत फूस का तापना है।'

मुहावरो और लोकोक्तियो के साथ आचलिक शब्दो के रूप मे गोडो के जीवन से सबधित शब्दों का प्रयोग हुआ है—

मुखिया 'गायता' है, पुरोहित 'सिरहा' और 'लादा' उनका सामान्य पेय है। साथी है 'साइगुती', उनका अतिथिगृह होता है 'थानागुडी', सवेरा उनका 'नरकी पहर' है, आधी रात 'नडुम नरकी' है। 'लोन' और घर एक ही वस्तु है। दो साल पहले की बात 'कौवे साल' की बात है, लडकी 'पेड़गी' कहलाती है और जवान लड़की 'पेंकी'। उल्लू 'अरुआ' होता है और प्रेमी 'चेलिक', मा 'आवा' और रखैल 'पेंठू'। विवाह 'पेण्डुल' है तो दूल्हा 'मोइदो'। भौजाई 'तगे' होती है और मगेतर 'तालपना'। इस प्रकार के अनगिनत शब्दो के प्रयोग निश्चित रूप से दुरूहता उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी तो एक-एक पृष्ठ पर कई-कई ऐसे शब्द आ जाते हैं, उदाहरणार्थ पृष्ठ पन्द्रह पर ऐसे आठ शब्दो के अर्थ नीचे दिये गये हैं।

भाषा का दूसरा रूप गहराई भी, जिसमे काव्यत्व एव भावत्व दोनो होते है, इस उपन्यास मे सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। भावात्मक रूप का प्रयोग कम ही होता है क्योंकि उपन्यासकार यदा-कदा ही भावना मे वहता है परन्तु जब वह बह जाता है तब भाषा का यह रूप दिखाई देता है—

"ऊपर महुआ की लाल-लाल कोपलें। कोपलो के बीच रस भरे फूल। नीचे वैसी ही धरती। जब सामने किसी पहाड़ की चढाई होती है और रगीन हवा बहती है तो जैसे धरती का सारा खून आसमान मे समाने के लिये उड़ने लगता है। गुफाओं मे गोते लगाती यह हवा समतल मे अंधी होकर चक्कर काटने लगती है, चोट खाए साप की तरह।"[१]

"भाग्य छाया की तरह होता है। जब कोई उसे पकड़ना चाहता है वह दूर

---

१ 'जगल के फूल' पृष्ठ ५।

भागता है। जब आदमी उदासीन हो जाता है, वह पीछा करने लगता है।"[1]

"जब आदमी को गहरी चोट लगती है, जब चिड़िया के अंडे से निकले ताजे बच्चे की तरह उसके लिपलिपे और नरम कलेजे में कोई गहरा काटा चुभ जाता है तो वह प्यार भूल जाता है।'[2]

"हवा धीरे-धीरे बह रही थी। लगता था नरवा के तीर से वह उठ रही है और इस मैदान में आकर बिखर जाती है। दूर पहाड़ों का काफला अंधेरे में सोया था और चारों तरफ साय साय की आवाज आ रही थी मानो रात अपनी गोद में नदी, पहाड़, खेत, खलिहान और पौधों को समेटे लोरी सुना रही हो।"[3]

"टह् टह् टह्—यह टिमकी की आवाज है।
ठन ठन ठन—यह थाली पीटी जा रही है।
मुर्रर्रर्रर्र—की भर्राई आवाज जगली भैंसो के सीग के बाजे से
निकली······
रे रे रे लो रे रेलो रे
रे लो रे रे रेला रे ए ए ए।"[4]
"साय-साय और सब तरफ सन्नाटा।
टरक टरक ऽऽ तैरतैर ऽऽ
························
गटर गटर ऽऽ गट्ट गट्ट ऽऽ
························
घुर र् र् र् ऽऽऽ"[5]

सत्ताय अपने बच्चों को पीट रही है—

"पट् पट् पट् पट् ऽऽऽऽऽऽऽ
ऊऽऽऽऊऽऽऽऊऽऽऽ
मरी ई ई ई रे···बा···प···रे
ऍऽऽऽएऽऽऽऍ।
पट् पट् पट् पट् ऽऽऽऽ।"[6]

श्रमदान में कुआ खोदने का दृश्य अत्यंत मार्मिक है·

---

१. 'जगल के फूल', पृष्ठ ६।
२. वही, पृष्ठ ८८।
३. वही, पृष्ठ ११०।
४. वही, पृष्ठ ५।
५. वही, पृष्ठ ७०।
६. वही, पृष्ठ ८५।

छप्प छप्प छप्प
खप्प खप्प खप्प
खिक्क खिक्क खिक्क ।
री पेड़गी जल्दी भर टोकनी ।
रे बमटा हँसी उड़ाता है ? नाक जरा तिरछी है तो क्या हुआ ।
हि हि ई ई ई हा हा आ आ आ ।
आय पैंकी दामनी ला ।
वह है वह तेरे पीछे आवरा ।
उ ई ऽ ऽ ऽ दइया ! मरी रे ! [१]

इस प्रकार के उदाहरण आंचलिक उपन्यास की भाषा के प्रभावशाली रूप का उदघाटन करते है। ऐसे ही रूप तपित जी के दूसरे उपन्यास सरज किरन की छाह में भी उपलब्ध होते है यह भी गाडो के जीवन से सबधित है परन्तु इसमे भाषा का प्रयोग अत्यत सतर्कता पूर्वक किया गया है। चलती हुई हिन्दी मे आदिवासियो की भाषा के शब्द एव मुहावरे कुशलतापूर्वक जड दिये गये हैं। आत्मकथात्मक शैली म होने कारण उपन्यासकार के विश्लेषण के लिए इसमे स्थान नहीं था। अत सारे उपन्यास की भाषा एक जैसी है यद्यपि उसमे जगल के फूल की गहराई नही है—

घर के सामने गैल म पहुची तो कबरी भूरी और बिजरा नड रहे थे। डडा उठाकर उनका झगडा मिटाया और उन्हे थान के हवाले किया। तब तक तापे लकडी या बोझ लेकर घर आ गया था और आवान भी चूल्हे म सिर डाल दिया था। [२]

ऐसी चलती हुई भाषा के साथ आंचलिक बोली के शब्दो के अधिक विस्तृत प्रयोग भी है—

बाहर उद्दी लरनि लगी।
कालपी मेरे गाव से रण्ड कोस और चेतमा से दक्कणो कोस है। [३]
वहा तो भुनसारे ही मुरगुल म मक्का खाकर चल देती थी। मरैया म पेज साथ देती तो चकौडा पत्थरचटा कजरा खटुआ और कचनार के पत्त बियारी म। [४]

भाषा म आंचलिकता का पुट देने के लिए शब्दो के विकृत रूप भी प्रयुक्त किये गये है जैसे—पिनसल इसकूल पारथना गरब आदि।

१ वही पृष्ठ १४१।
२ सरज किरन की छाह पृष्ठ ८।
३ वही पृष्ठ २८।
४ वही पृष्ठ ३१

अनुभूति की गहराई के पुट के कारण भाषा में अनुपम सौन्दर्य तथा काव्यात्मकता का समावेश हो गया है—

"यौवन खिला फूल है, 'अलाकन वा लेकन डिडा मोमय'—यौवन में विपदा ही विपदा है। विपदा के पहाड़ हमेशा सिर पर मंडराते हैं, देह कसकती है, अपने आप काटती है, नागिन जैसी चाहे जब मचलती है कोई कहां तक इस पर काबू करे। जरा सी लगाम छूटी कि मन का घोड़ा हवा हुआ, सवार को कहां पर पटकता है, वह खुद नहीं जानता।"[1]

लोक-गीतों के प्रयोग स्थान-स्थान पर बड़े स्वाभाविक हैं—

"परजा दुलारी हानी हानी, कजरा री कोयला,
बदरा छिपिस चाद अमरित वीर ला टोरला।'[2]

(हे दुलारी बेटी धीरे-धीरे सो जा, मैं कोयल से काजल छीन कर लाई हू। आज का चाद बादल में छिपा है। लेकिन फिर भी बड़े वीर उससे अमृत छीन कर लायेंगे)

ध्वनि चित्रणों के साथ लोक-गीत और अधिक खिल उठे हैं—

"ओ हो ऽ ऽ हाय रे हाय
....
चुटुक चुटुक तुर चुटकी बाजे
पैरिन के झंकार
आने गुस्सा झें आवे,
सही लग हो पार। हो हो हाय रे हाय ऽ ऽ ऽ ऽ"[3]
ढोला की आवाज—
ढाग ढाग ढी ढी ढिन ढिन
रे ऽ ऽ ऽ हो हो ऽ ऽ ऽ तो···रे ··रे
है ऽ ऽ ऽ है ऽ है ऽ ऽ
....
"तौरे हार ना ना रे तौरे हारे ना ना ऽ ऽ"[4]
डमरू वाले ने हाथ नचाया—
डा डिग डिग्गा डिग्गा
धा धिन्न धिन्न धिन्ना
डिगिर डिगिर डिग्ग डिग्गा।"[5]

---

१ 'सूरज किरन की छांह,' पृष्ठ ७६।
२ वही, पृष्ठ ७७।
३ वही, पृष्ठ २५।
४. वही, पृष्ठ १३२।
५. वही, पृष्ठ १३६।

गोंड जीवन पर आधारित होने के उपरान्त भी रथ के पहिये की भाषा में आंचलिकता का अभाव है। न तो विश्लेषण की भाषा ही पुष्ट है और न वार्तालाप की ही। आंचलिक शब्द कहीं कहीं भले ही आ गये हों परन्तु मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का अभाव बहुत खटकता है। भाषा भावुकता के पुट से भी रहित है।

'मोरभाल' में भाषा का स्वाभाविक रूप अगर प्रकट नहीं हो पाया है तो उसका कारण है उपन्यासकार की डायरी शैली। भीलों से अधिक महत्वपूर्ण चित्रकार सोम बन गया है। फिर भी भीलों की लोक-भाषा का प्रयोग भीलों से संबंधित विवरणों में अवश्य हो गया है। जैसे—

"उसकी टापरी में लगा हुआ वणग्या था। वणग्या के पास था डागल्या। मुर्गों ने पर फड़-फड़ाये तो नाथ्या का ध्यान उधर गया। उसने मुड़ल्या उठाकर डागल्या की ओर फेंकते हुए गाली दी ।'[1]

वार्तालाप बहुत कम है। उनकी भाषा में भी भीलों की बोली के शब्दों का समावेश कहीं-कहीं हो गया है। लोक-गीतों के भी अधिकतर अनुवाद ही हैं। काव्यत्व एवं भावत्व की भाषा के उदाहरण भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। कथानक पर भावुकता के स्थान पर गंभीरता की छाप अधिक गहरी है।

'रेणु' के दो उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' बिहार के पूर्णिया जिले से संबंधित हैं, उनमें भाषा का एकसा रूप ही प्राप्त होता है अतः दोनों पर एक साथ विचार कर लेना उचित होगा। 'मैला आंचल' की भाषा 'जंगल के फूल' की भाषा से इतनी ही भिन्न है कि उसमें अज्ञात शब्द कम और शब्दों के आंचलिक रूप अधिक हैं—

"खलासी जी सरकारी आदमी है। खलासी जी यदि लाल पतखा दिखा दे तो डाकगाड़ी रुक जाय। बाभन निपुत्तर का नुकसान कर देते हैं। कुमार बिजैभान, लौरिक और सुरंगा सदाब्रिज का गीत जानते हैं। उस बार सुराजी हूल माल में खलासी जी ने लिख दिया 'बैगन गाड़ी के जमीदार के लड़के ने रेल का लैन उखाड़ दिया है" बस फांसी हो गई। हैकोठ और नन्दन तक फांसी बहाल रही।[2]

यह यद्यपि वार्तालाप लगता है पर है लेखक का कथन—

"सचमुच प्यारु डाक्टर का पुराना नौकर है। टेबिल कुर्सी ठीक से लगा दिया है सीढ़ी में ही लगी हुई गोल कड़ी में लाल मुनिया का कठौता बैठा दिया है। ढोल में कल लगा हुआ है। कल टीपने से पानी गिरने लगता है'' खस्सी बकरी की अतड़ी का भीतरी हिस्सा जैसा रोयादार होता है वैसा ही गमछा है'''अरे, कपड़े धोने वाला नहीं, गमकौआ साबुन चाहिये।"[3]

---

१. 'मोरभाल' पृष्ठ ६।
२. 'मैला आंचल,' पृष्ठ ७४।
३ वही, पृष्ठ ५०।

वार्त्तालाप की भाषा पर तो आंचलिकता का सुन्दर पुट है। रामकिरपाल सिंघ स्वयं महत्त्व प्राप्त करने के लिए अपना परिचय यों देता है—

"हुजूर, पत्रली को भलाय के वास्ते इतना दूर से कष्ट उठाकर आया है और हम लोग हुजूर का कोई सेवा नहीं कर सकते। • हुजूर, सेवक का नाम रामकिरपाल सिंघ वल्द गरीबनेवाज सिंघ, मोसफा, जात राजपूत, मोकाम गढ बुन्देल राजपुताना, हाल मोकाम मेरीगंज।'[१]

बालदेव गोप नेता बन गया है—

'पियारे भाईयो, आप लोग जो आन्दोलन किये हैं, वह अच्छा नहीं। आपना कान देखे बिना कौआ के पीछे दौडना अच्छा नहीं। आप लोग हिंसाबाद करने जा रहे थे। इसके लिए हमको अनसन करना होगा। भारथमाता का गांधीजी का यह रास्ता नहीं।'[२]

जहां आंचलिक पात्र के आपसी वार्त्तालाप है वहां भाषा पूर्ण रूप से आंचलिक हो गई है जैसाकि फुलिया की मां और रामजू की स्त्री की इस लडाई में दिखाई देता है—

'अरे हा हा, बेटी बेटी केकरो, घी ढारी करे मगरो चालनी कहे सुई से कि तेरी पेंदी मे छेद! हाथ मे कगना चमका रही हो, खलासी को एक पुडिया सिन्दूर नहीं जुडता है?"

"मुह सम्हाल कर बात कर नैगडी! बात बिगड जायेगी। खलासी हमारा बहन बेटा है अपने खाम भतीजा नेतरा के साथ भागी तू और गाली देती है हमको? सरम नहीं आती तुझको! बे सरमी, बे लज्जी! गुअर टोली के कलरू के साथ रात रात भर भैंस पर रमलीला करती थी सो कौन नहीं जानता है? तू बात करेगी हमसे?"

"रे सिंघवा की रखेली! सिंघवा के बगान का बम्बै आम का स्वाद भूल गई? तरजन्ना मे रात रात भर लुकाचोरी मैं ही खेलती थी रे? कुरअखा बच्चा जब हुआ था, तो कुरअखा सिंघवा से मुह देखौनी मे बाछी मिली थी, सो कौन नहीं जानता।'[३]

इस वार्त्तालाप को मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग ने अत्यंत प्रभावशाली बना दिया है। इस प्रकार के प्रयोग सामान्य भाषा में भी अत्यंत प्रभावोत्पादक हो जाते हैं जैसे—ग्राम पंचायत में झगडे की यह चरम सीमा—

'पंचों को लकवा मार गया है साधुओं की हालत खराब है। पंचों के ऊपर हवाईयां उड ही रहें। और सबों के बीच, कालीचरण हाथ मे दलील लेकर

१ मैला आंचल, पृष्ठ १२।

२ वही, पृष्ठ २५।

३ वही पृष्ठ ७७।

सिकन्दरशाह बादशाह की तरह खड़ा है। पलक मारते ही क्या से क्या हो गया! जैसे रामलील्ला का धनुषजग हो गया।[१]

आंचलिक मुहावरें अपने आप में अत्यंत आकर्षक हैं—

यादव टोली के लोगों ने बालदेव से माफी माग ली है— बालदेव भाई हम लोग मूरख ठहरे और तुम गियानी। हम कूप के बेंग है।[२]

भण्डारे के संबंध में हिवरनसिंघ के बेटे ने कहा— बालदेव यदि इन्तजाम कार रहेगा तो महथ साहब का भण्डारा भड्डुल होगा।[३]

रामकिसन बाबू का अन्तरत रूप था।[४]

कान भरने के लिये सिंघजी कहते हैं काग भुसुण्डी इसके कान में मंतर पढ़ रहा है।[५]

ग्रामीण लोग जुलुम शब्द का मनमाना प्रयोग करते हैं यहा के लोग सुख संवाद सुनकर भी कहते हैं— जुलुम बात! जुलुम हसी जुलुम खुसी![६]

शब्दों के आंचलिक रूप मैथिल प्रवृत्ति के अनुसार ही बने है—मिलटरी मनेटरी है जल जेहल अस्पताल इसपिताल स्कूल इस्कूल पढा लिखा ए बी सी डी पास और इन्कीलास जिन्दाबाध खरमी भ्रीच ही नही व्यक्ति वाचक सज्ञाए भी आंचलिक हो गई है—रामलगीना बाबू लोबिनलाल राम किरपाल सिंघ शिव शकर सिंघ रामपियरिया आदि। यहा वाद विवाद 'बतकुट्टी' है और सगाई 'चुमौना' आन्दोलन हूलमाल है और टोटका तुक्तान। लोगो की आदत उपसर्ग लगाकर बोलने की है—कर कचहरी खर-खजाना जर जमीन पर पचायत बर बरात मर महाजन।[७]

भाषा में काव्यत्व एवं भावत्व के भी सुन्दर उदाहरण इस उपन्यास में प्राप्त हो जाते है—

चैत की गोधली में अपनी सारी तेजी खोकर सूरज ने श्याम सलोनी सध्या के आंचल में अपना मुह छिपा लिया था। दूर तक फैली हुई ताडो की पक्तिया कुछ मटमैली कुछ सिन्दूरी-सी पृष्ठ भूमि मे गर्दन ऊची करके सूरज को अतल गहराई में डूबते हुए देख रही थी।[८]

---

१ मैला आचल पृष्ठ १२२।
२ वही पृष्ठ १८।
३ वही पृष्ठ ३४।
४ वही पृष्ठ ४४।
५ वही पृष्ठ ५१।
६ वही पृष्ठ २८५।
७ वही पृष्ठ ११३।
८ वही पृष्ठ १६०।

"गुलमुहर के लाल-लाल फूल बुझ गये और अमलतास की पीली ओढ़नी न जाने कब मरक कर गिर पडी। किन्तु योजन-गधा अब भी पागल बना रही है।"[१]

भाषा का यह दूसरा रूप परती परिकथा मे अधिक आकर्षक बन पडा है। उपन्यास के प्रारभ मे ही धरती के रूप पर यह प्रयोगवादी कविता ही तो है—

"धूसर वीरान, अन्तहीन प्रान्तर···
पतिता भूमि, परती ज़मीन—बन्ध्या धरती···
धरती नहीं धरती की लाश जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं
बालूचरो की पक्तिया।'[२]

मिसेज रोजउड और ताजमनी से सबधित अनेक विवरण काव्य का-सा आनद देते हैं। भावत्व की गहराई से निकला हुआ यह भाषा का रूप अत्यत प्रभावशाली है—

"और एक सहस्र राकस धरती पर दात मारते हैं—खच्चाक्
ढाक्···ढक्कर·· ढाक· ढक्कर· ·
कोड भैर्रा—र्रा—आ—हे! फोड भैर्रा आ—ह!
भरी राती मे खोदाय, पनिया छह-छह, छहाय
नदिया दे वो बहाय—य—य
हेय आख मारे!
हो य दात मार—रे—ए—ए · खच्चाक्
खट्रक! ढाक · ढक्कर, ढाक—ढक्कर···
कुह कु क्का, कुह कु क्का!"[३]

इस प्रकार के प्रयोगो से साधारण बोलचाल की भाषा मे लोक-रग उभरे हैं। भाषा स्वाभाविक है, वह यदि साहित्यिक नही तो असाहित्यिक भी नही है। "सर्वत्र भाषा मे सौष्ठव है और अपनी परिनिष्ठा से स्खलित वह नही हुई। गद्य की भाषा का यह परिष्कार है, उसकी शक्ति का विस्तार है·· जन-भाषा के प्रयोग मे यह प्रेमचन्द से आगे का चरण है।'[४] 'परती परिकथा' की भावो के अनुकूल भाषा को देखकर यह स्वीकार करना पडेगा की मिथिला की भूमि गद्य मे भी विद्यापति उत्पन्न कर सकती है। एक प्रादेशिक भाषा के शब्दो मे इतनी सामर्थ्य भर देना रेणु' का ही काम था।

नागार्जुन का 'वरुण के बेटे', 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' के समान भावुकता से परिपूर्ण नही परन्तु भाषा के आचलिक रूप उसमे भी कुशलता से

१ 'मैला आचल', पृष्ठ १६१।
२ 'परती परिकथा', पृष्ठ ६।
३ वही, पृष्ठ १६०।
४. श्री धनजय वर्मा, 'परती परिकथा एक स्वतत्र कलाकृति' (आलोचना ५७) पृष्ठ ८४।

प्रकट हुए हैं। गरोखर में महाजाल डाले जाने का यह विवरण लेखक ने इस प्रकार दिया है—

"महाजाल दक्खिन की तरफ से किनारे-किनारे फैला दिया गया है। बीच में दो डोंगिया, पाच छट-नई केले के आठ-दस थम हेला दिये गये। महाजाल का एक छोर पूर्व की ओर था, दूसरा छोर पश्चिम की ओर।...नीचे लोहे की गोटिया उसे पानी के अन्दर तले से लगाए हुए थी और तूबियों का दबाव ऊपर टाने हुए था।"[1]

और यह है मछलियों का विवरण—

"लाल-लाल मुह वाले रेहू अपनी रुपहली और सुरमई छिलकों में खूब ही फब रहे थे।...गोल-मोल खुला-खुला मुखड़ा ऐसा लगता कि पट तक खोली ही खोली होगी। इन्द्र-धनुषी सूरत एक-एक बेहद नुकीली मूछें और लम्बी छरहरी डील की अपनी तूबियों से बुआरी मछलिया सबको आकर्षित कर रही थी। मट-मैली चिकनी सूरतवाले भाकुरो की शान निराली ही थी। चिकनी चाटी—रुपहली मोदनी पर तो निगाहे टिकती ही नहीं थी। भुन्ना का भी यही हाल था। नैनी रेहू का ही सगा लगता था ...।"[2]

मधुरी के गौने के समय मधुरी की मा के मुह से बड़ी मुश्किल से ये शब्द निकले—

"और हमारी सोन-छड़ीको जो सराहती, वह इस धरती पर नहीं रही। चली गई है सरगउली हाट—ससुर है तो बुढवा, ताड़ी पीकर धुत बना रहता है बहिना, फिकिर के मारे पलकों से नीद उड़ गई है हमारी।'[3]

इसी प्रकार मा अपनी बहू की प्रशसा इन शब्दों में करती है—

"बहू तो हमारे घर ऐसी आई है बहिना कि तुझ से क्या बताऊ। बड़ी लछम-निया है बहिना, बोलती है तो टहनी हिलती है और हरसिंगार झरते हैं। मुस्काती है तो चानन का लेप लगाती है ...।"[4]

यहा 'बहिना', 'बुढवा', 'सोन-छड़ी', आदि शब्द ध्यान देने योग्य है। कही-कही चलती भाषा में एक-दो शब्द रखकर आचलिकता का समावेश कर दिया गया है जैसे सद्य: प्रसूता के लिये 'बिकाउर' शब्द—

"और वह बिकाउर बेचारी कामरेड, मैं आग लगा दूगा स्टेसन में।'[5]

"टोह लेकर मालूम किया तो किनारी की लोहे वाली भारी-भारी गोटियो

१ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ६४।
२ वही, पृष्ठ ७२।
३ वही, पृष्ठ ४६।
४ वही, पृष्ठ ४६।

में दो को ढोंके की दतुर खोडर मे फंसा पाया।"[1]

मछुआ जीवन मे प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं—दहनाल, सरकियां, फाडी, सरैला, टापी, गरचुन्नी, इच्चा, अन्हई, मुगरी आदि।

यथार्थ जीवन को चित्रित करते हुए भी कई स्थानो पर नागार्जुन का कवि प्रकट हो जाता है—

"काले पाग की ददामी तिथि का अधूरा पिल-पिला चाद निकल आया था। तारे अब भी ढीठ बने हुए थे। अपनी-अपनी शान मे चमक रहे थे। गरोखर की हल्की-हल्की पतली-पतली भाप उठकर पूस के उन कुहासों को घना बना रही थी।"[2]

"धौली तेरस की गाढी-दूधिया चादनी क्रिमुनभोग की घनी छननार डालो के तले आ नही पा रही थी किन्तु अपनी दमकती परछाईं से अधकार की गहन कालिमा पर हल्की-हल्की सी पोची वह अवश्य फेर रही थी।"[3]

मछली पकड़ने की क्रिया को उपन्यासकार ने शब्दो मे बाध दिया है—

"कितनी हुईं कुल ?
···पन्द्रह और सात।
फिर थूक फेंकने की आवाज, पिच्च।
फिर जाल फेंकने की तैयारी······
मोटी आवाज, धब्ब !
पानी मे मानो लोदा गिरा···
बुल बुल बुल बुल बुल बुल बलुब बुब बुब,
बुलबुले उनकी बुडबुडाहट।
·················
भोला ने बिजली की फुर्ती से बाह घुमाई, मूठ खोलकर जाल पानी मे फेंक दिया—
·· ··· भा ा ा ा ा प।"[4]

'सागर लहरें और मनुष्य' में भी मछलीमारो का जीवन चित्रित किया गया है परन्तु उसके मछलीमार मराठी-गुजराती भाषी क्षेत्र के निवासी हैं अत उनकी भाषा पर दोनो का प्रभाव दिखाई देता है। यह बात वार्तालाप मे अधिक प्रभावशाली ढग से उपस्थित हुई है। लेखक के विश्लेषण की भाषा सामान्य हिन्दी ही

१ 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ६।
२ वही, पृष्ठ ७।
३ वही, पृष्ठ ५१।
४ वही, पृष्ठ ४।

है। पात्रों की भाषा भी हिन्दी है परन्तु मराठी-गुजराती से प्रभावित—

"मग।" उत्सुकता से आँखें नचाती वशी ने पूछा।

"मग क्या, मर गया होयेंगा साला।"

"और पुलिस मे जायेंगा तो ?" जैसे डर गई हो।

"हम दादागीरी निकाला, साला बूम मारता था।'[1]

मछुओं की यह बात-चीत भी बड़ी स्वाभाविक है—

"मजेदार है तो तूई कर ने'—एक ने सगार कर हसते हुए कहा।

"माहीम के मछुआ के घर नहीं रहा, मग कौन के साथ रहने का ?"

"औरत कू आदमी मागनाय।

"और आदमी कू बाई।'[2]

इस प्रकार मग, दादागीरी, बूम मारना, बाई आदि के साथ मछलीमारों की भाषा के शब्दों का भी मिश्रण हो गया है—तोफान, हडकम्प, ताडेल, होडी आदि।

इस यथार्थवादी भाषा म काव्य के उपादानों का भी समन्वय स्थान-स्थान पर हो गया है—

"पूनो की रात। आकाश मे दूध की धार बरस रही थी। धरती का कोना-कोना हस रहा था। समुद्र की सतह पर जहा तक निगाह जाती मोतियो का चूरा बिछा था। लहरो की आकाश चूमनेवाली ऊची दीवारो के किनारो पर फेनो की गोट लगी दीख पडती थी। अभिमान की तरह लहरें ऊची से ऊची उठ रही थी। सारा समुद्र एक महान खिलाडी के उल्लास उमग मे उत्तरग हो रहा था।'[3]

"उस समय पश्चिम के समुद्र की छाती पर अपनी किरनो का बिस्तर बिछाये सूर्य लेटने जा रहा था। सोने के इस अस्तर की उठती लहरो के किनारे कही उन्हे दूध सा सफेद बना रहे थे, कही नीली और हरी चादर पर सलम-सितारे की सुनहली और रुपहली गोट जड रहे थे।[4]

समुद्र एव तूफान के वर्णन लेखक की भाषा, सामान्य हिन्दी, म ही हैं। उनमे 'परती परिकथा' की भाषा की सी कला नही है परन्तु प्रभावोत्पादकता उतनी ही है। मछुओं की अपनी भाषा उनके वार्तालाप तथा लोक-गीतो मे उद्घाटित हुई है। यह है लोक-गीत का रूप—

"हाय हाय हाली मेला तू जायगो
हाय हाय होली उनारू जायगो।

---

१ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ ६७।
२ 'सागर लहरें और मनुष्य' पृष्ठ ५७।
३ वही, पृष्ठ ३।
४ वही पृष्ठ ८।

वालाचा वाल केट फ्रेउनी जाये
वारा महिन्याची माभी होनू वाई···।"[१]

'कब तक पुकारूं' आत्मकथात्मक उपन्यास है इस कारण इसमे लेखक की भाषा और पात्रो की भाषा मे अतर करना सरल काम नही। लेखक तो बीच मे आ ही नही सकता। फिर भी विवरण और वार्त्तालाप की भाषा में अतर दिखाई देता है। विवरणो मे भाषा का सामान्य रूप ही मिलता है केवल शब्दो के कुछ विकृत रूप उसे सामान्य हिन्दी से भिन्न कर देते हैं जैसे—

"गाव बाहर के घूरे मे कोई सूहर घूम रहा था और दूर पुरबिनी वाले बाबा जी के मदिर मे दिया जल रहा था।"[२]

परन्तु वार्त्तालाप की भाषा मे जन-भाषा का अत्यत स्वाभाविक तथा प्रभावशाली रूप व्यक्त हुआ है—

"अरे बारे! "उसने कहा" तू तो अक्ल का बडा मट्ठा है। कल झोपडे मे रहके राजा का सतखण्डा कुआ देखकर कहेगा कि यह कैसा बनाया गया होगा? ओ दारी! एक कोरिन ने कया था, लगता है महल के बीच मे कुआ ऊपर से उतरा होगा।"वह हसी' भला बता, राजा के लिये कुछ मुस्किल है।"[३]

भाषा मे कहीं-कहीं भावुकता अपनी चरम सीमा पर पहुच जाती है और उपन्यासकार गद्य गीत लिखने लगता है—

"वे नेत्र नही रहे थे। वह समुद्रो की अतिम रोर थी, जिसने क्षितिज पर उठते हुए अरुण का अभिनन्दन किया था। वह वनान्तो की झूम नही थी। महकते हुए वसत को आज कानन ने दोनो हाथ खोलकर उतर आने का आवाहन दिया था। वह महागिरियो का अभिमान नही था, हिम-शृगो का किरणो के तप से पिघलने के पहिले, रस बनने के पहिले का जीवन-सचरण था।"[४]

इस उपन्यास की आचलिकता प्रमुख रूप से कथा, चरित्र चित्रण एव जीवन-चित्रण मे है। भाषा के सबध मे उपन्यासकार अत्यत उदार रहा है इसी कारण नटो की बोली, मुहावरो, लोक-कथाओ आदि की सयोजना उसने नही की है। लोक-गीतो तक के अनुवाद कर दिये गये हैं। आचलिक भाषा की दृष्टि मे इस कारण कुछ दुर्बलता आ जाती है फिर भी नटो की बोली की प्रकृति एव शब्दो का स्थान-स्थान पर समावेश हो गया है जिससे स्वाभाविकता बनी रहती है।

श्री रागेयराघव का 'काका' मथुरा नगरी से सबधित उपन्यास है जहा की भाषा व्रज-भाषा है। व्रज-भाषा के सबध मे सबसे बडी कठिनाई यह है, कि वह

---

१ 'सागर लहरें और मनुष्य', पृष्ठ २२२।
२ 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ ४९।
३. वही, पृष्ठ ११४।
४ वही, पृष्ठ ६३।

इतनी समृद्ध है इतनी साहित्यिक है और इतनी जानी पहिचानी है कि उसे लोक भाषा कहना रुचता नही। सामान्यत यमुना मथुरा वृदावन मक्खन मिश्री कृष्ण कन्हैया और सूर के पद साहित्यिकता का निर्माण करते हैं परन्तु इस उपन्यास मे लेखक ने इनका प्रयोग आंचलिकता के निर्माण के लिये किया है। लेखक की स्वय की विश्लेषण की भाषा तो सामान्य हिन्दी ही है पर तु ब्रज भाषा का कही हल्का रग है और कही गहरा। एक ओर बिन्दिया और रामधुन का वार्त्तालाप है जिसमे यदा कदा ही ब्रजभाषा के शब्द आते हैं—

बहुत मस्ता गए हो तुम। उठो चलो मेरे साथ।
कहा? रामधुन ने पूछा।
जहा मैं चलती हू।
तो भी?
अच्छा तो लाला को डर भी है? मैं तुम्हे भगा ले जाऊगी। ऐसे तो बड मलूक हैं न?

छोडदी होती। और वह काता जो अभी हिए म गस रही है? मुझ से बनने हो? लाला म तुम्हारी नस नस जानती हू । [1]

दूसरी ओर काका और परमसुख की यह बात चीत है—

'काका परमसुख ने पानी के बाहर गदन निकाल कर कहा— अब की पून्यो को गोरधन परिक्कमा म चिरजी को अचानक सौ का लोट मिला। भाग जागे तो ऐसे।

पर काका ने उत्तर दिया— मन म सरधा न सही पर उस कारे ने तो उसे ठीये से लगा दिया । [2]

परमसुख ने कहा— काका कहा चले?
भइया नेक घर जाना है।

काम धध का दिन पडा है काका। अब जिजमान के ढुरकया कैसे पचगे जो जमुना मया की धार म नही लोटोगे। [3]

सूर के पदो के अश कही कही अत्यत स्वाभाविक रूप म उपन्यास म आये है—
काका के बहलाने मे गिरिधर जब अपने घर म घुस गया तो काका ने पुकारा—

१ काका पृष्ठ १५३ १५४।
२ वही पृष्ठ ३।
३ वही पृष्ठ ४।

"राधे राधे……"
"पौरी मे पगु चिल्लाया—भैया राधे राधे—क्या कही है—हाय हाय—मधुबन तुम क्त रहत हरे "अरे तुम क्यों हरे रहते हो भैया ……"
……………

काका ने कहा "हा भैया यही हूं। यही तो कहती है कि ठाड़े क्यो न जरे। हा हा, उसके बिना किसे चैन है" किसे चैन है" माया अपार है, तेरी माया अपरम्पार है "राधे राधे "।"[1]

ब्रज-भाषा की साहित्यिकता ने लेखक की सामान्य हिन्दी से मिलकर हिन्दीत्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसमें अपनी माधुरी का पुट दे दिया है। सबसे अधिक तो पात्रो की भावुकता के साथ भाषा की माधुरी का इतना सुन्दर समन्वय हो गया है कि सम्पूर्ण उपन्यास एक अजीब-सी मधुरिमा से परिप्लावित दीखता है।

'लोक परलोक' मे भाषा के वे अनेक रूप नही दिखाई देते जो 'मैला आचल' अथवा 'परती परिकथा' की विशेषता है। यहा भाषा के प्रमुख दो ही रूप दिखाई देते हैं—सामान्य हिन्दी और ब्रज-भाषा। प्रवाहपूर्ण सरल हिन्दी का प्रयोग लेखक ने विश्लेषण के लिए किया है, आचलिक पात्र भी उसी का प्रयोग करते हैं। केवल ब्राह्मण एव पण्डे ब्रज-भाषा का प्रयोग करते है। विश्लेषण की भाषा सामान्य प्रवाहपूर्ण हिन्दी है परन्तु वार्त्तालाप मे देशज शब्दों के मिश्रण से उसका अत्यत सशक्त रूप प्रकट हुआ है—

"आखो मे धूल झोकते है साले। यात्रियों का माल चरते हैं सो ऊपर से। उनकी औरतो को घूरते है सो घाते मे। जैसे सारे सुख इन बमटो के लिए हैं? अब से हर ठाकुर की पत्तल लगा करेगी…ये साले माल चरें और हम टुकुर-टुकुर देखते रहे?"[2]

ब्राह्मणों का इससे विरोध है—

"सिरफ याई गाम मे ठाकुरन कू देवी को चढायो लेत देखो है, तुम जानो ठाकुर जि तो बामनन को काम है।"

"बामन क्या साले दूसरी जगह से पैदा होते हैं, और ठाकुर दूसरी जगह से, क्या फरक है हममें तुममें?"[3]

दुर्गासिंह ब्राह्मणों की भाषा का बडा स्वाभाविक रूप उद्घाटित करता है—

"जामे बुरी बात काये, नाय का वे दन्टुट्टा, गजे, हम तो साप कैते। काऊ

१. 'काका', पृष्ठ ३६।
२ 'लोक परलोक', पृष्ठ १२।
३. वही, पृष्ठ १३।

भली लगे चाहे बुरी। तुमई देखो तुम्हारौ खपरा सौ मो नायें···"हम पै नाय होति काऊ बाप-फाप की इज्जत, हम नाय माने काऊ सारे कू।"[१]

इस प्रकार आचलिकता भाषा मे उतनी मुखर नही जितनी कथानक, पात्र निरूपण एव शैली मे है।

श्री नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर नाथ' और 'नई पौध', मिथिला के जन जीवन पर आधारित हैं अत उनकी भाषा पर मैथिल का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। विवरण एव विश्लेषण की भाषा आचलिक रूपो के प्रयोग से स्वाभाविक बन जाती है—

"खोखा पण्डित ने मिर्जई पहन, माथे पर पगडी डालकर दूसरे दिन अनुगुत्ते इसटीसन का रास्ता पकडा था।"[२]

"तार सराय म आकर बाबा ने इक्का ठीक किया। इक्केवान ने उस पर बाम की दो कैनी लगाकर ऊपर से तम्बुआ बनाया ।'[३]

"इस ओसारे पर छ महीने का चिलका गला फाड-फाड कर मर जाय तो उस ओसारे पर बैठी चिल्काउर को पता न चलेगा··।"[४]

"हिलती-डुलती गाडी मे ऐसा लग रहा था कि मलिकाइन के कलम बाग म मचकी झूल रहा हू। नीचे पैर के बिल्कुल नीचे रेल के पहिये हड़ाक्-हड़ाक् कर रहे थे। जुडे हुए डब्बे ढब्बर ढब्बर बोल रहे थ। ऍंजन भऽभऽ काली, भऽभऽ काली करती चली जा रही थी।"[५]

शैली की विशिष्टता क कारण इन उपन्यासो मे वार्त्तालाप के लिए पर्याप्त स्थान नही था फिर भी जो वार्त्तालाप हैं वे मैथिल से प्रभावित है—

"खोखा पडित की नतनी का ब्याह हो रहा है।

—कहा का लडका है?

—लडका! हि हि हि लडका!!

—ठूठ पीपल की गाठ उठा लाया है पण्डित!

—भग।

—अ दुर जो सच कहती हू तेरी कसम!

—खचिया भर रुपैया गिनाया है पण्डित ने।

—अगे मइया! एको गो दात नही होगा उसके··

१. 'लोक परलोक', पृष्ठ ३९।
२ 'नई पौध', पृष्ठ १४।
३. 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ६३।
४. 'बलचनमा', पृष्ठ ४१।
५. वही, पृष्ठ ४५।

—बुढवा भारी मातबर है।"[1]

नागार्जुन का कवि विवरणा मे कुशलता से अभिव्यक्त हुआ है। ऐसे स्थानो पर भाषा अपेक्षाकृत परिमार्जित हो जाती है—

"आगे खेतो मे धान के हरे-हरे पौधे लहरा रहे थे। उनसे परे आमो की नील-निबिड कुज थे। उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश मे हिमालय की धवल-धूमिल चोटियां थी जो उगते हुए सूरज की पीली किरणो से उदभासित होकर स्वर्ण-शृग सी लग रही थी।"[2]

"अजोरिया की तेरस, रात की दुपहरी। गाव भर, खेत बाग, बड-पीपल, ताड, सब झकाझक सब धुले हुए, सभी उजले थका-थका के बेसुध पडी धरती पर चन्दरमा भर भर सूप दूध उभिन रहे थे।'[3]

नागार्जुन के उपन्यासो का जीवन समस्याओ से बोझिल है। उनकी प्रवृत्ति मे लोक गीतो तथा लोक-ध्वनियो के चित्रण के लिए स्थान नहीं था। इसीलिए उनके प्रयोग उपन्यासो मे नही के बराबर है।

आचलिक उपन्यासो के अतर्गत परिगणित किये जाने वाले उपन्यासो मे ऐसे उपन्यास भी कम नही है जो कुछ ही तत्त्वो मे आचलिकता का समावेश होने के कारण आचलिक मान लिये जाते हैं। ऐसे उपन्यासो मे भाषा का तत्त्व आचलिक होता ही है। यही नही, कभी-कभी तो केवल इसी एक तत्त्व के कारण उपन्यास को आचलिक मान लिया जाता है भले ही उसके अन्य सभी तत्त्व अनाचलिक ही क्यो न हो। ऐसे उपन्यासो मे प्रमुख हैं 'लोहे के पख', 'गगा मैया', 'मुक्तावती' आदि। परन्तु ऐसे उपन्यास अधिक हैं जिनमे भाषा-तत्त्व के अतिरिक्त एक-दो और तत्त्व भी प्रधान हो गये है जैसे 'पानी के प्राचीर', 'आदित्यनाथ', 'नदी फिर बह चली', 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन', 'लोक लाज खोई'। पहिल इन दूसरे प्रकार के उपन्यासो की भाषा पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा।

'पानी के प्राचीर' मे सामान्यत साहित्यिक हिन्दी का ही प्रयोग हुआ है परन्तु पूर्वी उत्तर प्रदेश का लोक रग देने के लिए पूरबी के शब्दो एव मुहावरो का विस्तृत प्रयोग भी स्थान-स्थान पर प्राप्त हो जाता है—

"फाग की मस्ती उतरी नही कि चैत की मादक गध प्राणा से फूट पडी।··· पाकड मे टूसे आ गए हैं जो कही-कही लाल-लाल कोमल हथेलियो की तरह पसर गए हैं। आम्र-मजरियों की गध झकाझक उड रही है।'[4]

इसी प्रकार आचलिक मुहावरे भी बडे प्रभावशाली है। परन्तु भाषा का

1 'नई पौध', पृष्ठ ३२।
2. 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ११५।
3 'वलचनमा', पृष्ठ २१७।
4. 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ २२।

अत्यत स्वाभाविक रूप वार्त्तालापो मे व्यक्त हुआ है—

"कौन है तू ?"
"गडही मे क चुरइन हई चुरईल।"
'तू कैसे आयी ?"
"सेनुरे मे दिहलसि रे सेनुरे मे।"
"कौन दिहलसि ?"
'ऊ उ उ ऊ   ऊ !"[१]

कही-कही यह भाषा इतनी क्लिष्ट हो गई है कि उपन्यासकार को उसके अनुवाद सरल हिन्दी मे देने की आवश्यकता स्वय अनुभव हुई। मेले मे भूत-प्रेत से प्रभावित एक स्त्री अपना परिचय दे रही है—

'हम एकर सवति हुई रे, हम आपन पाच बरसि के लडका ले ले रन वन मे घुमत बाटी ;आ इ हमरे मरदे के साथ मउज करति बा। एकर दूध पिया के हम लडका जियावत बाटी, एके हम नाही छोडब रे नाही छोडब।'[२]

रग्घू बाबा और बैंती काका के मजेदार वाक्-युद्ध, जिन्हे गाव के लडके 'चत्यू-चिटर पिटर' या तनी देखल—जे दासे का युद्ध[३] भी कहते हैं आचलिक भाषा का सुन्दर रूप उद्घाटित करते हैं।

वातावरण के चित्रो मे भाषा का कलात्मक रूप निखरा है और चित्रणा म प्रभावशाली। उदाहरणार्थ बाढ का यह दृश्य शब्दो एव ध्वनि के माध्यम से जल-प्रकोप का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है—

"घुर-घुर, घुर-घुर पानी की धार गडही मे गिर रही है। गडही और खेत देखते-देखते एक हो गय। गाव के चारा ओर पानी ही पानी। आदिगत सफेद-सफेद फेन फैनता जा रहा है—

ह—ह—ह—हास" हा—ह—ह—ह—हास भेडिया उछल रही है। तेज पुरवा हुहुकार रही है। ऊपर पानी बरस रहा है। और बाढ की ऊची तरगे ह ह हास हह हास कर रही हैं ।'[४]

काली माई के थान पर रहस्य-रोमाच और अन्ध-विश्वास का अजीब सा वातावरण है—

"भम भम भम भम
डिम डिडिक डिडिक
भम भम भम भम

---

१ 'पानी के प्राचीर, पृष्ठ ३७।
२ वही, पृष्ठ ३५।
३ वही, पृष्ठ ५९।
४. वही, पृष्ठ १३५।

आ'''देवी दरसनवा के जाव'''।"[१]

लोक-गीतों की सयोजना आचलिक भाषा के मधुर रूप को ही अभिव्यक्त करती है—

मेजिया से मैया रूसि गइनें हो कइलरि
तोरी मीठी बोलिया
....

होत भिनसरवा मे अगिया लइवो
अवर वटइवो धन निबिया हो राम।"[२]

'नदी फिर बह चली' मे भी पूर्वी उत्तर-प्रदेश के लोक-जीवन के चित्र हैं परन्तु आचलिक भाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल है क्योंकि लेखक ने पूरबी के शब्दों को ही ग्रहण किया है उसकी रचना एव उसके व्याकरण को नही। लेखक ने हराजी गाव के सबध मे लिखा है—

"गेहू की कटनी खतम हो चुकी थी। हर साल की तरह गाव के बगीचे मे कई खलिहानें बन गई थीं। पोरसा, दो पोरसा की ऊचाई तक गेहू के बोझे सजाकर रखे थे। किसी की खलिहान मे दउनी शुरू हो गई थी, किसी की खलिहान मे ओसउनी। इधर मालिक के घर लडकी की शादी ठनी थी, उधर परबतिया की मा की देह भारी।"[३]

विवरणो की ऐसी भाषा के समान ही वार्तालाप की भाषा भी आच लिकता का सुन्दर पुट लिये हुए है—

'राम कहो भईया सइनी तो ऐसी है कि बस एक ही खिल्ली मे कठ जलने लगा।" मट्टनो बोला।

"मानपुर मे भी एक ही दुकान है, जहा यह सइनी मिलती है।"

'कहा, वही मियवा की दुकान न ?

"बस, बस समझ तो गये। तमाकू भी रखता है, नारियर नरचा भी रखता है।"[४]

इसी प्रकार मुहावरा और लोकोक्तियो का भी अच्छा प्रयोग हुआ है—

"एक तो तू रुपया लेकर भागी, उल्टे मुझे तुलसी तामा उठाने के लिए कहती हो ? छि छि तुम्हे तो चुरुआ भर पानी मे डूब मरना चाहिये।'[५]

"दिमाग मे पिलुआ काटने लगा, तो दस रुपए हथिया कर भागी। तुम्ह तो

---

१ 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ ३५।
२ वही, पृष्ठ २२।
३. 'नदी फिर बह चली', पृष्ठ ७।
४. वही, पृष्ठ ६१।
५ वही, पृष्ठ ८३।

मुह मे कालिख पोतकर एक कोने मे बैठना चाहिए'' बाप-दादे का नाम हगा रही हो।"[1]

"अपने दरवाजे पर कुत्ता भी बरियार होता है' ।'[2]

"अब मैं तुम्हारे दरवाजे को सात भाडू मारती हू। अब सुगिया तुम्हारे घर पर भाकने भी नही जायेगी'''।'[3]

"ठीक कहा है, बड जात बितिअवले, आ छोट जात लतिअवले ' ।'[4]

भावात्मक अश इस उपन्यास मे प्रभावशाली नही है। यह कथावस्तु की प्रकृति का आग्रह भी था क्योंकि वह भौतिक सघर्ष पर ही आधारित है। फिर भी लोक-गीत एव लोक-उत्सवो का समावेश है। धान-रोपनियो के गीत आचलिकता का सुन्दर रूप प्रकट करते है।[5]

लगभग ऐसी ही स्थिति 'लोक लाज खोई' की भी है। इस उपन्यास को आचलिकता प्रदान करने मे इसके भाषा-तत्त्व का प्रमुख हाथ है। इस तत्त्व की यहा विशिष्टता यह है कि इसमे आचलिक भाषा के हल्के एव गहरे रूप ही दिखाई देते हैं, कलाकार की भाषा अथवा भावात्मक एव आलकारिक भाषा का रूप इसमे प्राप्त नही होता। विश्लेषण की भाषा मे आचलिकता का पुट हल्का है परन्तु उसका रूप अत्यत स्वाभाविक है। एक-दो उदाहरण उपन्यासकार की भाषा की गहन जानकारी के उदाहरण के रूप मे पर्याप्त होगे—

"एक साल दमई की बारी मे जेठऊ कावरि खूब फली थी।'[6]

"आखिर उनकी निगाह जब अगनावाली ओसरिया की छान्ह की ओर गई तो देखा सामने छूरी खोसी थी। कबरी बिटिया गाव गोहार इसी को कहते है। ऐन चूल्हे के ऊपर थी और भौजी कोन-आतर सब छान आयी।'[7]

"नाम लालतासिंह है और दिल तावो से करिया है। खुशी खुशी देने को तइय्यार हो तो लेने मे उनको निमोसी है, वैसे बेइमानी से चाही गटई रेति के रख लेय, तनिको सरम-लिहाज नही है।'[8]

और यह है वार्त्तालाप की भाषा—

"नाही कौनो खास काम नाही है। जरा फैरइया की तलास मा जाति रहे

१ 'नदी फिर बह चली', पृष्ठ ८३।
२. वही।
३ वही।
४. वही, पृष्ठ २०६।
५ वही, पृष्ठ १८।
६. 'लोक लाज खोई', पृष्ठ १०६।
७. वही, पृष्ठ ५७।

अलग दिखाई दे (जैसे देश ' की समतल भूमि से पहाड़ो की पथरीली प्रकृति) यह लेखक का उद्देश्य रहा है '

"इतर प्रान्तीय पाठकों को मेरा कृतित्व दुर्बोध न लगे, इस ओर सचेत रहा हू। जो आचलिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनमे से अधिकाश को मैंने उनके अक्षर-आकर्षण अर्थ-गाम्भीर्य और ध्वनि-वैशिष्ट्य के आधार पर ही दिया है इस आशा के साथ कि इनमें से कई शब्द हिन्दी-साहित्य के शब्द-कोश की वृद्धि करने मे समर्थ होगे।"

उपन्यासकार अपने इस उद्देश्य मे पूर्ण सफल भी हुआ है। पाठक को ऐसा अनुभव होता है जैसे वह कुमायू प्रदेश में ही बैठा हुआ है और सब कुछ स्पष्ट देख रहा है। प्रारभ में कुछ कठिनाई अवश्य होती है परन्तु कठिन शब्दों के अर्थ पृष्ठात मे दिये होने के कारण कुछ पृष्ठ पढ जाने के बाद पाठक उनसे परिचित हो जाता है और तदुपरान्त भाषा में उसे रस मिलने लगता है। शैलेश जी के उपन्यासो मे आचलिक भाषा के तीन रूप दिखाई देते है—(१) अति-आचलिक भाषा, जैसी धौलछीना की स्त्रिया तथा भागुली-नदुली श्रमजीवी शिल्पकारिनें बोलती है। (२) हिन्दी मिश्रित आचलिक, जैसी अधिकतर पुरुष पात्रो द्वारा बोली जाती है। (३) अग्रेजी मिश्रित आचलिक, जैसी फौजी एव ग्राम के पढ़े-लिखे लोग बोलते है। उपन्यासकार की भाषा तथा कलाकार की भाषा दूसरे प्रकार की आचलिक भाषा होती है। इन उपन्यासो की विशेषता यह है कि भाषा की कई-कई उपयुक्त विशेषताए एक ही स्थान पर मिली-जुली दिखाई देती है। प्रथम प्रकार की बोली का उदाहरण जैता और उसकी नन्द गोबिन्दी के इस वार्त्तालाप से दिया जा सकता है—

गोविन्दी किंचित रोषपूर्वक बोली—"ठुली भौजी तुमका इतना सताती है मगर तुममे जरा भी किसी किसिम की होशियारी नही हो सकती ? ले मेरी चानि, मार त्यार ज्वात[१] कहने म तुम जैसा उस्ताद मैंने कोई नहीं देखा, नानि भौजी''।"

जैता बरबस ही मुसकुरा उठी—"एक ठुलि दिदी थोडा डाटती फटकारती हैं तो क्या हो गया, गोबी ?' एक मन तो कभी-कभी करता है कि मैं त चली जाऊ जहा गोठ बल्द नही रहा, वहा गल्वो का क्या काम ?"[२]

"अरे बबारे, गोबी तुमने तो मेरे गले मे अगाल डाल दी ! छूत कर दी—अब यहा गौंत कहा से डालेगी ।"

"अरे हट्ट ! तुम्हारी ठुलि दिदी को उठा ले जाए गणनाथ के मदिर के जटा-

१ ले मरा सिर, मार तेरी जूतिया।
२ 'हौलदार', पृष्ठ १४७।

धारी जोगी और वहा भरवाए अपनी अत्तर की चिलम अच्छा नानि भौजी, एक बात बता, फिर तेरे गले मे अगाल छोड दूगी।"

....

"तुम बताओ तो जरा, नानि भौजी, छूली कैसे होते है ?"

"इस सवाल का जवाब तुम्हें क्या होने पर मिलेगा—जब घाघरे मे पहली पाल के बेल-बूटे जैसे निकलेगे।"[1]

गाबुली का यह कथन पर्वतीय बोली का स्वाभाविक रूप ही प्रकट करता है—

"म्यौन पड जाये यह चौरी, इसके हाडो को बाघ लग जाए, इसकी कचुनी मे कीडे पड जाए। चार घटे से उपर हो गये ममारते-मसारते—मजाल है जो पगुरजाय।'[2]

दुरगुली पण्डित्याण का यह कथन मुहावरेदार भाषा का सुन्दर नमूना है—

"ऐसी बरसात मे भीगे पिनालू के पत्ते जैसी तर बातें तुम्हारे सूवी-भिण्डी जैसे होठो पर शोभा नही देती है—आखरी बखत मे तुम भी रग मे आ रहे हो अब।" जब फन-फून खत्म हो गए, उस समय बानर बोट मे बढाने वाली मसल तुम्हारी भी हो रही है। मैल को, सुबह सुबह जलेबी की खाली पुडिया—जैसी बातें रहने दो अब।"[3]

"भैस्याणी पण्डित्याण की तो अब यह हालत हो गई है कि जतिए लाख सूघते हैं और अ-अ करते रहे, भैस को तो बातवाली आना नही है।"[4]

फौजियो की अग्रेजी-मिश्रित भाषा का रूप वैसा ही होता है—जैसा हौलदार नाथूसिंह द्वारा प्रयुक्त भाषा का है—

"अब ये है तुम्हारी क्वारी। घास पात और गोठ खेत से आगे-पीछे की दुनिया इसके लिए क्या पता कितनी है, कहा है ? चार दिन मिलीटरी के फैमिली-क्वाटर मे मेरे साथ रह आती, तो फिर कोई पाता इसके ठसके-सलीको को ?··· अफसरो की औरतो के साथ टेनिस-बैडमिल्टन खेलती "ओ मैम, ओ नो, थैंकू भैरी मच" करती—डिरायग रूम मे गुलदस्ते लगवाती।'[5]

उपन्यासकार की भाषा मे जहा प्रेम-प्रसगो का अथवा भावुकतापूर्ण स्थितियो का चित्रण हुआ है वहा भाषा का अत्यन्त मार्मिक रूप प्रकट हुआ है। अलकारो का प्रयोग ऐसी स्थिति मे अत्यत सुन्दर हो जाता है—

"पर एक मन रमौनी का मन—बुरूश था, उसकी फागुनिया—सरसो सी

---

१ 'हौलदार', पृष्ठ १४७ १४८।
२ 'चिटठीरसैन, पृष्ठ १२६।
३ 'हौलदार', पृष्ठ २४५।
४. वही, पृष्ठ २४४।
५ 'चिट्ठीरसैन, पृष्ठ ७।

उमर थी एक चैतिया याद मोहनसिंग की थी तीसरी बैशाखी पवन सी पीताम्बर चिटठीरमैन फरफरा गया जिससे कच्ची फसल भी पकने लगती है।[१]

मन बुरूस इस साल शायद रमौती का बहुत ज्यादा फूला था। क्यो न फूलता एक फागुनिया उमर और कुसुमिया पिंड रमौती का उस पर चैत के महीने म चहकने वाले कफू पछी की कफू कफू कफू की जैसी एक रट मोहनसिंग की याद के सन्यासी क चिमटे की जैसी छणाक छणाक छणाक रमौ रमौ रमौ और तीसरा शनि बैशाखी पवन सा पापी मिटटी के तन को झकझोर गया पीताम्बर चिटठीरमैन।[२]

लोक गीतो और ध्वनि रूपो का प्रयोग भी अनुभूति की तीव्रता का प्रमाण है। भागुली और जसा के बीच का यह वार्तालाप ऐसा ही है— एक होठ हिलो रती हसी को हवा म फला दिया भागुली ने—द रे चोट लगी प्यार की हलकी सी घिनौडी चडी की पाख म घिनौडी कैसे उडी ? हाई ठीक हमारी नदुली व्वारी की तरह। द—रे—रे—रे हु हु हु कानो म कनसागली घुसी कानो म हुई फर हाई मेरी नदुली घिनौडी का गुनेल—जसी लगी उड नदुली फुर फुर ।[३]

चल वो वाला गीत गात हैं जो परार के साल चला था—हिरण मल्लो पगडडी को ठम लागछ त्यर द—रे—रे—त्यारा पिछरा हिरन जसमन भाजछ म्यर हिर रूपसा जगली बाट बजारा बाट पधर द रा रा रे—र—रे—रे—रे ।

तुम्हारा मुख दीठ पडती है तो जसे कठ का गीत कठ म ही किरमड के काटे जसा अटक जाता है कि लागी आग कमल वन जला कोकिल भई उदास—दिगौ फूल खिला ऐसा हतभागी भवरा उडा अकास क ो तुम्हारी शोभा होती—दिगौं कस कैस सुख तुम्हे हासिल होते ? मगर विधना करनी ऐसी करी—पानी गया तलाब को सूख मछली तडफडावे अधमरी अरे पापी परमेश्वरा जब हाय न दिए तब हलवा काहे को दिया ? वन मे फूली केतकी वन म ही मुरझाय—भवरा उडा अकास को उडके लौट न आये दिगौ ।[४]

हरकसिंह के विरागी अगो म नौताड देवता फूलता था— धि—रि—रि—रि—रि हिंगोत्त—छात्त ।

उधर ढाल की पाग गले म डाले पैया के दाए बाए मोटे सोटो को सप

---

१ चिटठीरमन पष्ठ ११६।
२ वही पष्ठ ११७।
३ हौलदार पष्ठ ३०६।
४ वही पष्ठ ३०८ ३०९।

सपाता उदेरामदास था—किनान्-किनात् कि-वयाना कुटी धिनान्-धिनान्-धिन्-ध्याना कुटी—"[१]

जहा उपन्यासकार प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है वहा भाषा शुद्ध हिन्दी हो जाती है—

"पहाडी प्रदेशो मे—विशेषकर हिमालय के पार्श्ववर्ती पहाडी-प्रदेशों मे, ऊची-ऊची पर्वत श्रेणिया होती हैं और, जैसे ललाट के नीचे शाश्वत नीराजना आखें होती है, ठीक वैसे ही, पर्वत-श्रेणियों की तलहटियो मे इकतारे जैसी बजनेवाली नदिया—

"'अल्हडा किशोरियों-सी फर्र-फर्र नाचनेवाली, होंठो के दायरे मे ही प्रतिध्वनित होकर रह जाने वाली—हु-हु हु की हुकार भरने वाली ''पर्वतराज हिमालय की सदैव ही जीवात—मूर्तिमान—सुवर्णा—सुमगला हिम-कल्लोलिनी बेटिया—पार्वतिया—"[२]

'आदिम्यनाथ' की सामान्य भाषा तो साहित्यिक हिन्दी ही है परन्तु प्रथम, द्वितीय एव चतुर्थ खण्डो मे आचलिक शब्दो का समावेश कर दिया गया है, परन्तु यह अत्यल्प है। आचलिक शब्दो तथा भाषा रूपो का किचित विस्तार से प्रयोग केवल तृतीय खण्ड मे ही है जहा मलाणा के जीवन का चित्रण है। वहा खस एव किराती रक्त के मिश्रण से बने समाज की 'कणाश' बोली मे आर्यभाषा के शब्द भी हैं और किराती अनार्य भाषा के भी—

वह (देना), मह (लेना), मी (आग), छा (नमक) जैसे शब्द किराती परिवार के हैं और भाऊ (बडा भाई), भाइच् (छोटा भाई), इया (मा) आदि आर्य-परिवार के शब्द। परन्तु ऐसे शब्दो का प्रयोग उपन्यासकार ने आचलिकता का पुट देने के लिए ही किया है। सामान्य भाषा ऐसी है—

"दूर-दार तो मालूम नही बाबा! तीन-चार तमाकू का रास्ता है इद्दर से'''और उद्दर 'जरो' से होकर तो और भी दूर! और भी दूर बाबा! आज भत् खाके चलो तो दूसरे दिन शाम को पहुचो—'एक बीसी' तमाकू का रास्ता''' बडा दूर बाबा!"[३]

ऐसे उपन्यासो पर जिनमे केवल भाषा-तत्त्व मे ही आचलिकता होती है विस्तार से विचार करना आवश्यक नही क्योंकि इनमे ग्रामीण जीवन की कथा मे कुछ वर्ग-विशेष के पात्रो से उनकी विशिष्ट अथवा विकृत बोली का प्रयोग कराने मे ही आचलिकता सीमित है। उदाहरणार्थ 'लोहे के पख' मे चमार मगरुआ तथा उसके समाज के लोग इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं—

१. 'हौलदार', पृष्ठ २५०।
२ वही, पृष्ठ १३६-१४०।
३ 'आदित्यनाथ', पृष्ठ १३६-१४०।

"पाली इसी दुःख को अंगेज नहीं होने के ओजह से हम भोरे का गाडी से कलकत्ता भाग आये। एहिजा आने पर पता चला जे हम नौकरी पर से डिसमिस कर दिये गये हैं'''इसलिए इधर रुपया-पइसा नहीं भेज सकने। सिमू से उधार-पईच लेकर काम चलाना। कमाने लगेंगे तो फेर रुपया पेठा देंगे।"[1]

उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में है इसलिए शब्दों के देशज एवं विकृत रूपों का प्रयोग सर्वत्र ही मिल जाता है

निनार, चाउर, उफ्फर पड़ना, एहिजा, अलुआ, पोस्काट, मोनमीजी, सकेन आदि।

'नेपाल की वो बेटी' और 'मुक्तावली' में भी इसी प्रकार आंचलिक शब्दों के सम्मिश्रण से भाषा की आंचलिकता को उभारा गया है। कहीं-कहीं ऐसे प्रयोग अत्यंत स्वाभाविक भी लगते हैं—

'हेमा झट डोका में पीतल की गागरी डाल और नाम्लो के सहारे उसे पीठ पर लादे लगभग दो फर्लांग दूर झरने से पानी लेने चली'' फिर लोहे के तीन पाये चूल्हे को जलाकर लोहे की 'ताप्के' में मक्ई भूजने लगी।"[2]

"पहिनी अपने स्वर में व्यथा भरकर बोली—'बेचारे' लाहुरे' 'मोगलान' में जिनगी गुदान करके हजार-पाच सौ कमाकर साथ लाया था! किस कुलगन में अभागे ने मुख्या की 'काछी' को देखा कि बेचारे का सत्यानास हो गया!"[3]

विवरणों की भाषा ऐसी है—

"पुरुष वर्ग सुरूवाल और मयलपोस अथवा भोटो के ऊपर 'इस्कोट' पहने था लेकिन स्त्रियों का साज-शृंगार पर्याप्त मुखर और भड़कीला था गुन्यू, चोलो, इस्कोट, पटुका, घलेक, और मुजेत्र ।'[4]

'मुक्तावली' में तो मणिपुरी भाषा के शब्दों का प्रयोग वस्त्र, भोजन-सामग्री, नाम आदि में भी किया गया है—

फनिक (लुंगी), इनफी (ओढनी), याउङ् छड० (भेड़ की झोपड़ी), इबेमा (बेटी) इबुङ०ो (बेटा), कार्जे (पैदल पोलो), सरेङ०, ङ०ाउच, पेम्बा, ङ०ातोन, आदि।

व्यक्तिगत नाम तो आंचलिक हैं ही जैसे थाम्बाल पोम्बी, तोम्बी सना, नेमनू हेइबा, आदि, विवाहादि रस्मों के नाम भी मणिपुरी हैं जैसे—

हायजबा (स्वयं योजित विवाह), कनजबा (अभिभावकों द्वारा योजित), वर-बारतन (वरात का निमंत्रण), फँगारुक (बांस की पेटी), तर्जेगलइ (मुकुट)।[5]

---

१. 'लोहे के पंख', पृष्ठ ६४।
२. 'नेपाल की वो बेटी', पृष्ठ ४२।
३. 'नेपाल की वो बेटी', पृष्ठ १६३।
४. वही, पृष्ठ ५६।
५. 'मुक्तावली', पृष्ठ ८०५ २०६।

जहां तक भाषा-तत्त्व का संबंध है 'जुलूस', 'बहती गंगा' और 'सेठ बांकेमल' की विशेष स्थिति है। 'जुलूस' में भाषा के तीन रूप दिखाई देते हैं—
(१) लेखक की विश्लेषण की भाषा—हिन्दी (२) बंगाली शरणार्थियों की, बंगला (३) अन्य पात्रों की खिचड़ी भाषा। सामान्य हिन्दी का रूप तो 'रेणु' के अन्य उपन्यासों जैसा ही है परन्तु बंगला एवं खिचड़ी भाषा इस उपन्यास में अपनी विशिष्टता रखती हैं—

—ए ! पागलेर मत हासो केन ?
—हसना भी गुनाह है ?···लाहौल ?
—आमि इंजिन बन्द कोर्बे ?
—आमि इंजिन बन्द कोर्लाम। नामो
—एखाने के न ?"·······।"[१]

"तालेवर गोढी का जो खट्टा हो गया·· शादी के पहिले एकदम 'लाट-गवर्नर-मिनिस्टर बालिस्टर' तो 'अलान' तो 'ढेकान' बोलकर ढेरी कर गये·· केवट-संघ, निषाद-संघ···मुख्तार साहेब सभी कमिटी के 'परसिडण्ड' हैं और बात एकदम 'फैलियर' है···।"[२]

'बहती गंगा' की भाषा के संबंध में पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है "इस बहती गंगा की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी भाषा जिसमें तनिक मिलावट नहीं, बनावट नहीं, सीधी, मुहावरेदार, सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी, भावों के साथ ऐसी झूमती, इठलाती, बलखाती, लचकाती, लहरें लेती, झूलती, मचलती है कि आप एक एक वाक्य को दस दस बार भी पढ़ें तो जी न भरे· ·"[३] परन्तु यहां उद्देश्य भाषा के रूप पर विचार करना है। बनारसी अथवा पूरबी का पुट उपन्यास में जहां-तहां बहुत प्रभावशाली बन पड़ा है—

"नागर ने कर्कश स्वर में पूछा—'बोल-बोल, लड़िका को काहे मारने ?' साव ने पड़े-पड़े ही हाथ जोड़कर उत्तर दिया "हमार तनिकौ दोस नाही हो गुरु हमरे भागे पर लड़िकवा हमार हसी उड़ावत रहलन।"[४]

परन्तु इस प्रकार की भाषा के प्रयोग कम ही हैं और सभी तरंगों में हैं भी नहीं। सेठ बांकेलाल में तो आंचलिकता के नाम पर केवल आगरे की बोली है जो स्थान एवं आवश्यकता के अनुसार बदलती रही है उसकी प्रवाहपूर्णता तथा प्रभावपूर्णता का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

'या नो कहने को ह्वां पै बड़े-बड़े बरम्म जी और बिस्नू जी खड़े थे, मगर सब

१. 'जुलूस', पृष्ठ १३१।
२. वही, पृष्ठ ५१।
३. 'बहती गंगा' (परिचय), पृष्ठ ७-८।
४. 'बहती गंगा', पृष्ठ ८।

एकदम फौवम। महादेव जी ने भी मूछो पै लाव फेरके कही कि अच्छा बेटा, जब तुम सबको भी चुल्लू मे उल्लू न बनाऊ तो मेरा नाम भी म्हादेवजी नही। भइयो फिर तो तू जाने ही है कि लक्ष्मी जी निकली सो तो विस्नूजी को दीनी। कहा जा मजाकर मेरे यार। विसके बाद इमरत निकला। सोचने लगे मैं क्या करू साले रा ' इम सब खुसकैंटो को पिला दो तरकैंट ही जायेंगे।"[१]

'मोरझाल' मे भाषा की आंचलिकता केवल वस्तुओ के आंचलिक नामो तक ही सीमित है। अन्य स्थानो पर भाषा का सामान्य साहित्यिक रूप ही दिखाई देता है। भीलो की भाषा के शब्दो के प्रयोग से भाषा मे स्वाभाविकता आ जाती है और उसका रूप आंचलिक बन जाता है।

भाषा प्रयोग की दृष्टि से कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनकी स्थिति इन सबसे भिन्न है। ऐसे उपन्यासो मे प्रमुख है। 'वन के मन में', 'कोहरे मे खोए चांदी के पहाड' और 'सागर के तट पर'। इनमें आंचलिक भाषा नही आंचलिक शब्दो का प्रयोग होता है और वह भी स्थानो, वस्तुओं, व्यक्तियो आदि के नामो में। इन सभी उपन्यासो की सामान्य भाषा हिन्दी है और वही आंचलिक पात्रो के वार्त्तालाप की भी भाषा है। यह स्थिति आंचलिकता की अवतारणा की दृष्टि से अनुपयुक्त है। यदि इन उपन्यासो के कथा-तत्त्व का स्वरूप आंचलिक न होता तो इन्हे आंचलिक मानने म भी आपत्ति हो सकती थी। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस प्रकार के भाषा-प्रयोग से उपन्यास की स्वाभाविकता तथा प्रभावशीलता का ह्रास होता है।

भाषा-दोष

आंचलिक उपन्यासो के भाषा-शिल्प का विवेचन अपूर्ण ही रह जायेगा यदि उनके एक प्रमुख दोष पर दृष्टिपात न किया जाये। यह दोष आंचलिक उपन्यासो के यथार्थवादी उपन्यास होने के कारण ही आता है। उपन्यासकार अपने यथार्थवादी चित्रण की झाक मे कभी-कभी विकृतियो का भी चित्रण आवश्यक समझ लेता है। इसमे सदेह नही कि जीवन की विकृतिया भी उतनी ही यथार्थ होती है जितने कि जीवन के सुन्दर एव सरल रूप होते है। परन्तु कलाकार के लिए सत्य के साथ शिव और सुन्दर का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। यथार्थ के चित्रण मे कभी-कभी ये दोनों तथ्य आखो मे ओझल भी हो जाते हैं, परिणामस्वरूप भाषा मे अश्लीलत्व आ ही जाता है। यह अश्लीलत्व मुख्यत दो रूपो मे प्रकट होता है। प्रथम, अश्लील शब्दो के प्रयोग म, द्वितीय अश्लील स्थितियों के विवरण मे। कई बार एक तीसरी स्थिति भी देखने को मिल जाती है जो द्वितीय

१. 'सेठ बांकेमल', पृष्ठ ८३।

का परिष्कृत रूप होती है जिसमे अश्लीलत्व प्रच्छन्न रहता है—शालीनतापूर्ण शब्दो की ओट मे। यह तीसरी स्थिति यदि प्रतीकात्मक बन जाती है तो अश्लीलत्व दोष का ही निवारण नही हो जाता वरन् स्थिति की प्रभावशीलता भी बढ जाती है। अश्लीलत्व के इन रूपो पर किंचित विस्तार मे विचार कर लेना उपयोगी होगा।

अश्लील शब्दो का प्रयोग खुली गालियो के रूप म किया जाता है और यथार्थवाद की ओट मे उन्हे क्षम्य ठहराया जाता है। हिन्दी के एक बहु-चर्चित उपन्यास (जिसे भ्रमवश आचलिक उपन्यास भी मान लिया जाता है) 'आधा गाव' (राही मासूम रजा) मे गालिया का प्रयोग जिस खुले रूप मे किया गया है उसके औचित्य को प्रकाशक सिद्ध भी करना चाहता है—

"सही बात कहने के लिए सच्ची भाषा ही इस्तेमाल की जा सकती है। इस दृष्टि मे इस उपन्यास की भाषा म जो सच्चाई और खरापन है, वह दिमागी ऐय्याशो को ही खटक सकता है—जिन्दगी को रूबरू देखने वाले को नही उपन्यास म सीधे सीधे खुली गालियों का इस्तेमाल है क्योकि जिस जिन्दगी को इस उपन्यास मे उठाया गया है, वह जितनी स्पष्ट, दो टूक और बेबाक है, वह उतनी ही सच्ची और खरी भाषा की माग भी करती है, और इस माग को पहली बार एक जिम्मेदार लेखक ने हिन्दी मे पूरा किया है।"[१]

और उपन्यासकार ने जिन फोश शब्दो का प्रयोग किया है उन्ह प्रकाशक ने भाषा के नाम पर उचित ठहराया है यद्यपि ये शब्द भाषा के रूप न होकर बोली के रूप होते है—और बोली भी नही—'स्लाग' के रूप। प्रकाशक भाषा और बोली का अन्तर न समझता हो ऐसी बात नही क्योकि पूर्व की पक्तिया मे वह दोना के अन्तर की विवेचना कर चुका है—

'हेनरी मिलर को भाषा के लिहाज मे अश्लील माना जाता है परन्तु राही की भाषा का स्तर कतई दूसरा है क्योकि वह 'बोली' के स्रोत से जुडी हुई है। बोली ही भाषा की जननी होती है। भाषा छन और निथर कर आती है। बालिया म न जाने कितने ही मुहावरे, सूक्तिया, गालिया और शब्द ऐसे होते हैं जिन्हे भाषा म नही लिया जाता।'[२]

इस प्रकार भाषा के नाम पर 'बोली' के शब्दा का प्रयोग सामान्य रूप मे यथार्थवादी उपन्यासो मे अश्लीलत्व का समावेश कर देता है। कुछ उपन्यासकार जैसे श्री शैलेश मटियानी (चौथी मुट्ठी) अश्लील शब्दा के स्थान पर 'डैश' रखकर उन्हे बचा भी जाते हैं पर पाठ के प्रवाह मे वे शब्द जुबान पर आ ही जाते है।

१ 'आधा गाव', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ट ८।
२ वही, पृष्ठ ७।

अश्लील स्थितियो अथवा विवरणो अथवा शब्दो (भाषा) द्वारा उद्घाटन अति-यथार्थवाद की भी अवतारणा करता है। इनके औचित्य को भी यथार्थवादी कलाकार सिद्ध करना चाहते हैं। 'आधा गाव' की भूमिका मे कहा गया है कि "जो इस उपन्यास की जिन्दगी के रवैये को नही समझ पायेंगे उन्हे इसमे शायद कुछ अशोभन और अशिष्ट भी लगे। अश्लील इसलिए नही क्योकि अश्लीलता स्थितियो मे होती है।"[१] पता नही 'अशोभन', 'अशिष्ट' और 'अश्लील' मे किस अन्तर की ओर प्रकाशक का सकेत है परन्तु जिस प्रकार की स्थितियों का विवरण इसमे है उसी प्रकार के विवरण 'घेरे के बाहर' (द्वारिका प्रसाद) मे भी थे जिसे जब्त कर लिया गया था। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

"खाली बैठा जगराम सरवरी की छातिया दबाता रहा और उसकी रानो पर चुटकियां काटता रहा। दामन उठाकर उसके चम्पई पेट की नर्म जिल्द पर हाथ फेरता रहा।'[२]

परन्तु जब ऐसी ही स्थितिया को परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया जाता है तब वे इतनी अशोभन नही लगती और उनकी प्रभावशीलता भी बढ जाती है। इस सबध मे 'इमरतिया' (नागार्जुन) से एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। इमरतिया उस छिनाल की प्रवृत्ति का विवरण दे रही है जो साल मे दो-तीन मर्द बदलती थी और उन मर्दों का बुरी तरह पीछा करती थी जो डौल डौल म तगडे होते थे—

"एक बार मठ का बडा घोडा गर्माया, वह बेचैनी म हिनहिना रहा था। नथने फैला-फैलाकर हवा मे से न जाने कौन-सी गध खीचता था बार बार। घोडे को उस बेताबी मे तो गौरा मुझसे बोली—' मैं इसको ठण्डा कर सकती हू ।' ?'[३]

" हमसे गौरा खुले आम कहा करती, मैं डायन हू, कच्चा चबाने के लिए मुझे आदमी ही चाहिये दस वर्ष का लडका हो तो भी चलेगा, सत्तर साल का बुड्ढा हो तो भी चलेगा '[४]

ऐसे विवरणो का सुन्दरतम रूप तब व्यक्त होता है जब उन्हे प्रतीक योजना मे ढाल दिया जाता है जैसा 'आठवी भावर' मे हुआ है। पर्वती सदानन्द को 'जीतने' चलती है और सफल भी हो जाती है। उसके प्रयत्नो की सफलता की सूचना उपन्यासकार इस एक वाक्य में देता है—

"सदानन्द का नाम सदानन्द ही रहा और पारवती का पारवती।'[५]

---

१. 'आधा गाव', प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ठ ७।
२ वही, पृष्ठ ४२९।
३. 'इमरतिया', पृष्ठ २७।
४ वही, पृष्ठ २८।
५ 'आठवी भावर', पृष्ठ ७९।

'आठवीं भावर' एक सफल आंचलिक उपन्यास है और आंचलिक उपन्यासों में अभिव्यक्त अश्लील स्थितियों का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इससे मिलती जुलती स्थितियां अन्य आंचलिक उपन्यासों में भी उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ उपन्यासों में अश्लीलत्व अत्यंत दबा हुआ है (यहां केवल अश्लील शब्दों की बात की जा रही है अश्लील भाव की नहीं) जैसे 'सेठ बांकेमल' एवं 'लोक परलोक' में है

"सिवाय आगरे के सैन्सा साझा बास्माय के दुनिया में कोई भी बास्माय साला ऐसा दिलो जिगर दिखा जाय, तो विसकी टांगों के रास्ते में निकल जाऊं मैं।'[1]

"जहां देखो साला हिन्दू मुसलमानों का दंगा हो रह्‌या है खुसकैट साले।"[2]

'साला' शब्द भाषा के प्रवाह में इस तरह मिल गया है कि उसका गाली का रूप ही बदल गया है। इसी प्रकार 'लोक परलोक' में भी दुर्गासिंह जिस प्रकृति का व्यक्ति है उस दृष्टि से उसकी बोली में भी 'सारा' शब्द अधिक खटकता नहीं—

"हम पै नाय होती काऊ बाप पाप की इज्जत। हम नाये माने काऊ सारे कू।'[3]

'पानी के प्राचीर' में दरोगा अपनी प्रकृति के अनुकूल ही बड़-बड़ाता है—

"ये भी साला कोई इलाका है? साला चारों तरफ दरयाव है ···।'[4]

'लोहे के पंख' में छोटे सरकार ने जानबूझ कर गाली दी है—

"क्या है रे भगड़ुआ, तू बीमार है रे बटीचोद?'[5]

परन्तु नागार्जुन एवं शैलेश मटियानी ने यथार्थ के नाम पर अश्लीलत्व को अपने उपन्यासों में प्रतिस्थापित किया है। नागार्जुन ने तो इस सीमा तक उसका प्रयोग किया कि 'रतिनाथ की चाची' के अगले संस्करण में उन्हें इसके लिए खेद भी प्रकट करना पड़ा·

"इस बार उन पंक्तियों को मैंने स्वयं काट डाला है जिन पर कतिपय आलोचकों ने घोर आपत्ति की थी, मैं कबूल करता हूं, वस्तुतः ये पंक्तियां अश्लील एवं अनावश्यक थीं।"[6] इसके उपरान्त भी इस प्रकार के प्रयोगों पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं—

---

१ 'सेठ बांकेमल', पृष्ठ ८३।

२ वही, पृष्ठ ८४।

३ 'लोक परलोक', पृष्ठ १६।

४ 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ १८६।

५. 'लोहे के पंख', पृष्ठ ८१।

६. 'रतिनाथ की चाची', (द्वितीय संस्करण), 'प्रारंभिक वक्तव्य' से।

"साले की चमड़ी उधेड़ दूंगा···।"[1]

"—बेटीचोद ! फिर कभी भाग री तो···।"[2]

बलचनमा की छोटी मालकिन की गवासिन अकेले में पकड़ कर चूम ही नहीं लेती थी ऐसी भाषा का प्रयोग तक करती थी—

"साओ न आज मलिराइन गाड का गूदा तक निकाल लेंगी···साओ बाद् गाओ गाड फटेगी तो मालूम होगा ।'[3]

शैलेश जी को भी यह अनुभव हुआ कि उन पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है इसीलिए अपनी 'चौथी मुट्ठी' की भूमिका में उनको वक्तव्य देकर अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी है—

"अक्सर मेरा नाम उन लेखकों में आता है जिन पर 'अश्लीलता' के आरोप लगाये जाते हैं · आरोपों से, आलोचना से बिफर उठने वाला या घबरा जाने वाला साहित्यकार तो मैं हूं नहीं क्योंकि मैंने भारतीय-समाज के तथाकथित सांस्कृतिक-साहित्यिक महंतों और शोषकों उत्पीड़कों के आगे उनकी आत्माओं के वीभत्स और घिनौने रूपों के प्रति-बिम्बों को उघारने-वाले आईने यदि रखे हैं, तो एक साहित्यिक दायित्व-बोध के साथ।"[4]

शैलेश जी ने आगे लिखा है कि अश्लीलता की कोई ठोस परिभाषा भी हमारे पास नहीं है फिर भी उन्होंने अपने बैस्ट-सेलर बनाने के लिये अश्लीलता और गुदगुदाने वाले रोमांसों की चाशनी देकर कृतियों का निर्माण नहीं किया है, ऐसा उनका मत है, पाठकों को चालू माल देने के स्थान पर नये-नये क्षितिजों की सैर कराने का उनका लक्ष्य रहा है।[5] श्री शैलेश जी ने इसी स्थल पर उन साहित्यकारों पर आक्षेप किये हैं जो नारी पात्रों का 'पातरीकरण' करके पहिले तो उन्हें खूब पतुरियाते हैं और अपनी कमाई के लिये उनसे मसाला पाकर अंत में उन्हीं पातरों (वेश्याओं) को विश्वमाता', 'विश्व-भगिनी' घोषित करते हैं। इन साहित्यिक भड़ुओं और दलालों की साहित्यिक वेश्यावृत्ति को वे नैतिक वेश्यावृत्ति से कम खतरनाक नहीं समझते। उनका दृष्टिकोण पातर को नारी-रूप देने का रहा है। ऐसा उन्होंने मोतिमा मस्तानी के चित्रण द्वारा किया है। मोतिमा को वे भली प्रकार पहिचानते थे क्योंकि उसने 'अपनी नंगी टांगें और छातियां ···दिखाई हैं कि—देख साले, मरे बेटे क्या हालत हो गई है मोतिमा की।"[6] जो

---

१ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ५४।

२. वही, पृष्ठ ७५।

३. 'बलचनमा', पृष्ठ ३४।

४ 'चौथी मुट्ठी' (प्रस्तावना), 'एकमूठ असर मेरे'।

५. 'चौथी मुट्ठी' (प्रस्तावना)।

६ वही।

भी हो शैलेशजी की भाषा मे अश्लीलता आ ही गई है यद्यपि उन्होंने अति-अश्लील शब्द न लिखकर उनके स्थान रिक्त छोड दिये हैं—

कौशिला अपने पति गुमानसिंह की आदत याद कर रही है—"दुष्ट कहीं का अकेले मे देखते ही पेटीकोट के पल्ले को ऊपर उछाल देता था···दोनों हाथों से शरीर टटोलता फिरता था···।"[1]

मोतिमा मस्तानी ने तो देख लिया है कि नारी सुलभ शील-सकोच रखने मे काम नही चलेगा अत जब मेजर विक्रमसिंह के नौकर नथुवा ने उसकी पुत्री आनन्दी को छेडा तो उपन्यासकार ने उसके मुख से ये गालियां सुनवाईं—

"कौन है, रे तुम सालो मे वह नथुवा अपनी मा का खसम ! अरे स्साले मेरे सामने आ ··था स्साले जरा मुझे भी छेड के देख कि हगती हूं या नही तेरे कम-जात मुह मे···।"[2]

"और छोडेगा रे कमीने, मेरी आनन्दी को ? चमार साले, मैं तेरी मा को ···के रख दूगी···। जहा से तुम मरद साले पैदा होते हो, मा को उसी पवित्र कोख पर तुम लोगो की बुरी नजर भी रहनी है । मेरा वश चलेगा तो एक-एक मरद के मुह मे उसी ठौर से मूत दूगी और कहूगी, सालों और बुरी नजर डालो अपनी मा की ··मे···।"[3]

गुण्डो की भाषा का प्रतिनिधित्व भी छूटा नही है हालाकि उसका प्रयोग करने वाला मेहरसिंह है। बीस वर्षीया दुरगुली के रूप को देखकर उसकी प्रतिक्रिया यों अभिव्यक्त हुई—

"इस टापमार के तो सारे तन-बदन मे जोबन छाया हुआ है—हाइरे, तेरे खडमिट्टी जैसे-तन-बदन मे जोर मारता ··पैंया की पतली सोटी—जैसी लपलपान काली नागिन को भी मात करने वाला—तेरा किनारीदार जोबन !"[4]

"डूगरसिंह चनरसिंह को शाबाशी देते बोला—"नामी रोवे नाम को और गाडू रोवे पेट को।'[5]

'चिट्ठीरसैन' मे पिताम्बर पोस्टमैन ने जो नकली पत्र लिखे हैं उनकी भाषा भी शालीनता की सीमा पार कर गई है।[6]

अश्लीलता के इस विवेचन के उपरान्त भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यथार्थवादी भाषा के ऐसे प्रयोग प्रभावोत्पादन की दृष्टि से अत्यन्त सफल होने

---

१. वही, पृष्ठ १६ ।
२. वही, पृष्ठ ६४ ।
३ 'चौथी मुट्ठी', पृष्ठ ६५ ।
४ 'होलदार', पृष्ठ २३६ ।
५ वही, पृष्ठ ६२ ।
६ 'चिट्ठीरसैन', पृष्ठ ५८-५९ ।

हैं और जब अन्य विधा के उपन्यासों में इन प्रयोगों की आंचलिक उपन्यासों में उनके प्रयोग से तुलना की जाती है तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यासों में ये अल्प मात्रा में ही होते हैं और इनका रूप भी इतना खटकने वाला नहीं होता क्योंकि औपन्यासिक भाषा पर आंचलिक बोली का रंग चढा होने से उनकी प्रवृत्ति बदल जाती है। ऐसे प्रयोगों को निश्चय ही कला की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं और न कलाकारिता के वे उदाहरण ही माने जा सकते हैं, फिर भी कलाकार की अपनी स्वतन्त्रता और उनके उपयोग की अनिवार्यता के संबंध में उसकी धारणा ऐसी बातें हैं जिनका अपना महत्व है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि जिन आंचलिक उपन्यासकारों ने ऐसे प्रयोगों को स्थान नहीं दिया है उनके उपन्यासों में भी आंचलिक रंग में कोई हल्कापन नहीं आ पाया है। 'रेणु' और उदयशंकर भट्ट इसके प्रमाण हैं।

भाषा संबंधी इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आंचलिक उपन्यासों में भाषा-तत्त्व का प्रयोग आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों में हुआ है। स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों, शब्दों से विकृत रूपों तथा आंचलिक शब्दों के समावेश से कहीं-कहीं भाषा में दुरूहता आ जाती है परन्तु इस समावेश का उद्देश्य आंचलिकता का निर्माण करना ही होता है। यह भी सत्य है कि भाषा के आंचलिक रूपों के प्रयोग की एक सीमा होनी चाहिए परन्तु इस संबंध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। पाठकों तथा आलोचकों की रुचियां प्राय एक-सी नहीं होतीं। इसी आधार पर श्री मनहर चौहान ने 'हिरना सांवरी' में प्रयुक्त अपनी छत्तीसगढ़ी बोली के रूप को उपयुक्त ठहराया है यद्यपि उस बोली को लेकर बडा विवाद उठ खडा हुआ था। उन्होंने इस स्थिति के संबंध में लिखा है—

"रेणु ने पूर्णिया जिले की भाषा प्राय शुद्ध रूप में लिखी तो लोगों ने उसे बोझिल कह दिया। अब मैंने उपन्यास में ऐसी भाषा रखी जिसमें हिन्दी ज्यादा, छत्तीसगढ़ी कम है तो उसे भी गैर-जिम्मेदारी का काम कहकर दुत्कार दिया गया।"[1]

इस संबंध में उनका मत है कि 'सफल या अच्छी भाषा वही है जो बिना किसी हिचक के अच्छे शब्दों को जहां से और जब भी हो सके अपने लिए उठा ले। कभी-कभी शब्द अपने मूल (प्रादेशिक) रूप में ही हिन्दी में खप सकते हैं और कभी उनमें किंचित परिवर्तन की आवश्यकता भी अनुभव की जा सकती है।"[2]

यह सत्य है कि सभी प्रादेशिक भाषाओं का हिन्दी से गहरा साम्य है। कई

---

१. 'हिरना सांवरी' भूमिका (पिनिशिंग-टच), पृष्ठ ५-६।
२. वहीं, पृष्ठ ६।

बार इन भाषाओ मे ऐसे शब्द मिल जाते है जिनकी अभिव्यक्ति का पैनापन हिन्दी के किसी भी शब्द मे नही मिलता। अत उन शब्दो को स्वीकार कर लेना ही अधिक उपयोगी है। इस सबध मे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि बोधगम्यता की आवश्यकता को भाषा सबधी विवेचन मे प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिये परन्तु आचलिकता के मूल्य पर नही। इसीलिए जिन आचलिक उपन्यासो मे शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रयोग किया गया है। उनमे आचलिक भाषा के शब्दो का प्रयोग अनिवार्य ही लगता है। श्री श्याम परमार का उपन्यास 'मोरझाल' इसका प्रमाण है।

अष्टम अध्याय

शैली-शिल्प

साहित्य मे 'शैली' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आधुनिक है। संस्कृत साहित्य शास्त्र मे 'रीति' शब्द का प्रयोग होता था जिसे आचार्य वामन ने काव्य की आत्मा बताया है।[1] उनके अनुसार काव्य-रचना की विशेष पद्धति ही रीति है, "विशिष्ट पद रचना रीति ।"[2] इस प्रकार सामान्य धरातल के स्थान पर विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित करके 'रीति' की व्याख्या की गई है। आचार्य वामन का 'रीति' शब्द जिस रचना कौशल की ओर संकेत करता है उसका भाव 'शैली' शब्द मे आ गया है। शैली का संबंध शील से अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव से मानने के कारण उसके अंतर्गत रचयिता के व्यक्तित्व का समावेश हो जाता है। रीति शब्द मे केवल रचना वैशिष्ट्य का ही अर्थ निकलता था परन्तु शैली से 'व्यक्तित्व विशेष के प्रभाव' का अर्थ भी निकलने लगा। शैली और लेखक के व्यक्तित्व को इतना अभिन्न माना गया है कि शैली के विश्लेषण द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त करने के दावा करते हुए श्री राबर्ट पेन वारेन ने लिखा है कि शैली मे बनावटीपन को स्थान नहीं यह तो लेखक के चिन्तन (अर्थात् व्यक्तित्व) की स्वाभाविक एवं सही अभिव्यक्ति है।[3]

शैली मे लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकार करने के अतिरिक्त इसे अभिव्यक्ति का विशिष्ट ढंग भी कहा गया है।[4] इस प्रकार शैली का संबंध रचना-कृति के बाह्य परिधान से हो जाता है जिसका निर्धारण भाषा एवं शब्दों के विशिष्ट प्रयोग द्वारा होता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप से संबद्ध होने के कारण

---

१ रीतिरात्मा काव्यस्य—काव्यलंकार सूत्र १।२।६।

२ काव्यलंकार सूत्र १।२।७ ८।

3 "Style is not pretention of effectedness, that it is natural & sincere, that it is the authentic expression of the writer's mind."—*Robert Penn Warren* "*Tundamentals of* Good writting," page 438

4. "Style is the technique of expression "—Middleton Murray—"The problems of Style", page 5.

शैली को भाषा का ऐसा रूप चमत्कार कहा जा सकता है जिसमे लेखक का व्यक्तित्व प्रधानरूप से विद्यमान रहता है। अभिव्यक्ति की विशिष्टता तथा भाषा के रूप-चमत्कार के संयोग के कारण ही शैली को एक प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है और उसका संबंध साहित्यकार के व्यक्तित्व के साथ ही अभिव्यक्ति एव भाषा के विशिष्ट परिधान से भी होने के कारण उसे कला का शिखर, कला की प्रमुख उपलब्धि और कला का अतिआवश्यक एव स्थायी सिद्धान्त भी माना जाता है।[1]

शैली एव शिल्प-विधि

शैली और शिल्प विधि मे भी पर्याप्त अतर है। शिल्प-विधि का संबंध अभिव्यक्ति एव रूप रचना की समस्त प्रक्रियाओ से है इसीलिए किसी साहित्यिक कृति की शिल्प-विधि का पता लगाने के लिये हम उसकी रचना मे काम आनेवाली विभिन्न विधियो और रीतियो की ओर ध्यान देना पडता है। शैली का सबध अभिव्यक्ति एव रूप रचना की प्रक्रिया से न होकर केवल अभिव्यक्ति के प्रकार विशिष्ट से होता है। जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है अभिव्यक्ति के इस 'प्रकार' के दो पक्ष होते हैं—बाह्य और आतरिक। बाह्य पक्ष का सबध केवल रूप से होता है अर्थात् दृष्टि उस ओर रहती है कि विषय-वस्तु को किस रूप मे सयोजना की गई है। इस आधार पर यदि उपन्यासो की शैली का उदाहरण दिया जाय तो आत्मकथात्मक, दैनिकी, इतिवृत्तात्मक आदि अनेक शैली रूप परिगणित कराये जा सकते है। आधुनिक उपन्यास भी उपन्यास होने के कारण इनमे से कोई एक या अनेक रूप ग्रहण कर सकता है। उदाहरणार्थ—'कब तक पुकारू' 'हिरना सावरी', 'सूरज किरन की छाह', बलचनमा आदि आत्मकथात्मक शैली मे, 'मोरभाल दैनिकी एव इतिवृत्तात्मक शैली मे और 'परती परिकथा' 'मैला आचल' आदि इतिवृत्तात्मक शैली मे है।

परन्तु कलाकृति के रूप मे उपन्यासो का महत्त्व इन बाह्य शैली रूपो मे निहित नही होता। कला की आत्मा और उसका प्राण तो वह अतरग शैली होती है जिसमे कलाकार का व्यक्तित्व, उसका कौशल और उसका जीवन-दर्शन निहित होता है। उपन्यास मे इस शैली के दो रूप दिखाई देते है—विचारात्मक और भावात्मक। विचारात्मक शैली को यथार्थवादी शैली भी कह सकते हैं क्योकि विचार बुद्धि-प्रेरित होता है अत उसमे तथ्य एव वास्तविकता पर दृष्टि रहती

1 "Style is the very pinnacle of the pyramid of art, the end that is the greatest of all—the supreme achievement of the vital principle of all that is enduring "
Middleton Murray, 'The problem of Style', page 36

है। इसके विपरीत भाव हृदयगत गुण होता है जो सदा ही उच्च आधार-भूमि खोजता है। इसीलिए वह आदर्श की ओर उन्मुख होता है। अत भावात्मक शैली को आदर्शवादी शैली भी कहा जा सकता है। यथार्थवादी शैली सामान्यत विवरणात्मक एव व्यग्यात्मक होती है और भावात्मक शैली सामान्यत आलकारिक, चित्रोपम एव पौराणिक होती है। परन्तु ऐसा कोई दृढ नियम नही होता। आवश्यकता के अनुसार यथार्थवादी शैली मे आलकारिकता अथवा चित्रात्मकता का समावेश हो सकता है (जैसे नागार्जुन के 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची' आदि मे हैं) और भावात्मक मे व्यग्य और विवरण आ सकते है (जैसा 'मैला आचल' मे है)। कभी-कभी यथार्थ के साथ भावना का सम्मिश्रण भी हो जाता है जैसा 'परती परिकथा' मे हुआ है, फिर भी यथार्थ एव भावात्मकता मे से किसी एक को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व मिल ही जाता है। इसी आधार पर आचलिक उपन्यासो को इन दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है।

यथार्थवादी शैली के प्रमुख उपन्यास हैं—

'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' 'सागर लहरे और मनुष्य', 'पानी के प्राचीर', 'लाल के पख', 'नदी फिर बह चली' 'आठवी भावर', 'हिरना साबरी', 'कब तक पुकारू', 'नेपाल की वो बेटी', 'आदित्यनाथ', 'सूरज किरन की छाह', 'सत्ती मैया का चौरा' तथा 'लोक लाज खोई'।

भावात्मक शैली के प्रमुख उपन्यासो के अतर्गत निम्नलिखित उपन्यास परिगणित कराए जा सकते है—

'मैला आचल' 'परती परिकथा' 'रतिनाथ की चाची' 'वरुण', 'जगल के फूल', 'लोक परलोक', 'चिट्ठीरसैन', 'जुलूस', 'बहती गगा', 'चौथी मुट्ठी', 'ब्रह्मपुत्र' आदि।

यह वर्गीकरण पूर्ण और अतिम नही है। प्रथम वर्ग के कई उपन्यासो को दूसरे वर्ग के अतर्गत भी रखा जा सकता है और द्वितीय वर्ग के कई उपन्यासों को प्रथम वर्ग के अतर्गत। फिर भी इस वर्गीकरण का कुछ आधार है। जहा विचारात्मक एव कथात्मक तत्त्वो को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है वहा उन्हे यथार्थवादी शैली का उपन्यास मान लिया गया है और जहा भावात्मक एव चरित्र निरूपण का प्राधान्य दीखा है वहा उन्हे भावात्मक उपन्यासो की कोटि मे रख लिया गया है।

आंचलिक शैली और औपन्यासिक तत्त्व

आचलिकता की प्रवृत्ति भावना की भूमि पर प्रतिष्ठित होती है क्योकि आचलिक उपन्यासकार अचल की गहन जानकारी से प्रेरित होकर उसे गहराई से उद्घाटित करने की कामना से रचना करता है। परिणाम-स्वरूप विभिन्न

औपन्यासिक तत्त्व आंचलिक निरूपण के अधीन हो जाते है। आंचलिक शैली की यही विशेषता है कि आंचलिक रंग सभी तत्त्वों को रंजित करके उन्हें अंचलोन्मुख कर देते हैं। सफलतापूर्वक ऐसा कर पाने में ही आंचलिक उपन्यासकार की कला है। इस कला की सिद्धि के लिए आंचलिक उपन्यासकार औपन्यासिक तत्त्वों की विशिष्ट रीति से संयोजना करता है जिससे आंचलिक उपन्यासों की प्रकृति ही बदल जाती है। प्रकृति की इस विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक है।

कथानक को आंचलिक बनाने के लिए उपन्यासकार कथा-तत्त्व का विघटन कर देता है और किसी एक कथा को मुख्य कथा नहीं बनने देता। इसके लिए वह आंचलिक जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित कथाओं को एक सूत्र में गूंथ देता है (कथा शिल्प अध्याय मे इस पर विस्तार से विचार किया गया है) और प्रत्येक कथा अथवा उपकथा को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि उसका अलग ही महत्त्व दिखाई दे। दोनों वर्गों के प्रतिनिधि उपन्यासों ('परती परिकथा', 'बलचनमा') से उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। 'परती परिकथा' में उप-कथाओं की संख्या सर्वाधिक है। परन्तु परती की कथा बनने के लिए यह सभी कथाएं आवश्यक है। इस दृष्टि से लुत्तो की कथा का महत्त्व यदि जितेन्द्र की कथा के समकक्ष ही है तो शिवेन्द्र की कथा का महत्त्व भी कम नहीं। जितेन्द्र और लुत्तो की कथाओं का उद्‌गम शिवेन्द्र की कथा मे ही है। परती भूमि की कथा बनने के लिए सभी कथाओं को, चाहे वह सांस्कृतिक कथा हो (सामा-चकेवा की कथा) अथवा पौराणिक (कोसी मैया की), राजनीतिक कथा हो (मकबूल और कुबेरसिंह की) अथवा अन्य किसी प्रकार की, इतनी गहराई प्रदान की गई है कि प्रत्येक कथा-सूत्र अलग दिखाई देता है। कथा-तत्त्व के इस विघटन के कारण ही स्वतन्त्र कथाएं दब जाती हैं और उनके मूल में निहित परती की कथा उभर आती है। 'बलचनमा' का कलेवर छोटा है अतः उसमें कथाओं की संख्या विशाल नहीं है फिर भी सभी कथाएं एक दूसरे से अलग चलकर पूंजीवादी शोषण की मुख्य कथा कहती हैं। इस दृष्टि से निम्नवर्ग के बलचनमा की कथा उच्च वर्ग के जमींदारों की कथा के समान ही महत्त्वपूर्ण बन जाती है और फूल बाबू और राधाबाबू की कथाएं इन दोनों से अलग होते हुए भी इन्हीं के समान आवश्यक लगने लगती हैं। इस प्रकार कथा तत्त्व का विघटन किसी भी आंचलिक उपन्यास में देखा जा सकता है।

पात्रों को भी आंचलिक निरूपण के अधीन कर दिया जाता है। इसके लिए पात्र-निरूपण की जो शैली प्रयुक्त होती है वह सारे अंचल के पात्रों को इकट्ठा कर देने की है। इसीलिए उनकी संख्या प्रायः आश्चर्य में डाल देती है। परती परिकथा में पात्रों के रूप में एक विशाल जन-समूह को देखकर डा० प्रेमशंकर ने

-पाइप, चुरुट नही, 'नन चिलम', माओत्सेमी नहीं 'गोगोड़ागि'।

पुलिस के हवलदार साहब की बोली इन सबसे बोली से अलग है—

"करदें कानूनी कारवाय ?' हमको का है। अभी दन्न देने टीसन मे जाकर टेलीफोन कर देते हैं' बडा दरोगा आकर दफा एक सौ चौआलिस लागू कर देंगे।"[1]

नट्टिनिया की बातचीत की अलग शैली है तथा कमाजिया की बातचीत की अलग। रम्पू रामायनी कथा-वाचकों के ढंग से बोलता है—

'मैया सरोसती के दरबार मे क्या तुलसी और क्या रमुआ जैसा गाव का गडरी का फूल! कि—उ, साच-झूठ मे पुछुओ न जानू, जो गुरु सपने मे सिखा गये, अच्छर-अच्छर बखानू! ।'[2]

इनके अतिरिक्त न जाने कितनी बोलियां और है जिनके सबके उदाहरण दे सकना भी सभव नही। कुत्ते मीत की 'कूँई! ईं! वाय, वाय, वाय!' से लेकर कोहबर राड़ी की'—'तुर-तुर-तुर-तुर-तुरा-तू-तू' भी है और रुदन का सगीत भी है—

'बाबा हो बाबा, सेमरी के फूल फूलल देखि भरमउल ऽ—ऽ—मरम गउल ऽ—ऽ बटिया रिहउल ऽ—ऽ नदि म—भमउल—ऽऽ! रोई-राई बेटिया गमावनि!'[3]

इस प्रकार वार्तालाप मे शैली के विविध रूप सभी आंचलिक उपन्यासों मे प्राप्त हो जाते है। ये रूप जहा एक ओर स्वाभाविकता का सचार करते है वही वार्तालाप को प्रभावशाली भी बना देते है।

वार्तालाप की सयोजना भी आंचलिक उपन्यासों में अभिनव रूप में की जाती है। कई बार वार्तालाप पूरे-पूरे खण्ड मे चलते रहते है परन्तु वार्तालाप करने वालों के नाम का भी पता नही चलता। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार का लक्ष्य केवल स्थिति-विशेष से अवगत कराना होता है। अतः बातचीत करने वालों के नाम देने की आवश्यकता भी नहीं होती। उदाहरणार्थ 'परती परिकथा' मे इस प्रकार की बातचीत है—

" अरी, काहे का ढोल बजता है ?

" शादी का!

" किस की शादी ? 'बात पूछती हू तो दिल्लगी क्यों करती है!

" कौन करती है दिल्लगी! ।'[4]

१. 'परती परिकथा', पृष्ठ ६४।
२. वही, पृष्ठ १८८।
३. वही, पृष्ठ १६०।
४. वही, पृष्ठ १५३।

ऐसी बातचीत वार्त्तालापकारों के नाम की सूचना दिये बिना ही दो पृष्ठों तक चलती रहती है। इस प्रकार के वार्त्तालाप भावनात्मक उपन्यासों में विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं।

वार्त्तालाप की शैली की एक और विशिष्टता यह है कि एक ही अनुच्छेद में बिना पंक्ति बदले बातचीत इस प्रकार हो जाती है जैसे वह विवरण का ही एक अंश हो। इस शैली का सबसे अधिक प्रयोग नागार्जुन ने किया है। 'रतिनाथ की चाची' में लगभग एक पृष्ठ के एक अनुच्छेद की अंतिम पंक्तियों में वार्त्तालाप इस प्रकार देखा हुआ है—

"...एक बार पनगगा घाट पर बैठे-बैठे सुशीला ने कहा—यहना पानी ही धार कहलाता है। देखो सुबह-श्याम हज़ारों आदमी नहाने आते हैं। मगर तुम जिस जात में, जिस समाज में पैदा हुए हो वह जिन्दा नहीं मुर्दाधार है...।"[१]

इस प्रकार वार्त्तालाप में उद्धरण चिह्नों का प्रयोग भी नहीं है इसलिए भी कई बार वार्त्तालाप विवरण के साथ मिल जाते हैं।

परन्तु वार्त्तालाप का रूप उस समय बिलकुल परिवर्तित हो जाता है जब यह पता ही नहीं लगता कि ये वास्तव में वार्त्तालाप हैं या उपन्यासकार के कथन जैसे—

"सचमुच गियानी आदमी हैं बालदेव जी। आन्दोलन, अनसन और... और क्या?...हिसाबात! किसी ने समझा? गियान की बोली समझना सभी के बूते की बात नहीं...।"[२]

यह बात किसी ने कही नहीं है पर है सभी के मन की। उपन्यासकार ने इसे अपनी ओर से इस प्रकार कहा है कि वह सभी के मुंह की बात लगे। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के दरवाज़े पर पंचायत बैठी है—

"ओ! तो यह पंचायत सिरफ बेजमीन वालों को ही सीख देने के लिए बैठाई गई है!...चुप रहो! तहसीलदार जो कह रहे हैं नहीं समझ रहे हो! पक्की बात कहते हैं तहसीलदार!...काबिल आदमी हैं...!"[३]

तहसीलदार के पक्ष में कौन बोल रहा है? स्पष्टतः कोई नहीं परन्तु सभी सुनने वालों के ये विचार हैं, सभी कह रहे हैं और कोई भी नहीं कह रहा है। इस प्रकार के कथनों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उनमें लेखक की मौन सम्मति का भी आभास मिलता है (यद्यपि ऐसा होना ही यह आवश्यक नहीं)। भावनापूर्ण उपन्यासों में पूरे-पूरे खण्ड के इस प्रकार के वार्त्तालाप ग्रीक-नाटकों के 'कोरस' का कार्य सम्पन्न करते हैं।

१. 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ८५।
२. 'मैला आंचल', पृष्ठ २५।
३. वही, पृष्ठ २३३

इसीसे मिलती-जुलती स्थिति वार्त्तालाप मे तब आती है जब उपन्यासकार का पात्र पाठक से बातचीत करने लगता है। बलचनमा पाठक को ही सबोधित करके कहता है—

"गाली दी थी मालिक ने, वह मैं तुमसे नही कहूगा भैया।"[१]

"इतने मे सोनपुर आ गया। ऐसा लम्बा-चौडा प्लाटफारम सुनते हैं कि जहान भर मे नही है। तुम तो गगापार गये हो नही, जो जाते तो देखते।"[२]

आत्मकथात्मक उपन्यासो मे जहा वार्त्तालाप के लिए बहुत कम स्थान होता है, वार्त्तालाप विशेष रूप से सूचनाओं का रूप ले लेते है जैसे बलचनमा और 'सूरज किरन की छाह' मे। 'हिरना सावरी' एव 'कब तक पुकारू' मे यह स्थिति भिन्न है। उनमे वार्त्तालाप है, और खूब है, यद्यपि वे भी आत्मकथात्मक उपन्यास है।

वार्त्तालाप मे जो अन्य गुण होने चाहिए और जो गुण सामान्य उपन्यासों के वार्त्तालाप मे अपेक्षित होते है वे भी इन आचलिक उपन्यासो के वार्त्तालाप मे मिल जाते है। इस प्रकार वार्त्तालाप की पात्रानुकूलता, मनोवैज्ञानिकता, कथा को गति देने की क्षमता, सक्षिप्तता, स्वाभाविकता आदि किसी भी आचलिक उपन्यास मे देखे जा सकते हैं। इन सामान्य विशेषताओ के उदाहरण देना आवश्यक नही है।

सामान्य विशेषताए

विभिन्न औपन्यासिक तत्वों की विशेष ढग से सयोजना ही आचलिक शैली की विशेषता नही होती। आचलिक उपन्यासकार आचलिक जीवन के कुशल चित्रण के लिए कुछ नवीन उद्भावनाए भी करता है। यद्यपि लोक-जीवन के विभिन्न पक्षो का उद्घाटन सामान्य उपन्यास मे भी हो जाता है तथापि आचलिक उपन्यास इन पर विशेष ध्यान देता है, इसीलिए वह खान-पान, वेश भूषा, मान्यताए, विश्वास, त्योहार, उत्सव आदि का विस्तार से चित्रण करता है।

अचलो म प्राकृतिक परिवेश के विवरण भी अत्यत विस्तृत होते है (इन पर पचम अध्याय मे विचार किया जा चुका है)। ये भी आचलिक शैली की विशिष्टता ही उद्घाटित करते है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मनोवैज्ञानिक उपन्यास की, ऐतिहासिक पीठिका ऐतिहासिक उपन्यास की तथा दार्शनिक चिन्तन *प्रगतिवादी उपन्यास की शैली की विशेषता होते है उसी प्रकार प्रकृति-चित्रण* एव परिवेश-चित्रण आचलिक शैली की विशेषताए होती है। यद्यपि सामाजिक उत्सवो, त्योहारो, मान्यताओ एव अध-विश्वासो के विवरण सामाजिक उपन्यासों

१ 'बलचनमा', पृष्ठ ३०।
२ वही, पृष्ठ ४६।

मे भी प्राप्त होते है तथापि आंचलिक उपन्यासो मे उनका योग अभिनव रूप मे तथा अधिक विस्तार से किया जाता है। अभिनव रूप यह होता है कि वे कथानक का ही अग बन जाते हैं, अधिक विस्तार इसलिए होता है जिससे कि वे आंचलिकता की सृष्टि मे सहायक हो। किसी भी आंचलिक उपन्यास पर दृष्टिपात करने पर संयोजना का यह अभिनव ढग तथा विस्तार स्पष्ट हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिवेश, त्योहारो, उत्सवो आदि पर पूर्व अध्यायो मे विस्तार से विचार किया जा चुका है। इस स्थल पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कैसे अंध-विश्वास एव मान्यताओं सबधी, अन्य दृष्टियो से महत्त्वहीन सूचनाए, आंचलिक उपन्यासो म कथा-तत्त्व का निर्देशन करती है।

'जगल के फूल' मे भिरिया चुडैल ने राजामहल को आबाद कर रखा है। गोडो के प्रदेश मे तो हर गैल मे देवता होता है और पेड के पीछे भूत प्रेत। जादू-मतर का उनके जीवन मे बडा स्थान है। नदराज तो जादू-टोने का ही राजा है। बाझ औरत कमाली की पूजा करती है आधीरात को बिल्कुल नगी होकर पीपल के नीचे जाकर, दीपक जलाकर प्रेत को बुलाती है। लाडूवाज, कारा पाण्डुम, वाडा मग्गा जैसे उत्सव मनाये जाते है। गाडो की अपनी प्रथाए एव परम्पराए हैं—भगेला तथा लमसेना रखने की प्रथा है, कघी मागना प्रेम का निमत्रण देना है, थोडी मे शराब लेकर किसी के दरवाज़े पर जाने का मतलब है प्रेम जताना, तम्बाकू मागने का अर्थ है अनुचित सबध के लिए आमत्रित करना, परन्तु जिससे विवाह करना होता है उसे धुइया (तम्बाकू) नही दी जाती, एनदाना के समय मोरपख का गिरना अशुभ होता है, इस प्रकार की अनेकानेक मान्यताए तथा अध विश्वास इस उपन्यास मे भरे पडे है। 'चौथी मुट्ठी', 'हौलदार', और 'चिट्ठीरसैन' मे आंचलिक देवता गोल्ल गगनाथ के महात्म्य का विवरण है, 'नदी फिर बह चली' मे गर्भवती स्त्री के चुडैल हो जाने और उसको बाधने के सबध मे गाव वालो की अपनी मान्यताए है। 'बाबा बटेसरनाथ' मे भी बट पर ब्रह्म देवता का स्थान बन गया था, 'पानी के प्राचीर' मे सुमेरा पर देव और गेंदा पर चुडैल आती थी। 'हौलदार' मे गोपुली काकी पर गोल्ल गगनाथ आते हैं तो हरकसिंह पर नौनाड देवता फूटते है। 'बहती गगा' के 'रोम-रोम मे बच्च-बल' मे तो हनुमान जी से साक्षात्कार तक करा दिया गया है।

उत्सव, पूजा, मान्यताओ और अंध विश्वासो के साथ लोक-कथाओ को भी इन उपन्यासो मे विशेष स्थान दिया जाता है। ये कथाए विस्तार के साथ अत्यत प्रभावशाली ढग से कही जाती है तथा इनमे लोक-नृत्यो और लोक-गीतो का भी समावेश कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप ऐसे विवरण अत्यत रोचक बन जाते हैं। 'मैला आचल' के विदापत नाच म बिकटा, नटवा, मिरदगिया आदि के विया कलाप, ध्यग गीता तथा दर्शको की वाह वाह मे भरा आयोजन पृष्ठ

निन्यानवे से पृष्ठ एक-सौ साठ तक चला गया है और सुराज-उत्सव पृष्ठ दो सौ नौ से पृष्ठ तीन सौ तक चलता है। 'परती परिकथा' में तो अनेक लोक-कथाएं हैं—कोसी मैया की कथा छः पृष्ठों में है और सुन्नरि नैका की कथा पृष्ठ एक सौ चौरासी से पृष्ठ एक-सौ छियानवे तक फैली हुई है। 'लोक लाज खोई' में सोलह अध्यायों में से दो (६ एवं ११) पूरे अध्यायों में लोक-उत्सवों का ही विवरण है। नवें अध्याय में पोपुजी का और ग्यारहवें में महतूल जगाने का। इसके अतिरिक्त अन्य अध्यायों में भी उत्सवों के छुट-पुट वर्णन हैं। 'जंगल के फूल' में भी लोक-जीवन से संबंधित अनेक विस्तृत कथाएं हैं जिनमें नदी और राजकुमार की कथा तथा बस्तर राज्य की स्थापना की कथा प्रमुख हैं, लोक-उत्सवों के विवरण तो पूरे उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र के जन्म की कथा, कुत्ते के जन्म की कथा और जयमती की कथा अपना अलग महत्व रखती हैं। 'रथ के पहिये' में भीमसेन से संबंधित कई कथाएं हैं। इनके अतिरिक्त शराब की कथा, पेज की कथा, अमर कटक की कथा, बैन गंगा की कथा, श्री पाल की कथा आदि उपन्यास के कलेवर के काफी बड़े भाग को घेरे हुए हैं। 'सत्ती मैया का चौरा' में तो गांव की कथा लगभग तीस पृष्ठों में फैली हुई है। 'मोरभाल' में भीलों की उत्पत्ति की कई कथाएं हैं, माही नदी की उत्पत्ति की कथा भी पर्याप्त विस्तृत है। इसी प्रकार मधारानी एवं गिल्ली राजा की कथा भी अपना अलग महत्व रखती हैं। 'मुक्तावली' में मणिपुर के पौराणिक इतिहास और उसके निर्माण में 'लाइनूरा' नामक सात दवियां और 'लाइपुमथाउ' नामक नौ देवताओं की कथा, मणिपुरी पुराण की अनुश्रुति, चित्रांगदा की कथा, थोइबी और खम्ब की प्रेम-कथा, जैसी छोटी-बड़ी अनेक कथाएं हैं।

इन कथाओं की संयोजना दो प्रकार से की जाती है—विवरणात्मक शैली में अथवा भावात्मक शैली में। विवरणात्मक शैली का प्रयोग 'रथ के पहिये', 'सत्ती मैया का चौरा', 'मोरभाल' जैसे उपन्यासों में है। इस रूप में कथा को एक कहानी के रूप में सुनाया जाता है और भावना के पुट का समावेश नहीं होने दिया जाता। इस कारण कथा नीरस लगने लगती है और पाठक कथा के अंशों को लांघकर आगे बढ़ जाना चाहता है। परन्तु जब कथा भावात्मक शैली में कही जाती है (जैसा 'परती परिकथा', 'मैला आंचल', 'जंगल के फूल' जैसे उपन्यासों में हुआ है) तब वह काव्य की ऐसी गहराइयों में डूब जाती है कि साधारण पाठक के लिए उसमें रस ले पाना संभव नहीं रह जाता। अतः वह ऐसे अंशों को लांघ जाना चाहता है, परन्तु आंचलिकता का रंग ऐसे स्थलों पर इतना गहरा होता है कि उसमें रंजित हुए बिना इस विधा का पूर्ण आनंद प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'परती परिकथा' में सुन्नरि नैका की कथा और 'मैला आंचल' में बिदापत नृत्य के विवरण प्रथम वाचन में उतना आनंद नहीं देते जितना द्वितीय अथवा अधिक

वाचनों में। ऐसी शैली के संबंध में यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें क्लिष्टता होती है। यह क्लिष्टता भावुकता, कवित्व, ध्वनि-रूपक तथा भाषा के अभिनव प्रयोगों के कारण आती है। भावनात्मक शैली के उदाहरण लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में प्राप्त हो जाते हैं। उपन्यासकार का कलाकार ऐसे स्थलों पर बोल उठता है परिणाम-स्वरूप ऐसे स्थल गद्य-गीत बन जाते हैं। कुछ उदाहरणों में यह भावुकता-जनित काव्यत्व स्पष्ट हो जायगा

'कब तक पुकारूं' एक यथार्थवादी आंचलिक उपन्यास है जिसमें गीतों के भी गद्य में अनुवाद कर दिये गए हैं परन्तु गद्य में गीति-तत्त्व आ गये हैं—

"वे नेत्र नहीं रहे थे। वह समुद्रों की अंतिम रोर थी जिसने क्षितिज पर उठते हुए अरुण का अभिनन्दन किया था। वह वनातों की झूम नहीं थी। महकते हुए वसंत को आज कानन ने दोनों हाथ खोलकर उतर आने का आह्वान किया था। वह महागिरियों का अभिमान नहीं था, हिम शृंगों के तप से पिघलने से पहिले, रस बनने के पहिले का जीवन-संचरण था।"[1]

"आज उनाकना ही देहलीज था। जिस पर मानरूपी चरण धर वह उन्मादिनी अपने प्राणों का आक्रोश अपने ही भीतर रोके खड़ी हुई थी। भीतर से गूंज उठती थी किन्तु बाहर आते-आते वह दृष्टि-सी स्निग्ध हो जाती थी।'[2]

इसी भावुकता की झोंक में आलंकारिक प्रयोग शैली को निखार देते हैं—

"अब कोई आवाज नहीं आ रही है। चारों ओर कोहरे का रूएदार कम्बल ओढ़े अंधेरा सो रहा है। एक चाद ऐसा लगता है जैसे किसी गरीब की खिड़की में लटके टाट में से किसी फटी जगह से बिजली की हल्की-हल्की रोशनी दिखाई दे रही हो।'[3]

वातावरण के चित्रों में भी ऐसी ही आलंकारिकता के दर्शन 'सागर लहरें और मनुष्य' में होते हैं जहां वरसोवा में पूनो की रात का वर्णन किया गया है।[4]

'काका' की भाषा में ब्रजभाषा का भी मिश्रण है इसलिए काव्य का तार प्रारंभ से अंत तक झंकृत होता ही रहता है फिर भी कल्पना के सौन्दर्यदर्शन में बिना ब्रजभाषा के प्रयोग के भी आलंकारिकता का समावेश कर दिया गया है—

"...... लड़की युवती थी ..... आंखें इतनी सहीं कि देखकर लगता था जैसे दो बड़ी रेखाएं हिसाब में खींच दी गई हों। रंग उसका दूध की तरह सफेद था। मुख पर एक नीरसता थी और उदासी आंखों में बैठ गाड़कर अपना डेरा

1. 'कब तक पुकारूं', पृष्ठ ६२।
2. वही, पृष्ठ १८०।
3. वही, पृष्ठ ३१।
4. 'सागर लहरें और मनुष्य,' पृष्ठ ३।

ताने बैठी थी। हसते समय जो उसके गालों में गड्ढे पड़ते थे, वे कुछ ही देर। और होठों की हंसी अंत मे जैसे फीकी-सी हो जाती जैसे वह डेरे वाले मालिक मे बार-बार कोई भीख मागती पर फिर लौट-लौट जाती, क्योंकि उसकी हिम्मत नहीं पडती।"[१]

यद्यपि 'गंगा मैया' की शैली मे आंचलिक शैली की दृष्टि से कुछ अभाव है (न लोक-कथाए हैं और न लोक-गीत, कहने को एक लोक-गीत है परन्तु वह भी अनूदित है) परन्तु भावात्मक भाषा और आलंकारिक शैली का प्रयोग अवश्य है

"ऊषा की सिंदूरी आभा धीरे-धीरे खेतों मे फैलकर रंगीन झील की तरह मुसकरा उठी "नदी का पानी सुनहरे आबे-रवा के दुपट्टे की तरह लहरा उठा—प्रकृति ने एक मीठी अंगडाई लेकर खुमार-भरी पलकें उठाईं। सूरज की पहिली किरण ने उसके अधर चूमे और चर-अचर ने झूमकर जीवन और प्रेम की रागिनी छेड दी।"[२]

'सूरज किरन की छांह' के आत्मकथात्मक उपन्यास होने के कारण उसमे *भावात्मक शैली के लिए अपेक्षाकृत कम स्थान था फिर भी भावना मे डूबे छोटे-*छोटे वाक्य कथाकार मे छिपे कवि को प्रकट कर देते है—

"आज मन कांस जैसा फूला था, तन केले के पेड मे लगे पत्ते की तरह झूल रहा था, रुई जैसी कोमल, फूल जैसी खिली मेरी प्यारी बिटिया' ।'[३]

नागार्जुन की भाषा-शैली पर यद्यपि अश्लीलत्व का आरोप भी किया जाता है परन्तु उनका कवि इस प्रकार के भावनात्मक विवरण भी दे सकता है—

रतिनाथ की चाची ने महिला-परिषद् की बैठक के बाद अपनी आंखों की रोशनी को घने अंधकार मे ऐसे भटकने छोड दिया "जैसे थका और भूखा चरवाहा लापरवाह होकर अपनी गायों को जंगल मे छोड देता है, वे लौट भी आना चाहती है तो मार डंडा से मार डंडा से वह उन्हें फिर जंगल की ओर खदेड देता है। बस्ती नज़दीक नहीं होने मे किसी पेड के नीचे वह बांह का तकिया बनाकर लेट जाता है।"[४]

इस प्रकार की कवित्वपूर्ण भाषा आंचलिक उपन्यासों मे सामान्यत मिल जाती है, किसी नियम के कारण नहीं, उनकी प्रवृत्ति की आवश्यकता के कारण। केवल कवि-हृदय कलाकार ही अंचल को उसके उचित परिप्रेक्ष्य मे देख सकता है—आंचलिक जीवन अनुभूति की गहराई से ही अभिव्यक्त हो सकता है और

१. 'काका', पृष्ठ १६।
२ 'गंगा मैया', पृष्ठ १००।
३ 'सूरज किरन की छांह', पृष्ठ ७८।
४ 'रतिनाथ की चाची', पृष्ठ ८।

जिस उपन्यासकार में अनुभूति की गहराई होगी, जिसे कवि हृदय मिला होगा, वह उपन्यास के विस्तीर्ण कलेवर में कहीं चूक अवश्य जायेगा और अनजाने ही गद्यगीत रचने लगेगा। इसलिए कवित्वपूर्ण अशो का ऐसे उपन्यासो में मिलना पूर्ण स्वाभाविक है। जिन उपन्यासों में ये नहीं मिलते उनकी आंचलिकता यदि सदिग्ध न भी हो तो अधूरी अवश्य होती है। 'मुक्तावली', 'नेपाल की वो बेटी', 'लोहे के पख', 'पानी के प्राचीर' आदि की आंचलिकता में इसीलिए अभाव दिखाई देता है।

भावुकता का गहरा पुट जिन उपन्यासो में दिया जाता है उनमें ऐसे लम्बे-लम्बे विवरण आ जाते हैं जो कथा के प्रवाह को रोक देते हैं परिणामस्वरूप क्लिष्टता अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत हो जाती है जैसा निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा

"—वेदान्त—भौतिकवाद—सापेक्षवाद—मानवतावाद! हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याध के तीर से जख्मी हिरण शावक-सी मानवता को पनाह कहा मिले?·· हा हा हा! अट्टहास! व्याधों के अट्टहास से आकाश हिल रहा है, छोटा-सा, नन्हा सा हिरण हाफ रहा है यह अधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूजती है पवित्र वाणी! उन्हें प्रकाश मिल गया है तेजोमय! क्षत-विक्षित पृथ्वी के घाव पर कोई शीतल चन्दन लेप रहा है।'[१]

'परती परिकथा' का तो सम्पूर्ण कलेवर ही काव्यमय है—घटनाएं काव्यमय हैं (जितेन्द्र, ताजमनी, शिवेन्द्र तथा गीता रोजउड से सबधित), पात्र काव्यमय है (ताजमनी, जितेन्द्र, शिवेन्द्र, गीता रोजउड) और विवरण काव्यमय है—

"दूध-भरे पोखर में चाद! अदृश्य अचचल अचल से दूध झरते देखा। मा-मा की मृदुगध से उसका आगन महक उठा!

मागलिक अनुष्ठान भरा वातावरण! पछियो की पक्तिया उड रही दूधिया आकाश म! पोखरे में पुरइन के पात, महार पर स्थल पद्म की शीत में नहाई पखुडिया! पछियो के बीच हठात् राज हसिनी पर दृष्टि पडी उसकी। स्निग्ध-धवल पख पसार कर पोखरे मे उतरी · उसका जोडा कहा है?'[२]

"दर्शको की आखो में तरल तरग! आनन्दोल्लास! है—ए ए! कौशका महारानी कौन? ताजमनी?·· रेशमी पटोर मैया फाडिके फेकाउली, सोना के गहनवा मैया गाव मे बटाउली, आरे रूपा के जे।—छम्म, छम्मा!·· थर थर कापे धरनी मैया! · सजनी, गिडिग बाजा · मच पर लहराता प्रकाश, जल-छवि-सा! ··मूसलाधार दृष्टि में विशाल परती पर भागती कौशका मैया!···

१ 'मैला आंचल', पृष्ठ ४०६।
२ 'परती परिकथा', पृष्ठ २७५-२७६।

एक दीप टिमटिमा उठा ! उजाला हुआ'' दुलारीदाय ? है—ए ! ए—ए मलारीदाय ? दोनो रे वहिनिया रामा गला जोड़ी बिलखाय !"[१]

शैलेश मटियानी जी के उपन्यासो मे जितना अधिक यथार्थ है, भावुकता का रग भी उतना ही गहरा है। इसीलिए अनुभूति मे डूबे इतने सुन्दर विवरण मिलते हैं—

"पर एक मन रमौती का मन कुछ था, उमकी फागुनिया-सरसो-सी उमर थी, एक चैतिया-याद मोहनसीग की थी, तीसरी बैशाखी-पवन-सी पीताम्बर चिट्ठीरसैन फरफरा गया, जिससे कच्ची फसल भी पकने लगती है ।"[२]

'मन कुछ इस साल शायद रमौती का बहुत ज्यादा फूला था। क्यों न फूलता ? एक फागुनिया उमर, और कुसुमिया-पिण्ड रमौती का, उस पर चैत के महीने मे चहकने वाले कफू पक्षी की कफू कफू-कफू की जैसी एक रट मोहनसीग की याद के सन्यासी के चिमटे की जैसी छणाक्-छणाक् छणाक् 'रमौ-रमौ-रमौ' और तीसरा शनि बैशाखी पवन सा पापी मिट्ठो के तन को झकझोर गया पीताम्बर चिट्ठीरसैन ।'[३]

और यह है पहाडिनो की अपने परदेसी प्रियतमो की स्मृति का छद—

' निर्मोही रे, जब तू जा रहा था, इस सिलगचौर की घाटी मे घास नही अकुराई थी, बाज-कल्याट के वृक्षो मे पाल्यो नही फूटी थी। बैरी रे, जिस वक्त तू आखो के तावे के फैलो जैसे मरके दीठ की ओर पीठ फिरा के जा रहा था, इस सिलग चौर वन खण्ड के वृक्षो मे पछियो के घौसले भी नही लग पाए थे सुवारे जब तेरे पावो—की अगुलिया के मछली के पपोटा जैसे, चादी की अठन्नी-चवन्नियो जैसे नखो को परदेश की पश्चिम दिशा की धूल ढाप रही थी, उस बेला तो गोठ की गैया गाभन भी नही हुई थी रे और अब ? कि, सिलग चौर घाटी की हरी-कौली घास घुटना तक उठ गई है और वृक्षो की पाल्यो की मुलायम गुच्छिया मेरे सिर की बिखरी हुई लटो की तरह झूलने लगी है। मेरे सुवरण, पछियो के घौसले बने थे, उनमे अण्डकोषा-मादिनो की कोखें फली थी और आज चारे के लिए चाच खोलते पछियो के छोटे-छोटे छौनो को चहकते सुन रही हू, तो मेरी छातियो म दूध पगुरा गया है वेशरम, एक छौना तेरी सूरत-मूरत का मेरी गोद मे आ चुका है रे ! वन आई हू, तो घर छूट गया है छौना ! याद आती है उसकी, तो तेरी सूरत को भी हिया तरसने लगता है। ' सुवरन ! तुझे कौली घास-पल्यो, पछी-छौनो और गाय-बाछी की सौ-शपथ, रे निर्मोही, लौट आ ! लौट आ, मेरे सुवरन लौट आ !"[४]

---

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ ५२६ ५२७ ।

२ 'चिट्ठीरसैन', पृष्ठ ११६ ।

३. 'चिट्ठीरसैन', पृष्ठ ११७ ।

४ 'चौथी मुट्ठी', पृष्ठ ७६ ८० ।

केवल कथा मे रुचि रखने वाला पाठक इस प्रकार के विवरणों को लाँघ कर आगे बढ सकता है परतु आचलिक जीवन के प्रति जिज्ञासा रखने वाला भावुक पाठक इनमे ही उपन्यास का सारा रस प्राप्त कर लेता है।

आचलिकता को अधिक मुखर बनाने का कार्य लोक-गीतो की कुशल सयोजना द्वारा भी होता है। सभी आचलिक उपन्यासो मे लोक-गीतो की कडिया बिखरी हुई मिलती हैं। अवसरानुकूल होने के कारण इन गीतो का उपन्यास मे रस-सृष्टि की दृष्टि से विशेष महत्त्व तो होता ही है, उसको के नीरस विवरण इनके सयोग से सरस भी हो जाते है।

इन लोक-गीतो के साथ एक अन्य विशेषता स्वत ही जुड जाती है—लोक-ध्वनिया। लोक-गीत गाने वाला समाज प्रशिक्षित गायकों का समाज नही होता परन्तु लोक-जीवन की माधुरी जन जीवन को उल्लासित बनाए रखती है अत हर्ष-विषाद के नाना अवसरो पर जन-साधारण के कठ से गीतो के बोल अनायास ही फूट पडते है। कुशल सगीतज्ञो का आलाप उनके स्वर से भले ही न हो परतु भावावेग, उत्साह और उमग की तान जरूर होती है जो लोक-वाद्यो की ध्वनि के साथ मिलकर ऐसी सरस तथा मधुर अभिव्यक्ति बन जाती है जिसमे भावुक पाठक रस-मग्न हो जाता है।

इन ध्वनि रूपको का प्रयोग केवल गीतो के सबध मे ही नही किया जाता। आचलिक उपन्यासकार किसी भी ध्वनि को जो उसे विशिष्ट लगे, शब्दो मे बाध कर प्रस्तुत कर देने की क्षमता भी रखता है। इसीलिए कैमरा, टेप-रिकार्डर, आधी-पानी आदि की ध्वनिया भी प्रभावशाली ढग से आचलिक उपन्यासो के पृष्ठो पर अकित दिखाई देती है।

वाद्य एव गीत-सगीत के ध्वनि-रूपको की अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है—

"ट् ह ट् ह ट् ह—यह टिमकी की आवाज है।
ठन् ठन् ठन् —यह थाली पीटी जा रही है।
सुर्र र्र र्र र्र र्र र्र—की भर्राई आवाज जगली भैंसो के सीग के बाजे से निकली। ढोल के घर्राए सुरो के साथ—
रे रे रेलो रे रेलो रे,
रेलो रे रे रेला रे ए ए ए!"[1]

ढोलो की आवाज—

"ढाग ढाग ढी ढी ढिन् ढिन्
रेऽऽऽ हे हे ऽऽऽलो···रे···रे

---

1 'जगल के फूल', पृष्ठ ५।

हे ऽ ऽ ऽ हे हे ऽ ऽ ऽ
... .
तोरे हारे ना ना रे, तोरे हारे ना ना ऽ ऽ ऽ '[१]

चलचित्तर नगाड़े की चोट पर नाच रहा है—

"धिनागी धिन्ना, तिरनागि तिन्ना
धिनक धिनता तिरकट ग—द ग धा !
आह चलहू मति मुगधाम् चलहू !
आहे कन्हैया जहा जिन्त है
रास रचाओल है ! चलहु है चलहू !
धिन्ना, तिन्ना—न थि धिन्ना ! '[२]

लोक-गीत तो लगभग सभी उपन्यासों में मिल जाते हैं—

"चादो बनिया साजिनो बरात ओ—रे—चादो
बनिया रे—ए—ए—ए—ए !
अरे, एक लाख हाथी साजिनो, दुई लाख घोड़ा—
हाथीर ऊपर हौदा साजे, चादा अधिकारी—
ओ—रे—चादो बनिया—रे—ए—ए ए ए ! '[३]

'धरती परिकथा' में दत्ता सरदार ने—

"दिया है मिरा उठा के फूक—ई—हि—ई—ई—! ! हुय—हुय—
हुय—हुय—हुर्र—र्र—र्र—र्र—र्र—! ! धू—धू—धू—धू—
घु—र्र—र्र—र्र—र्र—र्र—र्र—! ! बुय—बुय—बुय—हु—
हु—हु—हु'' ! ! "[४]

इस प्रकार राग के, विराग के संयोग के, वियोग के वर्षा के, वसंत के, आनन्द के उत्सव के, सभी प्रकार के गीत तो उपन्यासों में यथा स्थान मिल ही जाते हैं धया गव कार्यों से संबंधित गीत भी छूट नहीं जाते। ऐसे गीतों में भी ध्वनियों का ही महत्त्व अधिक होता है। मछुआरों का यह गीत अत्यंत स्वाभाविक है—

'—झाइस झाड
— हुईयो
—पीछे हट के '

---

१ 'सूरज किरन की छाँह', पृष्ठ १३२।
२ 'मैला आँचल', पृष्ठ १०४।
३ 'जुलूस', पृष्ठ ११६।
४ 'धरती परिकथा', पृष्ठ १६१।

—हु ई यो
......
—रे हू म्हारी
—हु ई यो
......
—गंगा मैया
—हु ई यो…"[1]

यह है कोसी-बाँध के निर्माण का रूपक—

"जनता का विशाल दल ! पर्वत तोड़ हुल्यो ! पत्थर जोड़ होल्या इस कोसी को साधेंगे !·· बच्चे मर गये, हाय रे ! बीबी मर गई हाय रे ! उजड़ी दुनिया, हाय रे !·· हम मजदूर हो गये ··वर्ष महीना एक कर, खून पसीना एक कर। बिखरी ताकत जोड़कर, पर्वत पत्थर तोड़ कर। इन डायन को, साधेंगे ·· ठक्कम-ठक्कम-ठक्क-ठक्क ! घटम-घटम-घट टिडिरिक टिडिरिक "[2]

सामान्य ध्वनियों से संयुक्त आंचलिक चित्रण का एक उदाहरण 'वरुण के बेटे' में प्राप्त होता है—

"थूक फेंकने की आवाज···पिच्च !
....
मोटी आवाज, धत्त !
.. ..
बुल बुल बुल बुल बुल बुल बुलुब बुद्र बुब···बुल बुले··
—जाल पानी में फेंक दिया···भा।।।।।प"[3]

आँधी-पानी, वर्षा आदि की ध्वनियों को भी आंचलिक उपन्यासकार कुशलता से शब्दों में बाँध देता है :

"···गड़गड़ गड़गड़···गुड़म !
···कड़कड़ कड़ कड़—गुड़ुम गुड़ुम !
···सुई—सि—ई—ई—ई ! !"[4]
'घुर-घुर, घुर-घुर पानी की धारा गड़ही में गिर रही है···"[5]
'ह—ह—ह—हास···ह—ह—ह—ह—हाम—भेड़िया उछल रही है !"[6]

---

१. 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ४६।
२. 'परती परिकथा', पृष्ठ ५२९।
३. 'वरुण के बेटे', पृष्ठ ४।
४. 'जुलूस', पृष्ठ १७७।
५. 'पानी के प्राचीर', पृष्ठ १३८।
६. वही, पृष्ठ १३५।

'परती परिकथा' में रघ्घू रामायनी ने सुन्दरि नैका की कथा इतने विशेषम तथा प्रभावशाली ढंग से कही कि कमजोर दिल लडकिया बेहोश हो गई। उन्हे हवेली के चारो ओर दैत्य दौडते दिखाई देने लगे—

"एक साथ एक सहस्त्र राक्षस धरती पर दांत मारते हैं गच्चाक्। पाताल-पुरी में कच्छप भगवान की पीठ पर दांत बजते—खट्ट्!

ढाक् ढक्कर—ढाक् ढक्कर

घोड भर्रा-र्र-आह! फाड-भर्रा-आह!!

भरी राति में मोदाय, पनिया छह छह छहाय

नदिया देवा बहाय—य—य

ह—य आग मार!

हाय दांत मार—र—ए—ए खच्चाक्!

खट्ट्र!! ढाक—ढक्कर, ढाक्—ढक्कर

कुह, कुक्का कह कूक्का!!"[1]

सुन्दरि नैका की पूरी कथा ऐसे ही चित्रणो से परिपूर्ण है।

'मैला आंचल' में भारत के आजाद होने पर रात का बारह बजे—

'टीन के कनस्तर मे मुह सटाकर कालीचरण ने हल्ला किया भौ ओ थ ओ ओ!!

मठ पर खजडी डिमक उठी—डिम डिम डिम डिमिक!

बालदेवजी ने—हाक लगाई 'ह ह ह ह ह ह! भारथ आजाद हो गया ह ह ह ह हाय रि रि ता धिन ता डा डिग्गा!!

सथाल टोली म मादर और डिग्गा घनघना उठते हैं।

तू ऊ ऊ ऊ, मोसी साथ फूकती है तू ऊ ऊ ऊ कटिहार की पाचो बडी-बडी मिला के भौंपू एक साथ बज रहे हैं—

भौ ओ ओ धू ऊ ऊ!'[2]

'परती परिकथा' मे एक ओर कुत्ते मीत की बाग! बाग! बाग! है तो दूसरी ओर पण्डुकी की 'तुर—तुत्तू—उ—उ, तु—उ तु—उ तू' के साथ चामा-चकेवा की यह बानी भी है—' कैंक्—कैंक् कैं ऐं कैं-ऐं—कैंक् कैंक!!'[3]

"ट्टिप—टि—टि—टि—टि—! सुरपति ने टेप रकार्डर का बटन आन किया ट्टि—टि—टि—टि!!"[4]

---

१ 'परती परिकथा', पृष्ठ १९३-१९४।

२ 'मैला आचल', पृष्ठ २६१।

३. 'परती परिकथा', पृष्ठ २, २५४।

४ वही, पृष्ठ १८८।

उधर वह बुलडोज़र चल रहा है—

"टटठांय !" गड़ंर—गड़—गड़—गड़ गुड़गुड़—भट—भट पट्—
पट्—पट्—पट् पड़—पड़ !! गुड़गुड़ !!"[1]
" "त्रि—रि—रि—रि—रि—रि—रि—र्चक् !
"फोट् हो रहा है, फोट् ।"[2]

आंचलिक उपन्यासों में ध्वनि-रूपकों के ऐसे चित्रणों पर कई विद्वान आपत्ति करते हैं। उनके मतानुसार इस प्रकार के विवरण औपन्यासिकता के ह्रास का कारण होते हैं। उनके आरोप इस दृष्टि से तो सही हैं कि भावनापूर्ण विवरणों, लोक-कथाओं, लोक-गीतों और ध्वनि-रूपकों आदि के समावेश से कथाप्रवाह में व्यवधान आ जाता है और कई बार बोध-गम्यता का भी क्षय हो जाता है परन्तु साहित्य की, जिसका एक अंग उपन्यास भी है अन्य कई आवश्यकताएं भी होती हैं। साहित्य एक कला है और कला का उद्देश्य सामान्य रुचियों को परितृप्त करना ही नहीं होता, उसका लक्ष्य चित्त-वृत्तियों को जाग्रत् कर उनका उदात्तीकरण करना भी होता है। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यासकार पाठक को भाव-भूमि के उस धरातल पर पहुंचा देता है जिससे उसने स्वयं अंचलों का निरीक्षण किया होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उपन्यास के सभी तत्वों पर भावना का गहरा रंग चढ़ जाता है। इस भावना की अपनी गति होती है, अपनी लय होती है और अपना संगीत होता है जिसकी परिव्याप्ति उपन्यास के संपूर्ण कलेवर में होती है। अतः आंचलिक उपन्यास पर शैली-शैथिल्य, प्रभाव-प्रवणता के अभाव और क्लिष्टता का दोष लगाना कोई अर्थ नहीं रखता। शैली का प्रवाह भावना के प्रवाह में निहित होता है, उसकी प्रभाव-प्रवणता आंचलिक-निरूपण के कौशल में छिपी होती है और सरसता आंचलिक जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में समाहित होती है। संक्षेप में, आंचलिक उपन्यासों की शैली का अपना रस होता है जो एक ओर औपन्यासिक रस से भिन्न नहीं होता वहां दूसरी ओर कला के उच्च आदर्शों को भी अपने में पर्यवसित किये होता है। यथार्थवादी आंचलिक उपन्यासों में जहां भावना का रंग इतना गहरा नहीं होता वहां दार्शनिक-चिन्तन उसकी कमी को पूरा कर देता है। परिणामस्वरूप दोनों ही स्थितियों में आंचलिक उपन्यास अन्य प्रकार के उपन्यासों से अपने प्रभाव में विशिष्ट बन जाता है। आंचलिक उपन्यासों की शैली की यह विशिष्टता हिन्दी उपन्यास-शिल्प की एक ऐसी उपलब्धि है जिस पर संपूर्ण साहित्य गर्व कर सकता है।

---

१ वही, पृष्ठ ४५६।
२ वही, पृष्ठ १२०।

नवम अध्याय

साहित्यिक महत्त्व

आंचलिक उपन्यास साहित्य ही नहीं कलाकृति भी होता है इसलिए उपन्यास के रूप में ही उसका महत्त्व समझ लेना पर्याप्त नहीं, कलाकृति के रूप में भी उसका मूल्यांकन आवश्यक है। यही नहीं, आंचलिक उपन्यासकार लोक-जीवन की जिस गहन जानकारी से प्रेरित होकर साहित्य का सर्जन करता है वह सामान्य उपन्यास की प्रवृत्ति को ही बदल देती है और उपन्यास लोक-साहित्यिक बन जाता है। इस प्रकार उपन्यास के रूप में, कलाकृति के रूप में और लोक-साहित्य के रूप में आंचलिक उपन्यास जिस अभिनव रूप को प्राप्त कर लेता है वह उसे अपनी ही कोटि के देशी-विदेशी उपन्यासों से भी भिन्न करता है। आंचलिक उपन्यासों के इस साहित्यिक महत्त्व को भली प्रकार हृदयंगम करने के लिए उसकी विशिष्टता के सभी पक्षों का सम्यक् विवेचन आवश्यक है।

उपन्यास के रूप में

उपन्यास का प्रारंभ मनोरंजन के लिए हुआ था और अपने विकास की प्रारंभिक स्थिति में उसने यही लक्ष्य रखा भी था परन्तु जैसे-जैसे लेखकों को उसकी शक्ति का परिचय मिलने लगा, उन्होंने उसका अन्य उपयोग भी आरंभ कर दिया। इसीलिए अपने विकास की मध्य की स्थिति में उपन्यास मनोरंजन के कार्य से किंचित च्युत होकर समाज सुधार और जागृति के कार्य की ओर भी उन्मुख हुआ। धीरे-धीरे बुद्धिवाद उपन्यास पर हावी होने लगा और प्रेमचंद के बाद कलाकारों ने व्यापक जीवन के चित्रण के स्थान पर संकीर्ण सीमाएं अपना लीं। वस्तु-जगत् के स्थान पर अंतर्जगत् का आग्रह प्रबल हो गया। पूर्व की मानवतावादी एवं राष्ट्रीय भावनाओं को त्यागकर अधिकांश लेखकों ने व्यक्तिवादी और सैद्धान्तिक भूमि अपनाई। दर्शन का समावेश यद्यपि 'प्रसाद' जैसे लेखकों ने भी अपने उपन्यासों में किया था तथापि वहां वह कला में पर्यवसित हो गया था इसीलिए कलात्मकता निखर आई थी। परन्तु वर्तमान युग के उपन्यासकारों ने दर्शन को कथा का आधार बनाकर उसका सप्रयोजन प्रयोग किया।

परिणाम स्वरूप कला जीवन से दूर होती चली गई। जैनेन्द्र के उपन्यासो मे तटस्थता और वस्तु-मूलकता के अभाव के साथ मनोविज्ञान, सामाजिकता, नैतिकता और दार्शनिकता का भी प्रबल आग्रह है जिनसे औपन्यासिकता का ह्रास हो जाता है श्री नददुलारे वाजपेयी तो उनके उपन्यासकारत्व तक को सदिग्ध मानते है—

'हिन्दी की अविकमित स्थिति मे चाहे उन्हे मसीहा का पद दे दिया जाय पर प्रबुद्ध पाठक के द्वारा वे सदा सदिग्ध दृष्टि से ही देखे जायेंगे।"[१] जैनेन्द्र ही नही, वर्तमान काल के सभी उपन्यासकारो पर किसी मतवाद अथवा बौद्धिक-अतिवाद का भूत सवार रहा है।

'हिन्दी उपन्यामकारो के साथ यह रोग-सा लग गया है कि उनके पास पकाने के लिए कोई न कोई खिचडी होती ही है।"[२]

यदि अज्ञेय मे 'आदर्श-अह' (ईगो-आइडियल) है तो इलाचन्द्र जोशी मे मनोविज्ञान और प्रगतिवाद के अन्त और बाह्य सतुलन का प्रयत्न यदि अश्क का यथातथ्यवाद यथार्थ और विज्ञान समन्वित है तो यशपाल कला को मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपति करने के समर्थक हैं यदि राहुल साकृत्यायन और वृदावनलाल वर्मा मे उपयोगितावाद का आग्रह है तो चतुरसैन म ऐतिहासिकता का, यदि धर्मवीर भारती और नरेश मेहता मे शिल्प सबधी नवीनताए है तो जीवन तत्त्व की रेखाए क्षीण हो गई है। इस प्रकार यदि वर्तमान काल के विविध उपन्यासा और उपन्यासकारो की कला पर विचार किया जाये तो यह स्वत ही स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि तत्त्व के प्राबल्य के कारण वर्तमान कालीन उपन्यासो का कला-पक्ष भले ही विकसित हुआ हो, उनकी मनोरजन-क्षमता का अवश्य ह्रास हुआ है। मनोरजन के इसी अभाव की पूर्ति तथा कला के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आचलिक उपन्यासो का प्रारभ हुआ। आचार्य नददुलारे वाजपेयी ने भी आचलिकता की प्रवृत्ति को नये उपन्यासा की गतिहीनता की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया ही माना है—

'विषय-वस्तु और लेखन प्रक्रिया मे एक प्रकार की स्थिरता अथवा गतिहीनता देखकर कुछ पुराने उपन्यासकारो ने अपनी दिशा बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोडकर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति वाली जातियो और स्थितियो के चित्रण को अपनाया उनके लिए यह एक प्रयोग था। वे पिष्ट पेषण से बचना चाहते थे।"[३]

---

१. श्री नददुलारे वाजपेयी, 'नये उपन्यास' (सम्पादकीय), 'आलोचना' (अक्टूबर १९५७) पृष्ठ ४।

२ वही।

३ श्री नददुलारे वाजपेयी, 'नये उपन्यास' (सम्पादकीय), 'आलोचना' (अक्टूबर १९५७) पृष्ठ ७।

श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी का भी यही मत है कि व्यक्ति का केन्द्र बनाकर जो साहित्य रचा गया उसमें वह समाज-निरपेक्ष और एकांगी हो गया, गल्प-साहित्य एक तरह के मनोवैज्ञानिक कुहासे से ढक गया और हिन्दी साहित्य में गतिरोध आ गया। यह गतिरोध आंचलिक-विधा के कथा-साहित्य से ही टूटा।[१]

इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य उपन्यास को उपन्यासत्व प्रदान कर उपन्यास नाम को सार्थक करना था। नया उपन्यास जीवन से दूर हो गया था इसलिए आंचलिक उपन्यास जीवन के अधिक निकट आया, उस जीवन के जो अधिक स्वाभाविक था, कृत्रिमता से दूर था और नवीन प्रभावों से अप्रभावित था। नगर का जीवन भौतिकता, संस्कृति राग, विज्ञान तथा अन्याय प्रभावों से ग्रस्त होने के कारण अपनी स्वाभाविकता से दूर हो जाता है। उसकी नवीनता जिज्ञासा जाग्रत् कर सकती है अनुराग नहीं। अतः अज्ञेय यशपाल अज्ञेय जैसे उपन्यासकारों के उपन्यासों में वर्णित जीवन असन्तोष एवं विकर्षण को ही जन्म देता है। उससे प्राप्त होने वाला आनन्द (यदि उसे आनन्द ही कहा जाय) बुद्धिगत होता है हृदयगत नहीं जबकि सच्चे आनन्द की अनुभूति हृदय में होती है। इसी-लिए बौद्धिकता का आग्रह लिये हुए उपन्यास मनोरंजन नहीं कर पाते। नवीन अंतर्दृष्टि की प्राप्ति का सन्तोष एवं जीवन के अपने अनुभवों की पुनरावृत्ति देखकर पाठक उनसे मानसिक परितृप्ति अवश्य प्राप्त कर सकता है। परन्तु आंचलिक उपन्यास भिन्न प्रकार का सन्तोष एवं सुख प्रदान करते हैं। उनसे वास्तव में मनो-रंजन होता है क्योंकि उनमें वर्णित जीवन हमारे सामान्यतः चित्रित किये जाने वाले जीवन से भिन्न होने के कारण आकर्षक दीखता है। यह सत्य है कि अंचलों के जीवन की अपनी समस्याएँ अपने दुःख, अपने क्लेश तथा अपने असंताप होते हैं परन्तु ये उन समस्याओं दुःखों एवं असंतापों से भिन्न होते हैं जिनका अनुभव एक सामान्य पाठक नित्य प्रति के जीवन में करता है। यदि अरस्तू के वृत्ति परिष्कार के सिद्धान्त (Theory of Catharsis) पर विचार करें तब तो दुखान्त कथा भी आनन्ददायिनी लग सकती है परन्तु अपनी ही पीड़ाओं और समस्याओं को उलट फेर कर उपन्यासों में देखने से रोचकता का अवश्य क्षय हो जाता है और कथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रह जाती है। इसके विपरीत आंचलिक उप-न्यास जिस जीवन को प्रदर्शित करता है वह अपेक्षाकृत अज्ञात होता है। अतः उस जीवन की समस्याएँ एवं दुःख भी नये अथवा भिन्न दिखाई देते हैं और अपनी भिन्नता के कारण उस परिवर्तन का अनुभव कराते हैं जो मनोरंजन अथवा आनन्द का आधार होता है। एक ही वस्तु सदा आनन्ददायिनी नहीं लगती। उपभोग्य वस्तुओं का समय-समय पर परिवर्तन उन्हें उपभोग्य बनाये रखता है।

१ श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी, आंचलिक उपन्यास ग्रामीण मध्यवर्ग', 'कल्पना' (मई १९५८) पृष्ठ ५७।

दु ख भी यदि सदा वही, एकसा रहे तो अधिक पीडाकारक होता है। परन्तु यदि उसकी प्रवृत्ति बदलती रहे तो प्रत्येक परिवर्तन अपनी नवीनता के अनुपात मे दु ख की अनभूति को कम कर देता है और यह कमी ही आनद की स्थिति है, रोचकता का समावेश है। दु ख की कमी आनन्द, आकर्षण अथवा रोचकता के अनुपात मे ही होती है। इस दृष्टि से आचलिक उपन्यास मनोरजन-क्षमता म अधिक समर्थ होते हैं और जैसा स्पष्ट किया जा चुका है यह सामर्थ्य आनन्दपूर्ण स्थितियो के कारण नही, उपन्यास में उद्घाटित स्थितियो एव जीवन की नवीनता के कारण प्राप्त होती है। आचलिक उपन्यासो मे प्रदर्शित इस जीवन तथा उसकी मनोरजन-क्षमता पर विचार करना भी आवश्यक है।

आचलिक उपन्यास कथा-वस्तु की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं—जन-जीवन और जन जातियो से सबधित। जन-जीवन से सबधित कथा के उदाहरण के रूप मे 'मैला आचल' को और जन जातियो से सबधित कथा के उदाहरण के रूप मे 'कब तक पुकारू' को यदि ग्रहण करें तो आचलिक उपन्यासो की मनोरजन-क्षमता का रहस्य स्वत ही स्पष्ट हो जायेगा। दोनो ही उपन्यासो मे जीवन समस्याग्रस्त है। 'मैला आचल' का कोई पात्र सुखी नही है, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शोषण के साथ अनैतिकता बीमारी और गरीबी का गठ-बधन हो रहा है, धरती आसुओ से गीली है, लोग गाव छोड छोड कर शहर की ओर भाग रहे है। 'कब तक पुकारू' मे नटो का जीवन तो अत्यत क्लेशपूर्ण प्रदर्शित किया गया है। यह सारा समाज घोर उत्पीडित और शोषित है। छोटे-मोटे धधो के साथ ये लोग चोरी भी करते है। इनकी स्त्रिया अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होती हैं, शक्ति अथवा धन-सपन्न व्यक्ति इन पर मनमाना अत्याचार कर सकते हैं। उपन्यास मे सुखराम, प्यारी और कजरी के माध्यम से जो जीवन दिखाया गया है, वह रहने योग्य कहा है?

परन्तु फिर भी इन उपन्यासो से मनोरजन इसलिए होता है कि उन कथाओ के जीवन की समस्याए भिन्न और दूर की लगती है तथा पाठक के हृदय की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर चित्त परिष्कार मे भी योग देती हैं। परन्तु कवल चित्त-परिष्कार मनोरजन नही कर पाता। इन उपन्यासो की मनोरजन-क्षमता का रहस्य इनके अत म निहित होता है। षष्ठ अध्याय मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी आचलिक उपन्यास निराशावाद का प्रचार नही करता। आदर्शवादी पात्रो को अत मे सुख प्राप्त हो ही जाता है और यदि कथा मे यह कहीं प्राप्त नही भी हो पाता है तो भविष्य मे इसकी प्राप्ति का सकेत अवश्य होता है। इस प्रकार दु ख-सुख का सतुलन करके आचलिक उपन्यास का कथा-तत्त्व मनोरजन-क्षमता प्राप्त कर लेता है।

आचलिक उपन्यासो का पात्र-निरूपण भी रोचकता को जन्म देता है।

प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में भावना की गहराई से निकालकर ऐसे पात्र लाये जाते हैं जो पाठ्य-जगत को अपने व्यक्तित्व से आच्छादित कर लेते हैं। पाठक केवल उनके क्रिया-कलापों में ही आनन्द नहीं पाता प्रत्युत मनोवैज्ञानिक-निरूपण में भी रस प्राप्त करता है। डा० प्रशान्त (मैला आंचल), जितेन्द्र और शिवन्द्र (परती परिकथा), रत्ना और वंशी (सागर लहरें और मनुष्य), हौलदार नायूसिंह (चिट्ठीरसैन), डूगरसिंह (हौलदार) आदि ऐसे ही पात्र हैं। 'काका' जैसे लघु उपन्यास में तो सभी प्रमुख पात्र अनुभूति की गहराई से चित्रित होने के कारण अत्यंत प्रभावशाली बन गये हैं। चाहे काका परसराम पर ध्यान दें चाहे त्रिन्दिया पर चाहे छोटे से बालक गिरधर पर सभी का अपना आकर्षण है। कभी-कभी तो निष्क्रिय पात्र भी निरूपण की विशिष्टता के कारण रोचक बन बैठते हैं जैसे कमला (मैला आंचल), ताजमनी और गीता मिश्र (परती परिकथा) कान्ता (काका) और रमौनी (चिट्ठीरसैन)।

प्रकृति और सामाजिक परिवेश के प्रभावशाली चित्र भी आंचलिक उपन्यासों में रोचकता की सृष्टि करते हैं। सबसे बढ़कर तो भाषा शैली को कथानक, पात्र एवं चित्रण के इस प्रकार अनुरूप बनाया जाता है कि अंचल अपने समग्ररूप में पाठक के सामने अवतरित हो जाता है। शैली में अनोखी चित्रोपमता प्रभावोत्पादकता और प्रवाहात्मकता होती है और आंचलिक शब्द, विकृत-शब्द, ध्वनि रूपक आदि आंचलिक उपन्यास को एक भिन्न ही प्रकार का आकर्षण प्रदान कर देते है। परिणाम-स्वरूप आंचलिक उपन्यासों की मनोरंजन क्षमता भी विशिष्ट प्रकार की हो जाती है जिसमें एक ओर नैतिक आग्रह प्रबल होता है और दूसरी ओर कलाकारिता। नैतिक आग्रह कथा को आदर्श की ओर उन्मुख करता है। आदर्श की यह दिशा पात्रों द्वारा निर्धारित होती है। पूर्व अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी आंचलिक उपन्यास निराशावाद का प्रचार नहीं करता क्योंकि प्रमुख पात्र एक आदर्श की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते है और या तो वे सफलता प्राप्त कर लेते हैं या सफलता की आशा बधाते है। एक तीसरी स्थिति में ऐसा भी होता है कि सामान्य जीवन में प्रवाहित होते हुए पात्र अंत में सद्-बुद्धि प्राप्त कर लें और उनका जीवन की दिशा बदल जाये अथवा उनके व्यक्तित्व के कारण संघर्ष समाप्त हो जाये और शान्तिपूर्ण जीवन प्रारंभ हो जाये। प्रथम प्रकार की स्थिति 'सागर लहरें और मनुष्य', 'चौथी मुट्ठी', 'जुलूस' और सूरज किरन की छांह जैसे उपन्यासों में मिलती है और दूसरे प्रकार की 'चिट्ठीरसैन', 'काका', 'हिरना सावरी' जैसे उपन्यासों में। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास जीवन को सवारने और सुधारने का आदर्श प्रतिष्ठित करने में सफल होते हैं।

कलाकृति के रूप मे

उपन्यास साहित्य की नही, कलाकृति भी होता है और कला का उद्देश्य सदा ही जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर उन्मुख करना होता है। आचलिक उपन्यास जिस जीवन का उद्घाटन करता है वह वास्तविक जीवन होता है, परन्तु उसकी विशेषता यह होती है कि अन्य उपन्यासकार उसको अनदेखा कर जाते हैं। यही आरोप आचलिक उपन्यास पर भी लगाया जाता है कि वह जीवन के एक पक्ष (नगरीय जीवन) की उपेक्षा कर जाता है। इस सबध म इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसा आक्षेप अर्थहीन है क्योकि कलाकार सदा ही अपनी रुचि का विषय चुनता है। वह जीवन को उसकी पूर्णता मे ग्रहण करे यह आवश्यक नही। हा, यह आवश्यक है कि जीवन के पक्ष-विशेष का निरूपण अन्य पक्षो की निस्सारता अथवा उनके अज्ञान का आभास न दे और इस प्रकार जीवन का असतुलित चित्र उपस्थित न करे। इस दृष्टि से अनाचलिक और आचलिक दोना प्रकार के उपन्यासकार अपने द्वारा चुने गये जीवन के निरूपण के पूर्ण अधिकारी हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या आचलिक उपन्यासो मे निरूपित सत्य और अन्य विधाओं के उपन्यासो मे निरूपित सत्य मे अतर होता है? इस सबध मे कहना पडेगा कि 'हा अन्तर होना है।" आचलिक उपन्यास का सत्य वह वास्तविकता होती है जो नैसर्गिक, परिस्थितिजन्य एव स्वाभाविक होती है। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक, प्रगतिवादी अथवा अन्य प्रकार के उपन्यासो का सत्य बहुत कुछ तर्क-बुद्धि का परिणाम होता है। सभी स्थानो पर रहने वाले मनुष्यो का मन एक जैसी चिन्तन धाराओ मे क्रीडा नही करता और न एक स्थान पर रहने वाले सभी मनुष्यो का मन एक जैसी प्रेरणाओं से उद्दीप्त रहता है। जिन पात्रो का मनोवैज्ञानिक निरूपण मनोवैज्ञानिक उपन्यास का लक्ष्य होता है वे पात्र अवश्य विशेष और किसी सीमा तक असामान्य होते है। यदि ऐसा न होता तो इस ससार का स्वरूप ही कुछ और होता। भारत जैसे देश मे कितने शेखर मिलेगे कितने हरिप्रसन्न और कितनी सुनीता? परन्तु प्यारी और कजरी (कब तक पुकारू), किसी भी तट समाज मे मिल जायेंगी, रामनन्द और पार्वती (आठवी भावर) कही भी गोसाईयो मे पाये जा सकते है, मक्खूल (परती परिकथा), दयाल पण्डित (अलग अलग वैतरणी) और कमली (मैला आचल) जैसे पात्र कही भी देखे जा सकते हैं। प्रगतिवादी उपन्यासो मे उपन्यासकार का उद्देश्य सत्य को विशेष उद्देश्य से तोड-मरोड कर प्रस्तुत करना होता है। यदि ऐसा न होता, प्रगति का वैसा ही स्वरूप सत्य होता, तो आज वर्षो बाद भी पाखण्डवाद, अधविश्वास और सामाजिक विषमताओं का रूप पूर्ववत ही नही दिखाई देता। इसके विपरीत आचलिक उपन्यासो मे जिस सत्य को प्रस्तुत किया जाता है उसके पीछे न कोई आग्रह होता है और न कोई निहित

उद्देश्य वरन् उपन्यासकार तो आंचलिक जीवन के उस सत्य को जो परिवेश और परिस्थिति जन्य होता है इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह न अशोभन लगे और न कृत्रिम। यथार्थ होने के उपरान्त भी यदि वह अशिव नही होता तो इसका कारण यह है कि जिस सदर्भ म उसे उद्घाटित किया जाता है उसमे वह अस्वाभाविक नही भासित होता। इसके विपरीत सामाजिक उपन्यासो मे उद्घाटित होने पर वह अनाचार को प्रोत्साहित करता है और मनोवैज्ञानिक उपन्यासो म प्रकट होने पर कुण्ठाओ को जन्म देता है। ऐतिहासिक अथवा अन्य प्रकार के उपन्यासो मे यथार्थवादी (अथवा अतियथार्थवादी) विवरण मानसिक ऐय्याशी की तृप्ति का साधन बनकर आते है। इसमे सदेह नही कि अनुपात ज्ञान खो जाने पर अवश्य ही किन्ही आंचलिक उपन्यासो म यथार्थ वर्णन आपत्तिजनक लगे परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलग और वे भी वही जहा उपन्यासकार की प्रवृत्ति आंचलिकता पर हावी हो गई हो।

आंचलिक उपन्यासो की कथा वस्तु की विवेचना म यह बात भी स्पष्ट की गई है कि आंचलिक कथा का मुख्य स्वर आशावादी होता है और एक आदर्श की ओर सकेत करता है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास का सत्य अधिक स्वाभाविक ही नही होता, आदर्श-विधाता होने के कारण शिव भी होता है।

यो तो सुन्दर, सत्य और शिव मे स्वत ही समाहित होता है तथापि आंचलिक उपन्यासो की कला मनोवैज्ञानिक, सिद्धान्तवादी अथवा अन्य यथार्थवादी उपन्यासो की शुष्कता की तुलना म अधिक सरस होती है। कला सौन्दर्य क साथ ही उसमे भाव-सौन्दर्य और आदर्श सौन्दर्य भी उपलब्ध होता है इसीलिए इन उपन्यासो मे काव्यात्मकता का भी समावेश हो जाता है जिससे अन्य विधाओ के उपन्यास रहित होते है। इस सबध 'शैली शिल्प' शीर्षक अध्याय मे विस्तार से विचार किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यास कलाकृति के रूप मे अन्य विधाओ के उपन्यासो से श्रेष्ठ होते हैं।

लोक-साहित्य के रूप मे

विषय एव प्रस्तुतीकरण की विशिष्टता आंचलिक उपन्यासो को लोक साहित्य बना देती है। लोक साहित्य फोक लोर' अथवा 'लोक सस्कृति[१] का ही एक अग होता है। अपनी पुस्तक ए हैन्ड बुक ऑफ फोक लोर' म सोफिया बर्न ने फोक-लोर के विषय तीन श्रेणियो म विभक्त किए हैं— (१) लोक विश्वास और अध-परम्पराए (२) रीति रिवाज और प्रथाए (३) लोक साहित्य। डा०

---

१ (क) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'जनपद (वर्ष १ अक १), पृष्ठ ६५।
(ख) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भूमिका), पृष्ठ १२।

सत्येन्द्र ने भी इन्हे मान्यता प्रदान की है।[1] यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो आंचलिक उपन्यास अपने कलेवर मे इन तीनो विषयो का समन्वय कर लेता है और लोक-संस्कृति को उद्घाटित करता है। आंचलिक उपन्यासो मे लोक-विश्वास एवं अंध-परम्पराओ के उपादान भूत-प्रेत, जादू-टोना, ताबीज, शगुन, रोग, मृत्यु संबंधी अंध-विश्वास आदि; रीति-रिवाज और प्रथाओ के उपादान विवाह, उत्तराधिकार, अनुष्ठान, त्यौहार, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि, और लोक-साहित्य के उपादान धर्म गाथाएं, अवदान (लीजैंड), लोक-कहानियां, गीत, लोरियां आदि होते है। इनका सुन्दर सम्मिश्रण आंचलिक उपन्यास मे होता है। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यास सच्चे अर्थ मे 'लोक' का साहित्य बन जाते हैं। 'लोक' शब्द का अर्थ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उस समूची जनता के से लिया है जो नगरो और गावो मे फैली होती है और जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नही होती तथा जो लोग-नगरो के परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल एवं अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।[2] इन लोगो की संस्कृति लोक-संस्कृति होती है जो शिष्ट संस्कृति से भिन्न होती है।[3] यही संस्कृति आंचलिक उपन्यासो का आधार बनने के कारण उन्हे लोक-साहित्य बना देती है।

यद्यपि लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक रूप मे चलती रहती है तथापि इसके कुछ निश्चित उपादान होते हैं। इन उपादानो का संबंध लोक-गीतो, लोक-कथाओ, लोक-मान्यताओ, लोक-विश्वासो तथा इसी प्रकार की उन वस्तुओ से होता है जो भावना की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित होती हैं और जिनके लिये कोई तर्क-संगत अथवा वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत नही किया जा सकता। फिर भी उनमे लोक के जीवन का इतना सच्चा, इतना गहरा और इतना पवित्र चित्र खींचा जाता है कि वह हृदय को शान्ति और आनंद प्रदान करता है। इस पर युग का इतना प्रभाव नही होता जितना परम्पराओं का। इसी मे जीवन के प्राचीनतम तथा उत्कृष्टतम आदर्श विद्यमान होते है। यह युगो की देन होता है जिसमे समाज का जीवन, समाज के आंसू और समाज का हास्य सुरक्षित होता है। लोक-साहित्य का आदर्श महान होता है और उनकी कथाओ का अंत सदा ही किसी उच्च भावना का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकार के भरत-वाक्य से होता है—"जैसे इनका दिन लौटा वैसे भगवान् सबका दिन लौटायें।" आंचलिक उपन्यासो मे भी किसी स्थान विशेष (अंचल) की कथा होती है, उसी के पात्र होते हैं और वहीं की मान्यताएं, परम्पराएं, विश्वास, गीत, कथाएं आदि होती हैं। दूसरे शब्दो

१ डा० सत्येन्द्र, 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ४-५।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'जनपद' (वर्ष १ अंक १), पृष्ठ ६५।

३. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' (भूमिका), पृष्ठ ४।

मे, वहा का सम्पूर्ण जीवन ही उनमे निरूपित हो जाता है। अत आचलिक उपन्यास अपने शाब्दिक अर्थ मे भी लोक-साहित्य बन जाता है।

आज वैज्ञानिक विकास की नीव पर आधारित सभ्यता का साहित्य लोक तत्त्व से दूर होकर भौतिकता की दिशा म अग्रसर होता जा रहा है। उसमे सस्कृति के नाम पर सभ्यता के कुप्रभावो का ही चित्रण मिलता है परम्पराए अनुचित समझ कर त्याग दी जाती है और युग की काली छाया घनीभूत होकर उन पर उतर आती है। परिणाम यह होता है कि हास्य तिरोहित हो जाता है और आसू सतह पर झलकने लगते हैं। उसकी जड भमि मे गहरी जाने की अपेक्षा धरातल पर ही फैल जाती है। ऐसा साहित्य प्रकट सत्य को ग्रहण कर निराशावाद का प्रचार करता है। परन्तु जिस देश की आत्मा पूर्ण कुण्ठित न हो गई हो उसके विकास मे एक ऐसी स्थिति भी आती है जब साहित्य, कला आदि की प्रवृत्ति पुन लोक-जीवन की ओर उन्मुख होती है और लोक-तत्त्वो से नवीन जीवन प्राप्त कर अध्ययन की नई दिशा की महत्ता का प्रतिपादन करती है। हमारे देश के नवीन साहित्य और कला मे इस प्रवृत्ति का आग्रह प्रबल रूप मे प्रकट हुआ है। साहित्य मे इस लोक-तत्त्व का दर्शन दो रूपो मे होता है। प्रथम, लोक साहित्य के रूप मे द्वितीय, साहित्य म लोक-तत्त्व को प्रतिष्ठित करने के रूप मे। प्रथम का प्रमाण है विभिन्न अचलो के लोक गीतो, लोक-कथाओ और लोक-वार्ताओ का साहित्य-मनीषियो द्वारा सकलन द्वितीय का प्रमाण है उस सकलन-योग्य वस्तु की साहित्यिक विधाओ म अभिव्यक्ति। द्वितीय के अतर्गत यदि एक ओर लोक-राग रागिनियो और गीतो के अनुकरण पर गीत-निर्माण की प्रवृत्ति चल पडी है तो दूसरी ओर लोक-कथाओ के अनुकरण पर कथा-प्रयोग किये जाने लगे है। प्रथम का उदाहरण है बच्चन जी के ग्राम गीतो के आधार पर रचे गए गीत और दूसरे का उदाहरण है श्री रमेश बख्शी की कथाए जिनम 'वेतालपच्चीसी सिहासन-बत्तीसी आदि के अनुकरण पर नवीन समस्याओ का व्यग्यात्मक चित्रण किया गया है। उपन्यासो म लोक तत्त्व के सग्रहण की यही प्रवृत्ति आचलिक उपन्यासो के रूप मे प्रकट हुई है। परन्तु यहा यह लोक-तत्त्व का सग्रहण विशिष्ट प्रकार से हुआ है। एक ओर आचलिक उपन्यास का उपन्यास रूप सुरक्षित रहा है दूसरी ओर लोक-तत्त्व उसके कलेवर मे परिव्याप्त भी हो गए हैं, ऐसा नही हुआ है कि वे केवल रूप मे ही घुलकर रह गये हो जैसाकि बच्चन जी के ग्राम्य गीतो म हुआ है। न ही वे प्रयोजनात्मक मात्र बनकर रह गये है जैसा कि रमेश बख्शी की कथाओ म हुआ है। आचलिक उपन्यासो की यथार्थ लौकिक-कथा मे इन लोक तत्त्वो को स्वाभाविक रूप म परिवेष्ठित कर दिया जाता है जिससे कथा मे लोक-साहित्य का रस आ जाता है। 'मैला आचल' म विदापत नृत्य म ही गहराई, भ्रष्टाचार और सामाजिक अनैतिकताओ को समाविष्ट कर दिया गया है। कथा

एक मात्र पूर्णतः लौकिक हैं परन्तु समस्याओं का लोक-गीतों के रूप में प्रकटन हुआ है। 'परती परिकथा' में सुन्दरि नैका की कथा लोक-कथा के अत्यंत स्वाभाविक तथा प्रभावशाली रूप उद्घाटित करती है। इस उपन्यास में लोक-कथाओं का जितना विस्तृत उपयोग है वह इसकी विशिष्ट उपलब्धि ही मानी जायेगी। 'जाल के फूल' में लाइकाज में गोरा अफ्सर भी उपस्थित रहता है। यही नहीं वह स्वयं भिरिया चुड़ैल का शिकार भी बन जाता है और सिरहा के मन्त्रों से ही पुनः स्वास्थ्य लाभ कर पाता है। दनेश्वरी मैया की कथा और जगतोगाडा की स्थापना लोक-कथाओं के ही सुन्दर रूप उद्घाटित करती हैं। मोरभाल में शिक्षित नवयुवक साम भीलों की उत्पत्ति की कथा और उनके करमा नृत्य में आनंद लेता है और माधवी तो माही के समान घड़े में कूदकर बहकर बाहर निकल जाने की कामना करने से भी नहीं चूकती। 'कब तक पुकारूँ' में नटों की नैतिकता का मानदण्ड उनकी विशिष्ट संस्कृति का ही अंग है। श्री शैलेश मटियानी के उपन्यासों में आंचलिक संस्कृति का अत्यंत स्वाभाविक रूप अभिव्यक्त हुआ है। अन्य आंचलिक उपन्यासों में भी इसी प्रकार अपने ढंग से लोक-संस्कृति के तत्त्वों का समावेश मिल जाता है।

उपन्यासों को इस प्रकार लोक साहित्य का रूप प्रदान करने का एक विशिष्ट परिणाम यह निकलता है कि उनकी स्वाभाविकता कई गुनी बढ़ जाती है। सामान्य भारतवासी भौतिक जीवन की तुलना में लोक-जीवन को ही अधिक व्यतीत करता है। उसके संस्कारों में लोक संस्कृति के तत्त्व सघनतम रूप में समाये होते हैं। इन तत्त्वों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इनका रूप समग्र देश में एक जैसा मिलता है। देश में कहीं भी चले जायें, लोक-विश्वासों, लोक गीतों और लोक कथाओं का आधार और उद्गम एक जैसा ही मिलेगा। वृक्ष, नदियां, पर्वत, देवी देवता, भूत प्रेत, सभी जगह इनका आधार और उद्गम होते हैं। सांस्कृतिक पर्व और उत्सव मिलते जुलते रूपों में सभी जगह मनाए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्ति सामान्य मनुष्य की प्रवृत्ति से मेल खा जाती है। यह मेल ही आंचलिक उपन्यासों की शक्ति और प्रभाव प्रवणता का कारण होता है। सत्य तो यह है कि आंचलिक उपन्यास लोक संस्कृति के तत्त्वों के व्यापक समन्वय के कारण ही लोक-साहित्य का सा आनन्द प्रदान करते हैं।

आंचलिक उपन्यास केवल विषय प्रकृति एवं उद्देश्य में ही लोक-साहित्यिक नहीं होते, उनका महत्त्व भी लोक साहित्य के अनुरूप होता है। हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में इस महत्त्व के ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक नैतिक एवं भाषा शास्त्र सम्बन्धी पक्षों का विवरण दिया गया है।[1] यदि

१ 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', पृष्ठ १६७।

इन पर विस्तार मे विचार करें तो आचलिक उपन्यास मे इन सभी का समीकरण दृष्टिगत होगा। अचलों की कथा इतिहास-सगत ही होती है इसी कारण उसकी *स्वाभाविकता एव प्रभाव-प्रवणता द्विगुणित हो जाती है। 'बहती गगा' को तो* इसी कारण ऐतिहासिक उपन्यास भी स्वीकार कर लिया जाता है। 'जगल के फूल' मे राजनीतिक असतोष एव विद्रोह की कथा है, 'ब्रह्मपुत्र', मैला आचल', और 'परती परिकथा' आदि देश के बदलते हुए इतिहास के रूपो पर ही प्रकाश डालते है। *जहा ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नही होत वहा भी* कथानक देश-काल सगत ही होता है। इनमे भूगोल विषयक सूचनाए जितने विस्तार मे दी जाती हैं उतने विस्तार से अन्य किसी भी प्रकार के उपन्यास म नही दी जा सकती। नदी, वन, पर्वत, ग्राम, नगर आदि का सत्य और स्वाभाविक विवरण आचलिक उप-*न्यासो की अपनी उपलब्धि होती है। इनका आर्थिक महत्व इनम उद्घाटित* आर्थिक जीवन की विशिष्टताओ म निहित होता है। अचलो की आर्थिक सम्पन्नता तथा उद्योग-धधो एव आर्थिक स्रोतो का इनमे विशद विवरण भी मिलता है। सामाजिक जीवन के चित्रण की दृष्टि से तो आचलिक उपन्यास *इतने पूर्ण होते हैं कि समाज शास्त्र की कोटि म रखे जा सकते हैं। धार्मिक एव* नैतिक मान्यताओ, विश्वासो, रीतियो, नीतियो तथा प्रथाओ के विस्तृत विवरण कई बार कथा-प्रवाह मे व्यवधान उत्पन्न कर देते है। आचलिक उपन्यासो का भाषा-शास्त्र सबधी महत्त्व भी कम नही। इनमे लोक-भाषा का वह सरल एव *स्वाभाविक रूप दिखाई देता है जो मनोभावो की अभिव्यक्ति को दृष्टि म* अत्यन्त समृद्ध होता है। साहित्यिक भाषा मे जब भी उपयुक्त एव प्रभावशाली शब्दो की कमी पडती है, वह सदा ही लोक-भाषा की शब्दावली का आश्रय ढूढती है। आचलिक उपन्यासो म मुहावरा, लोकोक्तियो एव शब्दो के जो स्वाभाविक रूप प्राप्त होते हैं *उनके बदले साहित्यिक भाषा के शब्द एव पद नही रखे जा* सकते। इस दृष्टि से उनकी प्रभाव प्रवणता उनका पैनापन एव अर्थ गाभीर्य, साहित्यिक-शास्त्र को उनकी अनुपम देन हैं।

देशी-भाषाओ के उपन्यास और आचलिकता

हिन्दी के आचलिक उपन्यासो के व्यापक अध्ययन के उपरान्त यह तथ्य हृदयगम करना कठिन नही रह जाता है कि हिन्दी भाषा म आचलिक उपन्यासो की एक परम्परा रही है जो धीरे-धीरे विकसित होती रही है। *यह परम्परा हिन्दी-साहित्य के ही विकास की विशेषता हो ऐसी बात नही है।* जिस देश म आचलिक उपन्यासो के लिए इतनी उर्वर भूमि हो उसकी अन्य भाषाओ मे भी आचलिक उपन्यासो की अपनी-अपनी परम्परा होनी स्वाभाविक ही है। भारत की सभी भाषाओ मे इसीलिए आचलिक उपन्यासो की एक सुविकसित एव समृद्ध

परम्परा के दर्शन होते हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उनकी विशेषताए एव प्रवृत्तिया हिन्दी के आचलिक उपन्यासो जैसी ही है। यह आशा भी नही करनी चाहिए क्योंकि हिन्दी किसी प्रान्त-विशेष की भाषा नही है। जबकि देशी भाषाओ के अपने प्रान्त विशेष हैं। अत देशी भाषा के उपन्यासकार के लिए अपने प्रान्त के जीवन को उपन्यास मे रूपायित करना अधिक स्वाभाविक है। परिणाम यह होता है कि प्रान्तीय भाषा के उपन्यासो मे प्रान्तीय जन-जीवन के चित्र प्रमुख बन जाते हैं फिर भी कुछ स्थानो का जीवन अपनी जातियों, समस्याओ अथवा परिवेश के कारण सामान्य प्रान्तीय अथवा प्रादेशिक जीवन से भिन्न हो सकता है। इस भिन्नता का चित्रण जब किसी उपन्यास मे प्रमुखता प्राप्त कर लेता है तब वह कोरा प्रादेशिक उपन्यास नही रह जाता। भिन्नता के अनुपात मे ही ऐसे उपन्यास आचलिकता के निकट पहुचते है। देशी भाषाओ के उपन्यासो की आचलिकता के इसी रूप की तुलना हिन्दी आचलिक उपन्यासो से की जाएगी। यह तुलना केवल समानता अथवा अतर बताने के उद्देश्य से ही की जा रही है, देशी भाषाओ के उपन्यासो के विकास एव प्रवृत्त्यादि का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है। अत इस अध्ययन मे कुछ प्रमुख उपन्यासो पर ही सक्षेप मे विचार किया जाएगा।

भारत मे बगला साहित्य मे ही सबसे पहिले उपन्यास-सर्जन आरम्भ हुआ अत आचलिक उपन्यासो का प्रारभ भी सबसे पहिले वहा हुआ। परन्तु प्रारभ का यह युग आचलिक सभावनाओ का युग ही अधिक था। १८५७ मे प्रकाशित प्रथम बगला उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल' म लोक-भाषा तत्त्व ही समन्वित हो पाया था। इसके उपरान्त सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा प्रारभ हुई। इन उपन्यासो मे रोमानी तत्त्व की सयोजना लोक कथात्मक रूप मे होती थी परिणामस्वरूप लोक-जीवन एव लोक-परम्पराओ के चित्रण को महत्त्व मिला। भूदेव मुखर्जी के 'अगुरीय विनिमय' (१८६२) तथा बकिमचन्द्र चटर्जी की 'दुर्गेशनन्दिनी' (१८६४) मे इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'कपाल कुण्डला (१८६६) और 'चन्द्रशेखर' (१८७७) मे अठारहवी शताब्दी के वातावरण का सुन्दर चित्रण हुआ है। 'आनद मठ' (१८८२) तो इस दृष्टि से युगान्तरकारी उपन्यास ही है। उन्नीसवी शताब्दी के उपन्यासकारो मे श्रीशचन्द्र मजूमदार का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। इनके उपन्यासो 'शक्ति कानन', (१८७७) 'फूलजानी (१८९४) और विश्वनाथ' (१८९६) मे बगाल के डेढ सौ वर्ष पुराने लोक-जीवन, विशेष रूप मे ग्रामीण जीवन, की रूपमा, उसके प्राकृतिक वैभव तथा लोक-परम्पराओ के अत्यत सजीव एव रोचक चित्र प्राप्त होते है। श्री हरिप्रसाद शास्त्री का 'बेनेरमेये' (१९२०) तो लोक-भाषा मे लिखा गया प्रथम समर्थ उपन्यास माना जाता है। श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

के उपन्यास-जगत् में प्रवेश ने आंचलिक उपन्यासों में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उनका 'पल्ली समाज' (१९१६) इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। श्रीकान्त (१९१७-१९३३) तो बंगला लोक-जीवन का विश्वकोश ही है। श्री शरत् के बाद समर्थ आंचलिक उपन्यासकारों की धूम सी मच गई। श्री विभूति भूषण वंद्योपाध्याय के उपन्यासों में बंगाल के ग्राम्य-जीवन एवं ग्राम्य-शोभा का सौन्दर्य खिल उठा है। 'पथेर पांचाली' (१९२९) में ग्रामीण प्रकृति के सुन्दर, सरल एवं मधुर परिपार्श्व में शिशु-हृदय के रहस्यों को सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है। इसके उत्तरार्द्ध 'अपराजिता' (१९३२) में लोक-जीवन, लोक-विश्वास, लोक-कथा और लोक-प्रवृत्ति के सुन्दर रूपों का स्वाभाविक एवं प्रभावशाली सम्मिश्रण है। यदि आरण्यक' (१९३८) में आदिवासियों के जीवन का चित्रण है तो 'इच्छामती' (१९४९) में इसी नदी से संबंधित लोक-कथाओं, किंवदंतियों तथा अनुश्रुतियों के साथ पर्वतीय एवं वनांचलों के निवासियों के अकृत्रिम और सरल जीवन को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय ने 'राढ़ि' नामक प्रदेश को लेकर वीरभूमि जिले के ग्रामीण लोक-जीवन का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण किया है। चैताली धूरणि (१९२९) में चैत में चलने वाली धूल का प्रसंग लेकर कृषक जीवन का मार्मिक चित्रण किया गया है। 'धातृदेवता (१९३९) में धरती को माता के रूप में अवतरित करके भारतीय कृषि परम्परा की आत्मा को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कवि (१९४१) में इसी ग्रामीण पृष्ठ-भूमि पर आधारित एक समर्थ उपन्यास है। 'हांसुलि बाँकेर उपकथा' (१९४७) में हांसुली नदी के एक मोड़ की एक स्थानीय अनुश्रुति को सुन्दर औपन्यासिक रूप प्रदान किया गया है। श्री ताराशंकर वंद्योपाध्याय का योग बंगला-आंचलिक उपन्यासों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्यिक बंगला को त्याग कर ठेठ प्रादेशिक ग्रामीण बोली तथा उसी के मुहावरों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया। उन्हीं के पद चिह्नों पर चल कर श्री मणिक वंद्योपाध्याय समरेश बोस तथा सतिनाथ भादुड़ी जैसे आंचलिक उपन्यासकारों ने बंगला साहित्य को आंचलिक उपन्यासों से भर दिया। श्री मणिक वंद्योपाध्याय के उपन्यासों में बंगाली लोक जीवन के तलस्पर्शी चित्रण के साथ जन-जातियों के जीवन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से उनके प्रमुख उपन्यास है—'जननी' (१९३५), 'पद्मानदीर माझी' (१९३६) 'हलुद पोदो' (१९४५), 'सबुज वन' (१९५६) और 'पुतुल नाचेर इतिकथा' (१९५६)। इनमें 'पद्मानदीर माझी' पद्मा नदी के तट पर बसे मछुआरों के जीवन को अत्यंत प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रदान करता है। श्री प्रफुल्लराय तो लोक-जीवन का अध्ययन करने के उद्देश्य से कई महीने नागाप्रदेश में रहे। नागा-जीवन पर उनका उपन्यास 'पूर्वा पार्वती' अत्यंत सुन्दर बन पड़ा है। श्री अद्वैत-

मल्ल वर्मन ने तीतस नदी के तटवर्ती प्रदेश मे बसे एक विशेष वर्ग के जीवन को लेकर 'तीतस एकती नदीर नाम' (१९५७) नामक सुन्दर आचलिक उपन्यास रचा। इसी वर्ष श्री समरेश बोस का 'गगा' भी प्रकाशित हुआ जिसमे सूक्ष्मतम विवरणो के साथ एक मर्मस्पर्शी कथानक के आधार पर मछुओ के जीवन के प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किए गए है। ऐसा ही एक अन्य उपन्यास है श्री मनोज वसु का 'जय जगल' जो सुन्दरबन के माझियो की जीवन गाथा अकित करता है। श्री सतिनाथ भादुडी और अमिय मजूमदार के आचलिक उपन्यास भी लोक-जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार बगला मे आचलिक उपन्यासो की एक सुदृढ एव समृद्ध परम्परा के दर्शन होते है जो भारतीय साहित्य के लिए गर्व की बात है।

गुजराती साहित्य मे सामाजिक एव ऐतिहासिक दोनो प्रकार के उपन्यासो म आचलिक तत्त्वो का समन्वय मिल जाता है। राव साहब महीपत के उपन्यासो 'वनराज चावडा' (१८८१) और 'सिद्धराज जयसिंह' (१८८१) मे इतिहास आधार मात्र है। सारा कलेवर लोकवार्तात्मक है जिसमे स्थानीय किंवदतिया, सस्कार, लोक-गीत तथा लोक-भाषा का अत्यत स्वाभाविक रूप प्रकट हुआ है। श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुशी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी लोक जीवन, लोक विश्वास एव लोक परम्पराओ को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उनका 'गुजरात नोनाथ' (१९१९) तो अनुश्रुतियो, लोक कथाओ, एव धार्मिक अध विश्वासो पर ही आधारित है। 'जय सोमनाथ' मे भी सोमनाथ के कोट के भीतर के धार्मिक तान्त्रिक जीवन का अत्यत प्रभावशाली विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सामाजिक उपन्यासो मे आचलिक-चित्रण की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत नवीन है फिर भी गुजराती उपन्यास-साहित्य सुन्दर आचलिक उपन्यासो से सुसज्जित है। श्री झवेरचद मेघाणी के 'सोरठ तारा वहेतापाणी' (१९३७) मे सौराष्ट्र के जन जीवन की कथा उसी प्रकार कही गई है जिस प्रकार ताराशकर वद्योपाध्याय के 'गण देवता' म देश के समाज की। श्री पन्नालाल पटेल का 'मलेला जीव' ग्रामीण लोक-वार्ता के इतना निकट है कि धरती की भीनी सुगध इसके कलेवर म व्याप्त हो गई है। आचलिक जीवन के चित्र, कृषको का सघर्ष, जीवन, मेल, उत्सव, पर्व, लोक-गीत, लोक-नृत्य आदि इसमे कुशलता से चित्रित किये गये हैं। इस उपन्यास का प्रमुख महत्व यही है कि इसम सूक्ष्म से सूक्ष्म सवेदनाओ को मानव की निजी वाणी—ठेठ गुजराती लोक भाषा—म अभिव्यक्ति मिली है। श्री पटेल का दूसरा उपन्यास 'मानवीनी भवाई' और अधिक लोकवार्ता-बहुल हो गया है। उपन्यास म राजस्थान एव गुजरात के सीमा-प्रदेश की उपत्यकाओ और वन प्रान्तरो म बसे हुए लोगो के अकृत्रिम एव सरल जीवन का चित्रण हुआ है। लोक-परिवेश तथा प्रकृति के सुन्दर चित्रो से भी यह उपन्यास सजा हुआ है।

इन्हीं का एक अन्य उपन्यास 'जीवी' भी एक सफल आचलिक कृति है।

श्री पटेल की शैली में लिखा श्री देवीशकर मेहता का उपन्यास 'धरती नो पछेडो' (१६५८) आचलिक उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्री ईश्वर पेटलीकर ने भी अपने उपन्यासों में आचलिक तत्त्वों का सुन्दर समन्वय किया है। इस प्रकार गुजराती साहित्य म आचलिक उपन्यासों की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है।

यद्यपि मराठी साहित्य मे सामाजिक एव ऐतिहासिक उपन्यासों की ही प्रमुखता है तथापि आचलिक तत्त्वों से युक्त कुछ सुन्दर कृतियाँ भी देखने मे आती हैं। श्रीमती विभावरी शिरूरकर का 'बलि' नामक उपन्यास जरायमपेशा जातियों नटो, वेडिया आदि के जीवन से सबधित है। श्री दिघे ने ग्राम-जीवन तथा भील जैसी आदिम जातियों के जीवन पर 'पाण कला' एव 'सराई' जैसे उपन्यास लिखे है। श्री जी० एन० दाण्डेकर ने वराड प्रदेश के ग्रामीण अचल को आधार बनाकर 'पूर्णभायची लेकडे' नामक उपन्यास रचा है। इसी प्रकार श्री एम० एन० पेंडसे ने 'यशोदा' एव 'कोंकन चा दरयावर्दी' मे कोकण-प्रदेश के लोक जीवन को रूपायित किया है। श्री पाण्डुरग सदाशिव साने (श्री साने गुरुजी) के उपन्यास आचलिक तो नहीं हैं परन्तु उनमे आचलिक तत्त्वो का समन्वय अवश्य हो गया है।

आचलिक तत्त्वों का सफल समन्वय उत्तर-भारत की प्रान्तीय भाषाओं मे बगला के अतिरिक्त यदि अन्य किसी भाषा के उपन्यासो मे प्राप्त होता है तो वह है असमिया। बगाल से निकटता तथा अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण प्रारभ से ही असमिया मे आचलिक साहित्य के लिए सुदृढ आधार था। अहोम राजाओ ने अपने पाच सौ वर्षों के शासनकाल मे 'बुरजिया (दैनंदिनिया) तैयार कराने की परिपाटी डाल रखी थी। इन 'बुरजिया' मे लोक-वार्ता की अक्षय सामग्री सचित है। परिणामस्वरूप प्रारभ से ही उपन्यासों मे लोक-तत्त्वो का समन्वय होने लगा। असमिया के प्रथम उपन्यास, श्रीमती पद्मावती देवी लिखित 'सुधर्मर उपाख्यान' का मुख्य स्वर यद्यपि नैतिक है तथापि लोक-जीवन का सुदर चित्रण भी इसमे किया गया है। लोक-तत्त्वों का समन्वय श्री हेमचन्द्र बरुआ तथा श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की कृतियो मे भी उपलब्ध है। श्री रजनीकान्त बरदलै ने श्री वृदावनलाल वर्मा के ढग से ही असम-प्रदेश के अतीत के लोक-जीवन का रोमानीकरण किया है। परन्तु आचलिकता की सफल अभिव्यक्ति श्री बरदलै के १८६० मे रचित उपन्यास 'मिरि जियरी' मे हुई है। इस उपन्यास मे सोवणशिरी नदी के तटवर्ती प्रदेश मे निवास करने वाले आदिवासियो के जीवन की कथा है। मीरियो के अध विश्वासों, लोक गीतो, लोक नृत्यों आदि को सुन्दरता से अकित कर असम-प्रदेश के एक विशिष्ट एकात प्रदेश को औपन्यासिक निरूपण का

आधार बनाया गया है। सभी दृष्टियों से यह एक सफल आंचलिक कृति है।

श्री विरंचिकुमार बरुआ ने दो उपनामों से उपन्यास लिखे हैं। बीना बरुआ के नाम से लिखा गया 'जीवनर बाटत' (१९४४) असम-प्रदेश के ग्रामीण जीवन का चित्र उपस्थित करता है तथा रसना-बरुआ के नाम से प्रणीत 'सेउजी पातर काहिनी' (१९५८) असम के चाय के बगीचों में काम करने वाली विभिन्न जन-जातियों के अंतरंग जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। श्री नवकान्त बरुआ ने 'कपिली पारीय साधु' में कपिली नदी के किनारे बसने वाले लोगों की कहानी कही है। असम के लोक-जीवन के दो प्रमुख पक्ष हैं—खेती और चाय बागान में मजदूरी। इन्हीं पक्षों से मिलकर चलता है आदिवासियों का जीवन। इस जीवन को अन्य उपन्यासों में भी प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली है। ऐसे उपन्यासों में श्री धनकान्ता का 'सोनेर नागल' (१९५२), जोगेशदास का 'डावर अरु नाई' (१९५५) और दीनानाथ शर्मा का 'नदई' (१९५६) प्रमुख हैं।

द्रविड-परिवार की दक्षिण भारतीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य में भी आंचलिक जीवन की सुन्दर झांकियां मिल जाती हैं। इस दृष्टि से वहां का जीवन उत्तर भारतीय जीवन की तुलना में अधिक समृद्ध भी रहा है। विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर आक्रमणों से दक्षिण अपेक्षाकृत सुरक्षित रहा। मुसलमानी अत्याचारी शासन का प्रभाव भी वहां देर से और हल्का ही पड़ा। साथ ही उत्तर भारत से संस्कृति का एक सतत प्रवाह भी दक्षिण की ओर प्रवाहित होता रहा जो प्रत्येक विदेशी जाति के प्रवेश के साथ तीव्रतर होता गया। परिणामस्वरूप संस्कृति की एक अक्षुण्ण परम्परा जिस सुविकसित रूप में दक्षिण में विद्यमान है, उत्तर भारत में नहीं है। दक्षिण की भौगोलिक विशेषताएं तथा उनसे अद्भुत वहां की जीवन प्रणाली भी उत्तर भारत की जीवन प्रणाली से पर्याप्त भिन्न है। पर्वत, पठार, घाटियां, वन, समुद्र-तटीय प्रदेश, गर्म जलवायु आदि का प्रभाव वहां के रहन-सहन, खान-पान, भाषा-भूषा, सभी पर पड़ा है। द्रविड भाषाओं के प्रदेश के साहित्य पर इन सभी विशेषताओं की व्यापक प्रतिक्रिया दिखाई देती है। यह प्रादेशिक जीवन उपन्यासों में भी अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्त हुआ है और इस प्रकार आंचलिक प्रवृत्ति उपन्यासों में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से समाविष्ट हो गई है।

तेलुगु उपन्यासों में लोक जीवन के निरूपण की प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितना प्राचीन वहां का उपन्यास-साहित्य है। १८७८ में श्री कन्दुकूरि वीरेश-लिंगम द्वारा रचित प्रथम तेलुगु उपन्यास 'राजशेखर चरित्रम्' में अनेक लोक-जीवन के विस्तृत विवरण मिलते हैं। आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति और [illegible] कला की परिपक्वता के साथ और पुष्ट हो गई है। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण के बृहत् उपन्यास 'वेयि पडगलु' में आंध्र प्रदेश के जीवन एवं संस्कृति का सर्वांगीण

चित्रण प्राप्त होने के कारण ही आलोचकों ने उसे आंध्र संस्कृति का विश्व-कोश कहा है। इन्हीं के एक अन्य उपन्यास 'एक वीरा' में अठारहवीं सदी के आंध्र-प्रदेश के जीवन का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। श्री अडिवि बापिराजु के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास नारायण राव में भी लोक-जीवन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। अछूतों के जीवन को भी आंध्र-प्रदेश में उपन्यास का विषय बनाया गया है। इस दृष्टि से उन्नव लक्ष्मीनारायण का 'मालपल्ली', वेंकटेश्वरलु का 'मा धटम्' तथा श्री ब्रलिवदा कान्ताराव का 'दगपदिन तम्मदु' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। श्री गोल्लपूडि नारायण का कोत्त रोजुलु 'तेलगाना' के ग्रामीण जीवन पर आधारित एक सफल आंचलिक उपन्यास है।

तमिल भाषा-भाषी प्रदेश के उपन्यासों में भी लोक जीवन का चित्रण एक सामान्य वस्तु है। जन-जातियों पर लिखे गये उपन्यासों में श्री रामज कृष्णन के 'कुरि चर्तन' को गौरवशाली स्थान प्राप्त है परन्तु लोक-जीवन की सुन्दर झांकियों की दृष्टि से कालिक के उपन्यासों का महत्त्व सर्वोपरि है।

कन्नड उपन्यास-साहित्य आंचलिक तत्त्वों के समावेश की दृष्टि से तमिल से अधिक समृद्ध है। वर्तमान काल में लोक-जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन भी इसमें कुशलता से हुआ है। श्री शिवराम कारन्त का 'मरलिमण्णिगें' (१९५३) कृषक-जीवन के मार्मिक चित्रण के कारण ही साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुआ। इन्हीं के अन्य उपन्यासों में कुडियर कुसु' (१९५४) कुडियर नामक आदिवासियों के जीवन पर आधारित है, 'चोमन दुडी' नीच समझे जाने वाली एक जाति की कथा कहता है तथा 'बेट्टद जीवा' (१९५५) दक्षिणी कर्नाटक के पश्चिमी घाटों के बीच निवास करने वाली अन्य जातियों के जीवन की सुन्दर झांकियां प्रस्तुत करता है। अन्य उपन्यासकारों में श्री अ० न० कृष्णराव तथा श्री के० बी० अय्यर को आंचलिक जीवन का चित्रण करने में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

मलयालम भाषा का प्रदेश केरल अपनी प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से अद्वितीय है। यहां के निवासियों का जीवन प्रकृति के निकट संसर्ग में व्यतीत होता है तथा उसी की उदारता पर आश्रित भी है। समुद्र का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव है तथा मछली पकड़ना उनका प्रमुख धंधा है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है यह उक्ति केरल के उपन्यास साहित्य पर पूर्णरूपेण घटित होती है। केरल के मछुओं के जीवन के समर्थ कथाकार श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै हैं। उनके उपन्यासों 'मछुआरे', 'चेम्पीन' तथा चेन्नम्मा' में मछुओं के दुखों-सुखों का मार्मिक चित्रण है। श्री रिकिमानूर विश्वरन के 'कोट्टुकाट्टु' (तूफान १९६२) में सह्य पर्वत के निवासियों की जीवन गाथा प्रस्तुत की गई है। इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता इसका शिल्प है जो स्वयं में एक प्रयोग है। मलया-

लम के एक अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार है श्री अय्यनेतु जिन्होने केरल के लोक-जीवन को अपने उपन्यासो का आधार बनाया है। मलयालम साहित्य की सबसे विकसित शाखा यदि उपन्यास है[1] तो यह भी कहने मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि आचलिक प्रवृत्ति उस शाख की प्रमुख विशेषता है।

विदेशी उपन्यास और आचलिकता

पाश्चात्य उपन्यासो मे जिस आचलिकता के दर्शन होते है वह वास्तव मे प्रादेशिकता है क्योकि उसका प्रमुख स्वर भौतिकवादी है जबकि आचलिकता का मुख्य स्वर सास्कृतिक होता है। भौतिकवादी आधार भूमि पर लोक जीवन, लोक-प्रवृत्ति एव स्थानीय रगो के सुन्दर चित्र इन उपन्यासो म प्राप्त हो जाते है। इस दृष्टि से अग्रेजी साहित्य सबसे समृद्ध है। इग्लैण्ड मे प्रादेशिक साहित्य के विकास के लिए सुदृढ आधार भी था क्योकि वहा ऐसे अनेक प्रदेश हैं जो लोक-जीवन की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।[2] इसीलिए उपन्यासो के जन्म के साथ ही प्रादेशिक प्रवृत्ति भी उनमे प्रवेश कर गई। प्रथम समर्थ प्रादेशिक उपन्यासकार मेरिया एजवर्थ का 'केसेल रॅकेंट' सन् १८०० मे प्रकाशित हुआ। इसी समय से प्रादेशिक उपन्यासो का प्रथम-काल भी आरभ हुआ जो १८३० तक चला। इसके उपरात 'बेलिंड' (१८०१) 'लेनोरा' (१८०६) 'द एबसेन्टी' (१८१०) एव 'ओरमोन्ड' (१८१७) प्रकाशित हुए। इन उपन्यासो म आयरलैण्ड का लोक जीवन चित्रित है। इनके यथार्थ से ही प्रभावित होकर स्काट ने अपने 'वेवरली' उपन्यास लिखे जिनमे स्काटलैण्ड के सैकडो वर्षों से चले आ रहे लोक जीवन को प्राकृतिक दृश्यो की पृष्ठ-भूमि मे अकित किया गया है। लिगुई ने वेवरली' के सबध म लिखा है कि ये जितना ऐतिहासिक है उतना ही भौगोलिक भी तथा अपने 'हाई लैण्ड एव 'हाईलैण्डर्स' के चित्रो द्वारा पाठक का मनोरजन करता है।[3] प्रथम काल के अन्य प्रादेशिक उपन्यासो स्काटमैन जान गाल्ट के लिखे 'द आयरशायर लिगटीम' (१८२०) एव 'द प्रोवोस्ट' (१८२२) अधिक प्रसिद्ध हैं।

---

१ श्री वैल्लायणि अर्जुनन, 'मलयालम साहित्य', 'मधदीप ६३, पृष्ठ ३३६।

2 "There are in England a number of well-marked regions which while forming part of the national entity, have yet distinct and diverse characters of their own" —PHYLLIS BENTLEY, "The English Regional Novel. page 12

3 EMILE LEGOUIS, "A Short History of English Literature", page 300.

द्वितीय काल मे प्रादेशिकता की प्रवृत्ति मे गभीरता आई। इस काल मे शारलेट ब्राण्टे का 'शर्ले' (१८४६) प्रकाशित हुआ जो अग्रेजी का एक प्रमुख प्रादेशिक उपन्यास माना जाता है। इसमे यार्कशायर के वेस्ट रीडिंग की घाटियो, उपत्यकाओ, चरागाहो और मिलो के जीवन का प्रभावशाली चित्रण है। इसकी भाषा पर भी प्रादेशिकता की गहरी छाप है। मिसिज़ गेस्केल के उपन्यास 'मेरी बारटन' (१८४८) एव 'नार्थ एण्ड साउथ' (१८५५) श्रमिक-वर्ग के जीवन की कथा कहते है। इनकी भाषा पर भी लोक-भाषा का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। एन्थनी ट्रोलोप ने १८५५ मे 'दवार्डन' लिखा जो बार्चेस्टर शृखला का प्रथम उपन्यास था। पश्चिमी इंग्लैण्ड के एक काल्पनिक नगर बार्चेस्टर के आधार पर ट्रोलोप ने विस्तृत काल्पनिक परिवेश भी गढ लिया। इसी प्रवृत्ति का अनुसरण आगे चलकर जार्ज इलियट एव टामस हार्डी ने भी किया। जार्ज ईलियट ने अपने उपन्यासो के लिए कई प्रदेश चुने। 'सीन्स ऑफ क्लेरिकल लाईफ' (१८५८) और 'साइलस मेरिनर' मे वारविकशायर के जीवन का चित्रण है तो 'एडमबीड' (१८५६) मे स्टेफोर्डशायर का और 'मिल आन द फ्लास' (१८६०) मे लिंकन शायर का। परन्तु ईलियट की कला की विशेषता आचलिक-चित्रण मे उतनी नही है जितनी पात्र निरूपण मे है। उसके पात्र अपने गुणो और जीवन मे पूर्णत आचलिक होते हैं। अपनी भाषा के लोक-रूप को सुरक्षित रखने के लिये उसने शब्दों के भी लोक-रूपो को अपना लिया। टामस हार्डी ने अपने काल्पनिक प्रदेश 'वेसेक्स' का निर्माण ज्ञात भौगोलिक प्रदेशो का विघटन तथा आवश्यक्तानुसार उनका पुन सयोजन करके किया। अपने प्रयोग मे उसे इतनी सफलता मिली कि उसके काल्पनिक वेसेक्स प्रदेश के मानचित्र तक उपन्यासो के प्रारभ मे दिये जाने लगे। लोक-रग, लोक-भाषा एव परिवेश के जितने प्रभावशाली एव स्वाभाविक रूप हार्डी के उपन्यासो मे प्राप्त होते है, अब तक के सभी प्रादेशिक उपन्यासो मे विशिष्ट है। प्रादेशिक प्रवृत्ति का यदि किसी सीमा तक हनन होता है तो इस कारण कि वह पात्रो तथा घटनाओ की सयोजना मे दैवीय-इच्छा को भी महत्त्व प्रदान कर देता है।

अरनाल्ड बेनेट की प्रादेशिकता, एक औद्योगिक प्रदेश-फाइव टाउन्स से सबधित है जिसका प्रभावशाली रूप 'एना ऑफ द फाइव टाउन्स' (१६०२) से ओल्ड वाइव्ज़ टेल (१६०८) तक के उपन्यास मे प्राप्त होता है। ई० सी० बूथ ने यार्कशायर के अचल को अपने उपन्यासो का आधार बनाया और विलियम शार्प ने स्कार्टलैण्ड के हाईलैण्ड्स एव हाईलैण्डर्स की लोक-कथाओं का समन्वय कर 'कैल्टिक रिनासेन्स' का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया। मेरी वेब ने श्रोपशायर के अचल तथा सीमान्त प्रदेश को चुना और वहा के लोक-गीतो, अध-विश्वासो, परम्पराओ एव लोक-भाषा को अपने उपन्यासो मे समन्वित कर दिया। उसके

उपन्यास 'गान टु आर्थ' (१९१७) और 'प्रेशस वेन' (१९२४) इस प्रकार के सुन्दर उदाहरण हैं। शीला काई स्मिथ ने ससेक्स के खेतो को अपने उपन्यासो का आधार बनाया और कोपार्ड ने कोट्सवोल्ड की कथाए कही। विनफ्रेड होल्टबी तथा फिलिस बेन्टेले ने यार्कशायर के जगलो एव औद्योगिक कस्बो को आधार बनाकर उपन्यास की रचना की। वर्तमान कालीन प्रादेशिक उपन्यासकारो मे कान्सटेन्स होम प्रमुख स्थान रखती है। उसका कथाचल वेस्टमूरलैण्ड की घाटियो, खेतो, चरागाहो, भीलो और जगल मे फैला हुआ है। वैल्स के महत्त्वपूर्ण प्रादेशिक उपन्यासो मे रिचार्ड लेवेलीन का 'हाऊ ग्रीन इज़ माई वेली' हरी भरी घाटी तथा खानो के क्षेत्र से सबधित है। ऐसे ही अन्य उपन्यास हैं राइस डेविस का 'ए टाइम टू लाफ' जैक जोन्स का 'विडेन टु द फीस्ट', ग्रिफिथ का 'द वुडेन स्पून और ब्रेट यग का 'द हाउस अण्डर फायर'। इसी प्रदेश के एक उपन्यासकार डेलन टामस की कथाओ मे प्रादेशिकता की अतियथार्थवादी शैली के भी दर्शन होते है।

अमेरिका मे प्रादेशिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य की सबसे समृद्ध विधा रही है। हैलेन ई० हैन्स के मतानुसार तो इस विधा का जितना सर्वांगीण विकास अमेरिका मे हुआ उतना ससार मे और कही नही हुआ।[1] अमरीकी प्रादेशिक उपन्यास का प्रारभ वाशिंगटन इर्विंग की पुस्तक 'द स्केच बुक' (१८१९-१८२०) से माना जा सकता है। इस पुस्तक मे हडसन नदी की घाटी के लोक-जीवन, लोक-व्यवहारो, अध-विश्वासो, लोक-कथाओ और प्राकृतिक जीवन का सुन्दर चित्रण है। १८३० तक लेखक तथा आलोचक यह मानने लगे थे कि इस प्रकार के प्रादेशिक, स्थानीय, विभागीय साहित्य के सम्मिश्रण में राष्ट्रीय साहित्य का रूप ही अभिव्यक्त होगा। गृह युद्ध से पूर्व तक चार प्रदेश (मिडिल स्टेटस, न्यू इग्लैण्ड, दक्षिण एव सीमा प्रदेश) इस साहित्य का आधार बने। मिडिल स्टेटस मे इर्विंग के अतिरिक्त जेम्स किर्क पालडिंग तथा जेम्स फेनिमोर कूपर अधिक प्रसिद्ध हैं। न्यू इग्लैड मे 'याकी' के व्यक्तित्व को आधार बनाकर व्यग्यात्मक साहित्य रचा गया जिसका सुन्दरतम उदाहरण जेम्स रसेल का 'द बिगलो पेपर्स' है। इस पुस्तक का आधार थे सेबा स्मिथ का 'द लाइफ एण्ड राइटिंग्ज ऑफ मेजर जैक डाउनिंग' (१८३३) और नोवास्कोशियन लेखक टामस चडलर हेलिबर्टन का याकी फेरीवाला 'सेम स्लिक'। नेथेनियल हाथार्न का यथार्थ प्रादेशिकता की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता क्योंकि वह मानव-हृदय के सत्य के निरूपण के प्रति भी उन्मुख हो जाता है। दक्षिण मे व्यग्यात्मक कमेडी के रूप मे प्रादेशिकता का विकास हुआ। सीमा-प्रदेशीय साहित्य मे कूपर की 'लेदर स्टाकिंग्ज' कथाए तथा राबर्ट मान्टगोमरी बर्ड का 'निक ऑफ द वुड्स' (१८६७) अधिक प्रसिद्ध हैं।

1. HELEN E HAINES, "What's in a novel", page

गृह युद्ध के पूर्व के इस सम्पूर्ण साहित्य पर विचार करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि इस आशा के विपरीत कि प्रादेशिक एव स्थानीय साहित्य अपने समग्र रूप मे राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण करेगा, उसने केवल युग की विभिन्न प्रवृत्तियों का ही परिचय दिया।

गृह-युद्ध के उपरान्त इस प्रादेशिक प्रवृत्ति ने नया मोड लिया। युद्ध से ऊबी हुई जनता विभागीय साहित्य को शका की दृष्टि से देखने लगी। साथ ही नव-*गठित राष्ट्र की विशालता तथा सास्कृतिक विविधता ने छोटी परन्तु राजनीतिक* दृष्टि से महत्त्वहीन जातियो तथा तेजी से परिवर्तित होते हुए पूर्व-औद्योगिक युग के जीवन को साहित्यिक खोज का विषय बना दिया। इस प्रकार प्रादेशिकता ने नया रूप ग्रहण किया जो स्थानीय रग आन्दोलन' कहलाता है। सत्य तो यह है कि इस स्थानीय रग आन्दोलन ने ही वास्तविक प्रादेशिक उपन्यासो के लिये आधार भूमि निर्मित की। इन 'लोकल कलरिस्ट' साहित्यकारो ने अमरीकी महाद्वीप के अनजान क्षेत्रो का विशाल चित्र पट पाठको के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर दिया। हेलेन हेन्स ने इस साहित्य के सबध म लिखा है कि वह अमरीकी जीवन के विविध, रगीन और आधिकारिक चित्र प्रस्तुत करता है तथा उसमे देश के प्रत्येक राज्य और भौगोलिक विभाग के लोक-जीवन का तथा प्रकृति का सुन्दर चित्रण है।[1]

इस आन्दोलन का श्रीगणेश हेरियट बीचर स्टो के १९ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के ग्राम्य जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यासो की शृखला से हुआ। इस शृखला का प्रमुख उपन्यास था 'द पर्ल ऑफ ओरंस आइलैण्ड' (१८६२) जिसने ऐसे उपन्यासो की विशाल परम्परा को जन्म दिया। इसी परम्परा म मार्क ट्वेन के हेकलबेरी फिन, 'टाम स्वेअर' और लाइफ आन द मिसीसिपी' आते है। होवल ने द राइज ऑफ साइलस लेपेहम' (१८८४) जैसे उपन्यासो म नगरीय जीवन का चित्रण किया। मेरी विलकिन्स फ्रीमैन ने न्यू इग्लैण्ड के ग्रामीण जीवन की तथा चर्चिल ने राजनीतिक-औद्योगिक जीवन की कथा कही। ओवेन *विस्टर ने पशु-प्रदेश को अपनी कथाओ का आधार बनाया और पेज ने* दक्षिण के पूर्व-युगीन जीवन को। मेरी मरफी ने टेनसी प्रदेश के जीवन को अपने उपन्यासो

---

1 " How diverse, how vivid in colour & authentic in *out-line, is the long succession* of American Novels that paint local colnes, portary local types of characters, and record aspect of life past and present in almost every state and every geographical section of the country "
—HELEN E HAINS, "What's in a novel", page 71.

मे रूपायित किया। १८६६ मे लिखा गया सरा जेवेट का उपन्यास 'द कन्ट्री ऑफ द पाइन्टेड फर्स' तो १६ वी शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ प्रादेशिक उपन्यास माना जाता है। इसकी टक्कर का यदि दूसरा कोई उपन्यास है तो वह है जार्ज केबल का न्यू ओरलियन्स को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास 'द ग्रेन्डीसीमेम' (१८८०)। पश्चिम के सीमा प्रान्तीय जीवन का यथातथ्य चित्रण एडवर्ड इग्लेस्टेन के 'द हौसियर स्कूल मास्टर' (१८७१) मे मिलता है। इसके अनुकरण पर लिखे गए उपन्यासो को तो 'एन्टी रोमान्टिक आन्दोलन' का प्रवर्तक माना जाता है। केलीफोर्निया मे ब्रेट हार्ट ने रोमानी कथाओ की एक अत्यन्त सम्पन्न परम्परा अपने उपन्यास 'द लक ऑफ रौरिंग कैम्प' (१८७०) से प्रारभ की।

१६०० तक स्थानीय रग आन्दोलन समाप्त हो चुका था और बीसवी शताब्दी मे प्रादेशिकता नये परिधान मे अवतरित हुई। इस प्रादेशिकता ने केवल नये क्षितिजो की ही खोज नही की, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक साहित्य मे भी अपना सबध जोडा। परिणामस्वरूप नवीन प्रवृत्ति के उपन्यासो की बाढ सी आ गई। ओडम और मूर ने अपने इनसाइक्लोपीडियक ग्रथ 'अमेरिकन रीजनलिज्म' मे बीसवी शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियो मे लिखे गये दो हजार से भी अधिक प्रादेशिक उपन्यासो का विवरण दिया है। हेलेन हेन्स ने भी चतुर्थ दशाब्दी मे प्रकाशित सौ प्रादेशिक उपन्यासो की सूची दी है।[1] प्रादेशिकता की इस नवीन प्रवृत्ति की विशेषता केवल उनके विस्तृत चित्र-फलक मे ही निहित नही है, उनके नैतिक दृष्टिकोण तथा जाति-विकास की झलक प्रस्तुत करने मे भी है।

वर्तमान काल मे अमरीकी प्रादेशिक उपन्यासो का नाना दिशाओ मे विकास हुआ है। दक्षिण मे रोमास की परम्परा चल रही है और सामाजिक व्यग्य लिखे गए हैं। सिंक्लेयर लुई के 'मेन स्ट्रीट' (१६२०) एव 'बब्बिट' (१६२२) मे भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। शेरवुड एण्डरसन तथा एडगर मास्टर ने मिडवेस्ट के गदे, भद्दे ग्रामीण जीवन को अपने उपन्यासो का विषय बनाया है। इसी भद्दे यथार्थ को विला केथर्स ने अपने 'माई एन्टोनिया' (१६१८) तथा 'शेडोज आनन्द राक' (१६३०) म कलात्मक रूप प्रदान किया। डोरोथी केनफील्ड ने 'द बेन्ट ट्विग' (१६१५) और 'द ब्रिमिंग कप' (१६२१) मे वेरमान्ट के चरागाहो और पहाडी प्रदेश के जीवन को रूपायित किया। हैरोल्ड सिंक्लेअर, लेना वारेन, मरले कोलवी तथा कोनार्ड रिक्टर जैसे उपन्यासकारो ने प्रादेशिकता के साथ ऐतिहासिकता का भी समन्वय कर दिया है। इनके उपन्यासो मे प्राकृतिक परिवेश के अत्यन्त सुन्दर चित्र प्राप्त हो जाते हैं। रूथ डायमन ने अपने 'स्ट्रा इन द विण्ड मे इण्डियाना की एक छोटी जाति (अमिश) के सामाजिक जीवन का

1. HELEN E HAINES, "WHAT'S IN A NOVEL, page 78-82.

अत्यत यथार्थ चित्रण किया है। इसी प्रकार व्हिपिल के 'द जाइन्ट जोशुआ' मे ऊथा के मोरमीन परिवार का उस काल के जीवन का चित्रण है जब वहा बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी।

वर्त्तमान शताब्दी के प्रादेशिक आन्दोलन की एक प्रमुख धारा का प्रारभ बारह दक्षिणी अमरीकी लेखको ने अपने घोषणा-पत्र 'आई विल टेक माई स्टैण्ड द साउथ एण्ड द एग्रेरियन ट्रेडीशन' (१९३०) द्वारा किया। इसके अनुसार ये लोग अपनी कृषि-परम्परा को जीवित रखना चाहते हैं और औद्योगीकरण का विरोध करते हैं। इस विचार धारा का प्रमुख लेखक विलियम फाकनर है जिसके प्रादेशिक उपन्यास 'योकनापटाफा कन्ट्री मिसीसिपी' (YOKNAPATAW-PHA COUNTRY MISSISSIPPI) पर आधारित हैं। फाकनर ने अपने उपन्यास 'द साउण्ड एण्ड फ्यूरी' (१९२९) ऐज आई ले डाइग' (१९३०), 'एबसालम, एब्रसालम' (१९३६) और 'द हेमलेट' जैसे उपन्यासो मे प्रादेशिक सस्कृति से प्रभावित सभी जातियो एव वर्गो के लोगो की कथा कही है। अन्य अमरीकी प्रादेशिक उपन्यासकारो मे हेनरी जेम्स तथा हेमिग्वे अधिक प्रसिद्ध है परन्तु ये अपने देश की प्रादेशिक-वस्तु की विरलता से निराश होकर यूरोपीय वस्तु की ओर मुड गए।

कनाडा मे बहुत सफल प्रादेशिक उपन्यास तो नही लिखे गए परन्तु वर्त्तमान काल मे डा० फिलिप पेनेटन एव फ्रैड्रिक फिलिप ग्रोव ने इस दिशा मे कुछ सुन्दर प्रयत्न अवश्य किये है। डा० पेनेटन के 'थर्टी एकर्स' मे मान्ट्रियल के तीन नदी-प्रदेशो के जीवन का चित्रण है और श्री ग्रोव का 'ट् जेनरेशन्स' अग्रेजी प्रदेश ओन्टेरियो पर आधारित है।

यूरोपीय उपन्यास साहित्य मे भी आचलिक उपन्यासो का सर्जन होता रहा है। इस दृष्टि से स्केन्डेनेवियन साहित्य समृद्ध है क्योकि उस देश का सपूर्ण परिवेश ही आचलिक है। नार्वे के मछुए खुली नावो मे मछली पकडने समुद्र मे सैकडो मील चले जाते है। हेमिग्वे ने अपने 'द ओल्ड मैन एण्ड द सी' मे ऐसे ही एक मछुए के साहसिक सघर्ष का चित्रण किया है। नार्वेवासी बोजेर के उपन्यास 'द लास्ट ऑफ द वाईकिग्ज' मे भी इन्ही मछुओ के साहसिक अभियानो की कथा है। गोस्टा ने अपने उपन्यासो 'नार्दन समर' एव स्टोरविक' मे खेतो तथा चरागाहो के सरल एव स्वाभाविक जीवन को चित्रित किया है। स्वीडन के लोक-जीवन का चित्रण विल्हेल्म मोबर्ग के उपन्यास 'द अर्थ इज अवर्स' (१९४१) मे विशद रूप मे हुआ है।

जर्मनी मे तो एडोल्फ बार्टिल्स और एफ० लीनहार्ड ने १९०० और १९०४ के बीच 'हीमॅत पत्रिका' के माध्यम से एक आन्दोलन चलाया जिसका नारा ही था 'धरती की ओर लौटो'। आगे चलकर यह आन्दोलन नाजी आन्दोलन मे

परिवर्तित हो गया। फ्रान्स मे आचलिक अरूपीकरण की विरोधी बनकर आई। यहा की आचलिक प्रवृत्ति ने दो रूप ग्रहण किये। प्रथम, प्रादेशिक, जिसका प्रतिनिधित्व एन्ड्रे जेम्मन के उपन्यास 'रूले बेन्डिट' (ROOX LE BANDIT), ले होमेस (LES HOMMES), तथा डी लारूट (DE LA ROOTE) करते हैं; दूसरी, प्रकृति-प्रेम जिसका सुन्दरतम रूप जीन गिओनो के उपन्यासा 'जीन ले ब्ल्यू' (JEAN LE BLEU), 'रेगेन' (REGAIN) एव 'कोलिन' (COLLINE) मे प्राप्त होता है।

इटली मे यथार्थवाद के आग्रह के रूप मे ही प्रादेशिकता की प्रवृत्ति का प्रवेश हुआ। जी० वेरगा तथा डी रोवरटो के उपन्यासो मे प्रादेशिकता का समावश इसी रूप मे मिलता है। बेल्जियम मे आचलिकता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ भारतीय रूप प्राप्त होता है। मेरी गेवर्म ने फ्लैण्डर्स के ग्राम्य जीवन को आधार बनाकर सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। जीन टुसुल का उपन्यास 'म्यूज' ग्राम विशेष को आधार बनाकर लिखा गया है और अत्यन्त शक्तिशाली उपन्यास है। इसी प्रकार मैरियल बीमे ने फ्लैमिश ग्राम्य जीवन का मार्मिक चित्रण अपने उपन्यासो मे किया है।

स्पेन के उपन्यासो मे प्रादेशिकता का प्रवेश उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ जब विसेंट ब्लेसको इबानेज ने किसानो और मछुओ के जीवन को औपन्यासिक चित्रण का विषय बनाया। उसके 'ला बराका' मे कृषक जीवन को सुन्दर चित्रण है तथा 'कनास ई बारो' (CANAS Y BARRO) मे अल्बुफेरा झील के किनारे रहने वाले तथा चावल के खेतो मे काम करने वाले लोगो के जीवन की मार्मिक कथा है। कोनचा एसपीना डी सरना ने खानो मे काम करने वाले मजदूरो के जीवन को औपन्यासिक निरूपण के लिए चुना और जुआन एन्टोनियो डी जुन्जुनेगुई ने बदरगाहो और नदी के निकटवर्ती जीवन की गाथा कही।

फिनलैण्ड के उपन्यासो मे परिवेश मण्डल तथा वातावरण के चित्रणो के कारण आचलिकता का अत्यत स्वाभाविक रूप निखरा है। जुहानी आहो (JUHANI AHO) का १८८३ मे लिखा गया 'ए बनर्जीमेन्स वाईफ' इस दृष्टि से एक अनुपम कृति है। जोहेनिज लिन्नानकोस्की (JOHANNES LINNANKOSKI) ने फिनलैण्ड के ग्राम्य जीवन को आधार बनाकर दो महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे हैं—'स्ट्रगल फोर हिक्किला फार्म' और 'द फ्युजिटिव्ज्'। एनो कलास (AINO KALLAS) स्टोनिया प्रदेश म रहती थी, उसने उसी प्रदेश के जीवन का मार्मिक चित्रण अपने उपन्यासा मे प्रस्तुत किया है। वर्त्तमान काल का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार फ्रेन्स एमिल सिल्लान्पा (FRANS EMIL SILLANPAA) है जिसे १९३९ मे नोबल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। उसने अपने

उपन्यासो मे अपने ही प्रदेश को चित्रित किया है और वही का परिवेश उभारा है। उसके प्रमुख उपन्यास हैं 'लाइफ एन्ड द सन', 'मीज हेरिटेज', 'द मेड सिलजा' और 'द वे ऑफ मैन'।

हगरी के साहित्य मे १८६७ के लगभग ही यथार्थवाद का प्रदेश हो गया था और इसी के परिणामस्वरूप आचलिक जीवन की ओर भी साहित्यकारो का ध्यान गया। परन्तु इस विधा को निश्चित गति प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही मिली। हगरीवासियों ने विदेशियो को अपने सारे दुख एव आर्थिक पतन का कारण माना। ऐसी स्थिति मे ग्रामवासियो के दुख दर्द के चित्रण की ओर उपन्यासकारो का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। डेसिडर जेबो के १६१६ मे लिखे गये 'द डेस्ट्रोयड विलेज' मे शोषण एव अत्याचार की कथा मार्मिक शैली मे कही गई है। जेबो का तीव्रता मे अनुकरण हुआ और समाज-शास्त्र मे ग्राम्य-अनुसधान की एक नई प्रवृत्ति चल पडी। इस प्रवृत्ति ने कुछ अत्यत महत्वपूर्ण प्रादेशिक उपन्यास प्रदान किये हैं जिनमे प्रमुख है—'द विलेज पीपुल' (जुलियस इलिस), 'ब्लेक ब्रेड' (जोसेफ डरवस), 'लैंडलैस पीजेंट' (स्टीफेन फेकेट) और 'स्टार आन हर फोरहैड' (पिरोसका जेनिस)।

रूस मे वहा के जीवन की विशिष्टता के कारण प्रादेशिकता की प्रवृत्ति अत्यन्त विलम्ब से आई और बहुत शीघ्र ही समाप्त भी हो गई। वास्तव मे साम्यवादी विचार-धारा जिस प्रकार के साहित्य की अपेक्षा रखती है उसका प्रादेशिक साहित्य की प्रवृत्ति से मेल नही बैठता। परिणामस्वरूप विभिन्न अचलो के होते हुए भी आचलिक उपन्यासो की विरलता रूसी साहित्य मे स्पष्ट रूप मे दिखाई देती हैं। सोलोखोव जैसे समर्थ कथाकारो ने कज्जाक जाति को आधार बनाकर 'एण्ड क्वाएट फ्लोज द डोन' जैसे उपन्यास लिखे अवश्य हैं परन्तु उनका स्वर द्वद्वात्मक अधिक है, आचलिक कम।

विदेशी आचलिक उपन्यासो पर समग्र रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के आचलिक उपन्यासो की प्रवृत्ति के दर्शन वहा नही होते। प्रकृति चित्रण एव यथार्थवादी जीवन के स्वाभाविक चित्र उन उपन्यासो मे अवश्य प्राप्त हो जाते हैं परन्तु अन्य कई कारणो से आचलिकता की आवश्यकता की पूर्ति नही होती। इन उपन्यासो की सामान्य प्रवृत्तिया निम्नलिखित हैं—

(१) प्राकृतिक परिवेश की पीठिका मे यथार्थवादी जीवन की अभिव्यक्ति।

(२) ऐतिहासिकता का आग्रह।

(३) स्थानीय, विभागीय एव प्रान्तीय विशिष्टताओं के सयोग का प्रयत्न।

(४) नगरीय-जीवन एव उसकी समस्याओ के साथ भौतिकता के आग्रह की स्वीकृति।

(५) रोमानी, मनोवैज्ञानिक, व्यग्यात्मक एव प्रचारात्मक प्रवृत्तियो का समन्वय।

(६) उच्च वर्ग के तिरस्कार के प्रयत्न मे अति सामान्य मनुष्य को मानवतावाद अथवा 'कामन मैन' के नाम पर अनुचित महत्त्व प्रदान करना।

(७) अस्थिर सस्कृति मे चिरतन मूल्यो को ढूढने का प्रयत्न।

यदि गभीरता से विचार किया जाय तो यह सभी प्रवृत्तिया हिन्दी उपन्यासो की आचलिक प्रवृत्ति मे भिन्न ही बैठती हैं। दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि विदेशी उपन्यासो मे पृष्ठ-भूमि एव जन जीवन का चित्रण साध्य के रूप मे नही, साधन के रूप मे होता है जबकि हिन्दी मे "देशकाल, प्रकृति और परिस्थिति का चित्रण पृष्ठ-भूमि तथा उपन्यास के अन्य तत्त्वो का पोषक बनकर, साधन के रूप मे नही, *साध्य के रूप मे होता है।" अन्य उपन्यासो की पृष्ठ-भूमि ही आचलिक* उपन्यास मे अग्रभूमि बन जाती है। वही मुख्य होती है और उपन्यास के अन्य सभी तत्त्व उसके पोषक बनकर विकसित होते हैं।'[1] इसी कारण विदेशी उपन्यासों की उपर्युक्त प्रवृत्तिया हिन्दी के आचलिक उपन्यासो मे उसी रूप में नहीं मिलती। दोनो की प्रकृति ही भिन्न है। इसीलिए डा० कान्ति वर्मा ने लिखा है—

"आज जिस अर्थ मे हिन्दी के आचलिक उपन्यासो को ग्रहण किया जा रहा है उस रूप मे न सही किन्तु उससे मिलते-जुलते किसी रूप मे, आचलिक उपन्यास विश्व के सभी साहित्यो म उपलब्ध हैं।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-आचलिक उपन्यासों की प्रकृति जहा एक ओर इसी देश की अन्य भाषाओ के आचलिक उपन्यासों की प्रकृति से भिन्न है, वहा दूसरी ओर यह विदेशी उपन्यासो की प्रकृति से भी भिन्न है। उनकी यह भिन्नता ही हिन्दी-उपन्यासो की उपन्यास-साहित्य को देन है।

---

१ 'समसामयिक हिन्दी साहित्य', साहित्य अकादमी प्रकाशन (प्रथम संस्करण १९६०), पृष्ठ २०५।

२ डा० कान्ति वर्मा, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ १८७।

उपसंहार

आचलिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य के विकास की एक नई दिशा के द्योतक है। यह दिशा, जहा एक ओर राष्ट्रीयता की भावना पर आधारित है वहा दूसरी ओर नव-जागृति एव रोमानि दृष्टिकोण से भी परिपुष्ट है। स्वतत्रता-प्राप्ति के उपरान्त जब देशवासियो का ध्यान राष्ट्र के उपेक्षित तथा तिरस्कृत वर्ग की ओर गया और उसके उद्धार के लिए प्रयत्न किये जाने लगे तो साहित्यकार भी अपने कर्त्तव्य के प्रति विशेष जागरूक हो उठा। उसने ऐसे ही वर्ग को साहित्यिक निरूपण का आधार बनाया। ऐसे ही प्रयत्नो का परिणाम आचलिक उपन्यास भी हैं। इसमे कोई सदेह नही की यह कार्य यथार्थवादी उपन्यासकारो ने भी किया। परन्तु उनके यथार्थवाद ने एक बौद्धिक नजरिये से जन-सामान्य एव उसकी समस्याओ के चित्रण का प्रयत्न किया जबकि आचलिक उपन्यासकारो ने एक कलाकार के दृष्टिकोण से उन अचलो की ओर ध्यान दिया जिन्हे यथार्थवादी भी छोड गये थे। इस प्रकार यथार्थवादी और आचलिक उपन्यासकारो की आधार-भूमि ही भिन्न है। यथार्थवादी उपन्यासकार मार्क्स एव फ्रायड जैसे विचारको की धाराओं के परिप्रेक्ष्य मे रोमानी तत्त्वो को तिलाजली देकर जिस साहित्य का सर्जन करता है वह कई बार कटु लगने लगता है। इसके विपरीत आचलिक उपन्यासकार गान्धीवादी आदर्शों के धरातल पर स्वस्थ-रोमानी दृष्टिकोण से जिस सत्य को उद्घाटित करता है वह मधुर बन जाता है। अज्ञेय यशपाल, अथवा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो की रेणु, नागार्जुन, रागेयराघव के आचलिक उपन्यासों से तुलना करने पर यह तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है। इस स्थान पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यथार्थवाद की जब बात कही जाती है तब उससे तात्पर्य उन विशेष प्रवृत्तियो से होता है जो यथार्थवादी उपन्यासो मे परिलक्षित होती हैं। 'यथार्थ' से तो आचलिक उपन्यास का कोई बैर होना ही नही बल्कि यदि यथार्थ को ही भूमि का आधार देखा जाये तो वह आचलिक उपन्यासो मे ही भारतीय होने के कारण अधिक स्वस्थ होती है। यथार्थवादी उपन्यासो मे वर्णित वस्तु भारत मे कितने स्थानो पर उस रूप मे प्राप्त हो सकती है और उनके पात्रो के कितने भारतीय उदाहरण उदलब्ध हो सकते हैं यह कल्पना का ही विषय है। 'बूद और समुद्र' की वनकन्या अथवा सज्जन ढूढने पर कही

मिल जाय तो दूसरी बात है, सामान्य जीवन मे वे दिखाई नही देते। यही बात सुनीता, श्रीकान्त, हरिप्रसन्न जैसे पात्रो के सबध मे भी सत्य है। परन्तु प्यारी एव कजरी किसी भी नट समाज मे मिल जायेंगी, काका परमराम, परमसुख और बिन्दिय मथुरा के चौबो मे कही भी देखे जा सकते है। महुआ सुलक और भालर गोडा में न मिलें, ऐसा नही हो सकता। यह है यथार्थ चित्रण जो वाद' के आग्रह से मुक्त है, अत स्वाभाविक है। परन्तु यथार्थवाद के रूप मे जो यथार्थ चित्रित हो रहा है वह पथ भ्रष्ट ही अधिक है। इसीलिए श्री त्रिभुवन सिंह को हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद के विस्तृत अध्ययन के उपरात यह कहना पडा —

"... यथार्थवाद की अभिव्यक्ति एकमात्र कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही कर रहे हैं। अधिकाश यथार्थवादी साहित्यकार पश्चिम के अनुकरण पर ही अपनी रचनाए प्रस्तुत कर रहे हैं। परन्तु कला के अभाव मे वे लक्ष्य से दूर है।'[1]

इस विषय मे श्री त्रिभुवन सिंह ने अपना सुझाव भी द दिया है—

"वर्तमान लेखको को अपने देश के विकास को दखना चाहिए, तभी वे अपनी कृतियो मे वास्तविक यथार्थ का चित्रण कर सकेंगे। यथार्थवादी साहित्यकार का कार्य अनुकरण करना नही, बल्कि बदली हुई परिस्थितियों को पहिचानना है।"[2]

हमारा विश्वास है कि इस प्रकार का सुझाव आचलिक उपन्यासकार को देने की आवश्यकता नही है। इस प्रकार आचलिक उपन्यासकार 'यथार्थ का उपन्यासकार तो होना है परन्तु उस अर्थ में 'यथार्थवादी' नही होता जिस अर्थ मे 'यथार्थवाद' का अर्थ लगाया जाता है।

दूसरी बात यह है कि हिन्दी के आचलिक उपन्यास जिस विशिष्ट रूप को अभिव्यक्ति देते है वह रूप प्रादेशिक उपन्यासो के रूप से भिन्न है। यूरोप म जो रूप 'रीजनल' अथवा 'पनोरेमिक' उपन्यासो में प्राप्त होता है वह रूप भी इनका नही। अपने सर्वांगीण रूप म ये आचलिक उपन्यास भारतीय हैं, उनकी कला और उनका शिल्प इसका प्रमाण है।

आचलिक उपन्यासो के विकास का अध्ययन कर लेने के उपरात यह स्वीकार करना भी कठिन नही रह जाता कि हिन्दी मे उनका आविर्भाव एव विकासपूर्ण स्वाभाविक ढग से हुआ। जीवन के निकटतर आने का जो प्रयत्न उपन्यास-साहित्य प्रारभ से ही कर रहा था उसकी चरम परिणति आचलिक उपन्यासो मे हुई। विकास की यह स्थिति पूर्ण रूप से भारतीय है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि पश्चिम मे प्राप्त होने वाले प्रादेशिकता के बदलते हुए रूपों का भी इसमें समन्वय दिखाई देता है परन्तु अनुकृति के रूप मे नही—विकास की स्वाभाविक दिशा के ही रूप मे।

१ डा० त्रिभुवनसिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (द्वितीय सस्करण) पृष्ठ २७५।
२ वही, पृष्ठ २७६।

आचलिक उपन्यासो की विषय-वस्तु की विशेषता यह होती है कि उसमे भाव-पक्ष तथा विचार-पक्ष का सफल समन्वय होता है, परिणामस्वरूप वह न किसी ऐसे भाव को जाग्रत् करता है जो हेय हो और न ऐसे विचार को जन्म देता है जो त्याज्य हो। आचलिक उपन्यासो की विषय-वस्तु इस प्रकार जहा कला के उच्च आदर्श के अनुरूप होती है वही साहित्य की आवश्यकता की भी पूर्ति करती है। लोक-जीवन, लोक-कथाओ एव लोक-गीतो की भावनात्मक पृष्ठ-भूमि पर आलिखित आचलिक-उपन्यास-चित्र नेत्रो को ही तृप्त नही करता, उसका सौन्दर्य हृदय मे पैठ जाता है। वर्तमान 'माडर्न आर्ट' के चित्रो के समान उसकी तृप्ति बुद्धिगत भी नही होती।

आचलिक-शिल्प औपन्यासिक-शिल्प होते हुए भी अपनी विशिष्टता रखता है जो दो सीमाओ के बीच झूलती रहती है। एक सीमा तो वह है जो 'रेणु' मे मिलती है, जिसे गीतो की कडियो और टेप-रेकार्डर की ध्वनियो का सम्मिश्रण माना जाता है और दूसरी वह जिसका आग्रह कथा का होता है तथा जो 'पानी के प्राचीर', जैसे उपन्यासो मे दिखाई देती है। इन दोनो के बीच 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा', 'वरुण के बेटे' और 'कब तक पुकारू' जैसे उपन्यास आ जाते हैं। इसी प्रकार इनका परिवेश प्राकृतिक रूपो और सामाजिक-जीवन-चित्रो के बीच झूलता रहता है। कुशल आचलिक उपन्यासकार अपनी आवश्यकता एव प्रवृत्ति के अनुरूप अपने शिल्प को इन शृखलाओ की कडियो से सुसज्जित कर कथा की पृष्ठ-भूमि मे पात्रो के मनोहारी रूप उभारता है। इस प्रकार आचलिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य की वह विधा बन जाता है जो साहित्य के साथ कला एव दर्शन का भी समन्वय कर सत्य, शिव एव सुन्दर की प्रतिष्ठा करती है। उसके पक्ष मे सबसे बडी दलील भी यही है।

आचलिक उपन्यासो पर अनेक आरोप भी लगाए जाते हैं। सत्य तो यह है कि अपने-अपने दृष्टिकोण से विद्वानो ने उनकी कथा वस्तु, चरित्र-निरूपण, भाषा-शैली, उद्देश्य, सभी पर आक्षेप किए हैं। अत उन पर सक्षिप्त विचार आवश्यक है।

प्रथम आक्षेप आचलिक उपन्यास के कथा-तत्त्व पर ही किया जाता है। कहा जाता है कि आचलिक उपन्यास वास्तविक जीवन के चित्रण पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है परिणामस्वरूप आचलिक उपन्यासो मे एक निश्चित कथा-धारा का अभाव हो जाता है।[1] इस सबध मे ई० एम० फारेस्टर के इस मत का भी

1. (क) डा० त्रिभुवनसिंह, 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (चतुर्थ सस्करण), पृष्ठ ४३७।
   (ख) श्री शिवप्रसादसिंह, 'हिन्दी के आचलिक उपन्यास : शिल्प प्रवृत्ति एव सीमाए', साहित्य सदेश, सितम्बर १९६४।

उदाहरण दिया जाता है कि कथा उपन्याम की रीढ की हड्डी होनी है।[1] यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही की कथा उपन्यास की प्रमुख आवश्यकता होती है और उसका अभाव एक बहुत बडा अभाव है परन्तु आचलिक उपन्यासो मे यह अभाव होता कहा है ? सत्य तो यह है कि जब आचलिक उपन्यासो पर कथा-हीनता का आरोप लगाया जाता है तो उसके पीछे 'कथा' शब्द के भ्रामक अर्थ का ही आधार होता है। अर्थात् घात-प्रतिघात तथा घटनाओ और परिणतियो के सतत प्रवाह को ही कथा मान लिया जाता है। सीधी बात तो यह है कि कथा का एक सरल अर्थ है—"जो कुछ कहा जाये।" इस दृष्टि से तो कोई भी उपन्याम कथा तत्व से रहित नही हो सकता। फिर भी हम उसका यह अर्थ नही लगाते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे आलोचक आचलिक उपन्यामो मे एक मानवीय कथा ढूढने का प्रयत्न करते हैं। या तो ऐमी कथा उन्हे उसमे मिलती नही, यदि मिलती है तो बिखरी हुई जिसे वे अनिश्चित कथाधार मानते है। अत उन्हे ऐसा लगना है जैसे आचलिक उपन्याम उपन्याम की कोटि से गिर गया है। इस सबध मे हमारा विनम्र मत यह है कि मानव-कथा को ही कथा क्यो माना जाये ? 'रेणु' ने 'परती परिकथा' मे लिखा है—"कथा होगी अवश्य इस परती की भी,'[2] अर्थात् अचल की कथा भी तो हो सकती है जैसे 'मैला आचल' मे मेरीगज की कथा है। एक मनुष्य या कुछ मनुष्यो की कथा कहने के स्थान पर सभी (लगभग) मनुष्यो के एक अचल की कथा भी तो कही जा सकती है। आचलिक उपन्यासो मे ऐसा होना भी है। ऐमी स्थिति मे यदि इसे तथा तत्त्व का अभाव न मानकर यह माना जाये कि आचलिक उपन्यासकार एक नवीन प्रकार के कथा-तत्त्व को प्रश्रय देता है तो अधिक न्याय-सगत होगा। फिर भी आचलिक उपन्यासो मे मानवीय कथा की पूर्ण उपेक्षा नही कर दी जाती है। यह अवश्य हो सकता है कि निश्चित मानवीय कथा-धारा का उसमे अभाव दृष्टिगत हो—अर्थात् कौन-सी मानवीय कथा निश्चित एव प्रमुख है यह अनुमान लगाना कठिन हो। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि आचलिक उपन्यासो मे केन्द्रीय कथा का अभाव दिखाई दे सकता है। परन्तु यह आरोप भी अनुचित ही है क्योकि मानवीय कथा के स्थान पर अचल की केन्द्रीय कथा होनी ही है। मानवीय कथाए भी अलग-अलग चल कर ही केन्द्र की सम्पूर्ण कथा-धारा का निर्माण करती हैं। 'मैला आचल' मे बालदेवजी की कथा, लछमीदासी की कथा, महत सेवादास की कथा, महत रामदास की कथा, डा० प्रशान्त की कथा, तहसीलदार की बेटी कमला की कथा, बावनदास की कथा, आदि कई छोटी बडी कथाए चलती हैं परन्तु सभी मिलकर उस मैले आचल की निश्चित कथा कहती हैं जिसमे फूल भी है, धूल भी, कीचड भी है

१ ई० एम० फोरस्टर, 'एसपेक्टस ऑफ द नावल', पृष्ठ २

२ 'परती परिकथा', पृष्ठ ६।

श्यकता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ी बात तो यही है कि जब तक ये पात्र उपन्यास की आवश्यकता की सफलता से पूर्ति करते हैं तब तक उनके बारे में 'व्यक्ति' एवं 'टाइप' की बात करना अनावश्यक है।

तीसरा आरोप आंचलिक उपन्यासों की वर्णनात्मक-प्रवृत्ति पर लगाया जाता है। श्री शिवजीसिंह ने इस संबंध में लिखा है कि आंचलिक उपन्यासकार कभी-कभी छोटी-छोटी बात के वर्णन में इतना रत हो जाता है कि पाठक ऊबने लगता है और उपन्यास को बीच में ही छोड़ देता है। उन्होंने श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के मत को उद्धृत करके यह कहना चाहा है कि 'बूंद और समुद्र', 'कब तक पुकारूं', 'धरती परिकथा', पढ़ने के लिये योगी जैसे धैर्य होना चाहिए।[1] यह सही है कि आंचलिक उपन्यासों में वर्णनों की अधिकता मिल जाती है, परन्तु ये वर्णन अनावश्यक नहीं होते, अंचल एवं परिवेश को उभारने के लिए, आंचलिक उपन्यास की जो प्रमुख आवश्यकता होती है, इनकी संयोजना की जाती है और इनका अपना रस होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक विवरणों, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक स्थितियों तथा सामाजिक उपन्यासों में समस्याओं पर लम्बे लम्बे विचार विमर्श, जिस प्रवृत्ति का परिचय देते हैं, उसी प्रवृत्ति का परिचय आंचलिक उपन्यासों के वर्णन भी देते हैं। इसे यदि कोई चाहे तो दुर्बलता कहले परन्तु यह अनिवार्य दुर्बलता ही मानी जायेगी। किसी भी वृहत् उपन्यास में यह दुर्बलता आ ही जाती है। इसीलिए विद्वानों ने इस आवश्यक दुर्बलता को स्वीकार भी कर रखा है। उपन्यास के कुशल पाठक का यह गुण माना जाता है कि लांघने की कला (how to skip over) में प्रवीण हो—अर्थात् यह जानता हो कि ऐसे कौन-से स्थल हैं जिनको छोड़-छोड़कर उपन्यास पढ़ा जाये। एक उपन्यास प्रेमी सदा ही उपन्यासों को लांघ लांघकर पढ़ता है, यदि यह सत्य है तो आंचलिक उपन्यास वर्णनात्मक अंशों के दोष से मुक्त हो जाता है। इस संबंध में विपरीत पक्ष पर भी विचार कर लेना आवश्यक है तभी पूरी स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। कुछ आंचलिक उपन्यास ऐसे भी होते हैं जिनका विस्तार इतना पूर्ण होता है कि उनमें से कोई भी अंश काटा नहीं जा सकता और उनकी पंक्ति पंक्ति पाठक कई-कई बार पढ़ना चाहता है जैसे 'काका' और 'बहती गंगा'। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यासों की वर्णनात्मक प्रवृत्ति कोई दोष नहीं। यदि इसे दोष ही माना जाये तो सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य इसका दोषी बन जायेगा।

"आंचलिक उपन्यासों पर चौथा आरोप यह लगाया जाता है कि वे निजी मत की स्थापना का प्रयत्न करते हैं। इससे तनिक और आगे बढ़कर उन पर

१ श्री शिवजीसिंह, 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : विषय प्रवृत्ति एवं सीमाएं', 'साहित्य संदेश', सितम्बर १९६४।

राजनीतिक मतो के प्रचार का भी आरोप लगा दिया जाता है। इन आरोपो के सबध मे अधिक कुछ कहना आवश्यक नही, प्रथम तो इसलिए कि उपन्यास में उपन्यासकार का व्यक्तित्व निहित होता ही है, द्वितीय, इसलिए कि साहित्य-समाज का दर्पण होता है। वर्तमान काल मे कोई भी साहित्यिक विधा ऐसी नही बची है जिसके माध्यम मे निजी मत की स्थापना अथवा राजनीतिक मतवाद का प्रचार किसी रूप मे न किया जा रहा हो। आज का जीवन बहुत कुछ राजनीतिक जीवन बन गया है। हर छोटा-बडा आदमी राजनीति को समझने का दावा करता है। समाज का जब सारा वातावरण ही मतस्थापन एव राजनीतिक मत-वाद का हो तब उपन्यास जैसी जन जीवन का ही चित्रण करने वाली विधा उससे अछूती कैसे रह सकती है ? यदि आचलिक उपन्यास अलग मे या विशेष रूप से मतवाद का प्रचार नही करता तो उस पर यह दोष भी नही लगाया जाना चाहिये।

आचलिक उपन्यासो के यथार्थ-चित्रण पर भी यह आरोप लगाया जाता है कि उसके कारण वे कतिपय बुराइयो एव जघन्य पापो से पूर्ण हो जाते हैं। पाठक के मन म घृणा नही, रति की अनुभूति कराने लगते है जिसका कुपरिणाम निकलता है।[१] कलाओ पर लगाये जाने वाले इस प्रकार क आरोप नवीन नही हैं। प्राचीन मूर्तियो, सम्प्रदायो तथा वर्त्तमान काल के यथार्थवादी उपन्यासो, कहानिया, कविताओ, सभी पर इस प्रकार के आरोप लगाये जाते रहे हैं। आचलिक उपन्यासो पर ऐसे आरोपो के सबध मे इतना भी कहना पर्याप्त है कि उन पर यह न्यूनतम ही उचित ठहरता है और वह भी एक-दो उपन्यासकारो की कृतियो पर ही। श्री रागेयराघव ने तो इस सबध मे अपनी स्थिति स्पष्ट भी कर दी है—

"मैंने इनकी (नटो की) नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नही किया है। बल्कि पाठको को इनके सेक्स की ऐसी जानकारी के रूप मे हासिल करना चाहिये कि इनमे यह होता है 'न इनके यह सामाजिक नियम शाश्वत हैं न हमारी नैतिकता के बधन ही शाश्वत हैं · ।"[२]

श्री शैलेश मटियानी ने भी अश्लीलता एव 'पातरीकरण' पर अपनी सफाई दी है।[३] रही नागार्जुन की बात तो उन्होंने अश्लीलता का आरोप स्वीकार कर

१ (क) श्री शिवजीसिंह, हिन्दी के आचलिक उपन्यास विषय प्रवृत्ति एव सीमाए', 'साहित्य सदेश', सितम्बर १९६४।
(ख) डा० त्रिभुवनसिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (चतुर्थ सस्करण), पृष्ठ ४३६।

२ श्री रागेयराघव, 'कब तक पुकारू', (भूमिका)।

३ श्री शैलेश मटियानी, 'चौथी मुट्ठी', एक मूठ सरसो' (प्रस्तावना)।

'रतिनाथ की चाची' (दूसरा सस्करण) के पृष्ठ एक सौ तीस से पाच पक्तिया तथा पृष्ठ एक सौ बयालीस से बारह पक्तिया हटा दी हैं।

इन आरोपो के सबध मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस प्रकार के आरोप साहित्य की अन्य विधाओं पर भी लगाये जाते हैं और जिस कलाकार की इस प्रकार के यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति होती है, उसकी केवल आचलिक कृतियो तक ही यह सीमित नही रहती। आचलिक कृतियो मे तो यह दोष न्यूनतम ही आता है।

आचलिक उपन्यासो पर सबसे बडा आरोप उनकी भाषा-शैली को लेकर लगाया जाता है। यह कहा जाता है कि आचलिक शब्दो, मुहावरो, लोकोक्तियो, विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों और चित्रणो के कारण भाषा-शैली बोझिल ही नही दुरूह भी हो जाती है, उपन्यासो का पारायण कष्ट-साध्य हो जाता है तथा एक सामान्य पाठक के लिए उनमे रस प्राप्त कर पाना सभव नही रहता। इस सबध मे श्री त्रिभुवनसिंह ने तो भाषा के प्रामाणिक अनुवाद की कठिनाई की ओर भी सकेत किया है।[१] इस आरोप को आरोप के रूप म स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नही क्योकि यह आचलिक शिल्प की अपनी विशिष्टता ही नही आवश्यकता भी है। आचलिकता के निर्माण के लिए जिन तत्वो की आवश्यकता होती है उन्हे त्यागकर आचलिकता की सफल अवतारणा नही की जा सकती। उपन्यास का रस उपन्यास प्रेमियो के लिए होता है और जो सामान्य पाठक इनमे रस नही ले पाते उनके लिए 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' और 'मैला आचल' मे कोई अतर नही रह जाता। कलाकृति के रूप में उपन्यास के लिए जन-सामान्य की रुचियो की पूर्ति आवश्यक नही रह जाती। उपन्यासकार जब तक अपने विचारो एव भावो को ईमानदारी से अभिव्यक्त करता रहता है, तब तक उसके द्वारा अपनाई जाने वाली भाषा शैली पर आपत्ति करना उचित नही दीखता। आचलिक उपन्यासो की इस प्रवृत्ति को तो श्री सीताराम शर्मा ने गुण ही माना है। उनके मतानुसार इसमे "स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण ग्राह्यता है ही साथ ही उसे अपने अनुभवो का साक्षी बनाते हुए विचारो का सहयात्री भी बना लेती है जहा पाठक केवल भोक्ता नही बल्कि लेखक का सघर्ष-शील साथी भी बन जाता है।"[२] इस विषय पर भाषा एव शैली अध्यायो के अतर्गत विस्तार से अपना मत व्यक्त किया जा चुका है।

उपर्युक्त आरोपो की ओट म आचलिक उपन्यासो की मनोरजन-क्षमता एव उनमे उच्चादर्श के अभाव की बात भी कह दी जाती है।[३] जहा तक उच्चादर्श

१ डा० त्रिभुवनसिंह, 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद,' (चतुर्थ सस्करण), पृष्ठ ४३८।
२ श्री सीताराम शर्मा, 'स्वातत्र्योत्तर कथा साहित्य' (१९६४), पृष्ठ १३४।
३. डा० त्रिभुवनसिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (चतुर्थ सस्करण), पृष्ठ ४३८।

की बात है, षष्ठ अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक आंचलिक उपन्यास एक आदर्श को लेकर चलता है और आशावाद का संदेश देता हुआ समाप्त होता है। उपन्यास की प्रमुख-कथा एवं प्रमुख-पात्र सदा ही एक महान उद्देश्य की ओर गमन करते हैं और उसमें निहित पीड़ा एवं कुरूपता की परिणति भी अन्त में एक मंगल में होती है। आंचलिक उपन्यासकार किस प्रकार आदर्श सत्य, शिव एवं सुन्दर के सृष्टि-कर्ता होते हैं यह नवम अध्याय में विस्तार से स्पष्ट कर दिया गया है। अतः इस संबंध में यहाँ अधिक कहना अनावश्यक पुनरावृत्ति ही होगी। उनकी मनोरंजन-क्षमता पर उसी (नवम) अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है। इस स्थान पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि मनोरंजन-क्षमता पचास प्रतिशत पाठक की रुचि एवं प्रकृति पर भी निर्भर होती है। भिन्न प्रकार के व्यक्तियों का मनोरंजन भिन्न प्रकार के उपन्यासों से होता है, ऐसे भी लोग होते हैं जिन्हें उपन्यास मात्र रुचिकर नहीं लगता। अतः मनोरंजन क्षमता के आधार कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। उपन्यास पढ़ा जाता है, उसकी पाठक सहर्ष विचारते हैं और उसके नवीन संस्करण निकलते रहते हैं, इतना ही उसकी रोचकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मान लिया जाना चाहिए। फिर भी, मनोरंजन के लिए आवश्यक कुछ तत्त्व मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। आंचलिक उपन्यासों में ऐसे तत्त्व होते हैं यह पूर्व के अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है।

आंचलिक उपन्यासों को विघटन युग की उस चेतना की अभिव्यक्ति भी मान लिया जाता है जिसमें अपनी जाति, अपने वर्ग, अपने धर्म अथवा अपनी संस्कृति के प्रति कट्टरता की चरम सीमा को छूने वाला मोह बढ़ जाता है और अपने अंचल विशेष की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात का भाव उभर जाता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार की दृष्टि में विशदता की अपेक्षा संकुचन की ही संभावना रहती है और इस संकोच की कोई सीमा नहीं। राष्ट्र से प्रदेश, प्रदेश से अंचल, अंचल से जाति, जाति से वर्ग-विशेष तक सिकुड़ता-सिमटता उपन्यास अन्ततः अपनी तंग सीमाओं में यहाँ तक बंध सकता है कि उसकी संप्रेषणीयता उस अंचल विशेष के पाठकों तक ही, यदि कोई हो, सीमित रह जाय। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास के संबंध में यह भय होता है कि वह कहीं सार्वकालिक और सार्वभौम उपन्यास का प्रतिलोम बनकर न रह जाय।[1]

यह आरोप इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा पर आधारित है कि कला की प्रवृत्ति का संकोच मानव-हृदय का संकोच बन जाता है। इस आरोप में दृष्टि एक पक्षीय हो गई है और वह पक्ष भी गलत पक्ष है। सही दृष्टिकोण यह है कि कला में

---

१ 'समसामयिक हिन्दी साहित्य' (साहित्य अकादेमी प्रकाशन, १९६७), पृष्ठ २०६-२[illegible]।

विशेषीकरण की प्रवृत्ति होती है और विकास की स्थिति मे कला नाना दिशाओं मे उन्मुख भी होती है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर का यह प्रवाह, विस्तार के स्थान पर सीमा का आग्रह और साधारण के स्थान पर विशेष की प्रतिष्ठा की परिणति हानिकारक ही होगी ऐसा मानने का कोई कारण समझ मे नही आता। कला की प्रवृत्तियो को विस्तृत सदर्भ मे इस प्रकार हानि-लाभ की कसौटी पर कसना उचित नही लगता। अत यदि उसे सकोच की प्रवृत्ति ही स्वीकार किया जाये तो भी वह विशेष के विस्तृत निरूपण की प्रवृत्ति की ही परिचायिका मानी जानी चाहिए। इस सकोच का भी अपना विस्तार होता है जैसे विघटन का भी अपना सघटन हो सकता है। इसमे हानिकारक कुछ भी नही। इस प्रकार के भय कोरे कल्पना-जन्य हैं अत उनसे भयभीत होने की आवश्यकता नही।

आचलिक उपन्यासो की प्रवृत्तिया एव सीमाओं पर विचार कर अत मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि आचलिक उपन्यास उपन्यास-साहित्य का ही एक अग हैं तथा *एक विशिष्ट औपन्यासिक विधा के परिचायक हैं।* इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह विधा वर्तमान काल म पूर्ण विकास की स्थिति मे पहुच गई है और यदि इसके कुछ अभाव हैं तो वे सामान्य उपन्यासो के ही अभाव हैं जिनके लिए केवल आचलिक उपन्यासो को दोषी ठहराना न्यायसगत नही।

आचलिक उपन्यासो का महत्त्व अन्य उपन्यासो की तुलना मे कुछ अधिक ही बैठता है क्योकि उन्होंने हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अभिवृद्धि जिस रूप मे की है वैसी अन्य उपन्यासो द्वारा नही हो सकी है। 'उपन्यास' तो जीवन के 'उप' 'न्यास' (पास रखने) का माध्यम होता है। इस दृष्टि से अन्य औपन्यासिक विधाए जीवन को पास नही रख रही थी, उपन्यास वास्तविक जीवन से दूर हट गया था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की झोंक मे या तो मनुष्य के अतर्मन मे पैठकर उपन्यासकार आस पास फैले हुए जीवन को भूल गया था या आर्थिक विषमताओ के चित्रण मे ही उसने अपने उद्देश्य की इति श्री समझ ली थी। यथार्थवादी उपन्यास भी निकल रहे थे परन्तु उनका यथार्थ एक वाद बनकर रह गया था। भारतीय जीवन के सत्य का, जो अपनी सस्कृति मे निहित है, उद्घाटन कम ही हो रहा था। जिस पीडित और उपेक्षित वर्ग की ओर ध्यान जा रहा था उसकी पीडा और उपेक्षा आर्थिक ही अधिक थी। मानवतावादी और प्रगतिवादी विचारधाराओ की गति भी यही आकर अवरुद्ध हो गई थी और स्वतत्रता-प्राप्ति के पूर्व का जन-जन की पीडा, अज्ञान एव भय के हरण का लक्ष्य जैसे यही समाप्त हो गया था। गाधीजी और प्रेमचन्द जी ने जो महान् मानववादी सदेश दिया था उसकी इस रूप मे परिणति एक खटकने वाला अभाव थी। ऐसी स्थिति मे आचलिक उपन्यासो ने सामाजिक दृष्टि से शोषित, पीडित और उपेक्षित जीवन को

उनके सास्कृतिक एव स्वाभाविक परिवेश मे रूपायित कर यथार्थ के 'वाद' के आग्रह को तोडा, मानवतावादी तथा प्रगतिवादी धारा का मार्ग उन्मुक्त किया, पीडा, भय एव अज्ञान-हरण के लक्ष्य को नये क्षितिजो तक फैलाया और उपन्यास-साहित्य मे जो गतिरोध आ गया था उसे दूर किया। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यासो को आचलिक उपन्यासो की देन अभूतपूर्व ही कही जाएगी।

आचलिक शिल्प-विधि के प्रमुख गुण होते हैं स्वाभाविकता एव तीव्रता। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि आचलिक उपन्यासकार हृदय के भावो को उनकी पूर्ण सच्चाई एव गहराई मे अपने उपन्यास मे अवतरित कर देता है। ये भाव कलाकार के व्यक्तिगत गहन अनुभव से उद्भूत होते हैं। अत उनकी अभिव्यक्ति मे कई बार उपन्यासकार उन पर से नियत्रण खो बैठता है परिणाम-स्वरूप आचलिक शिल्प मे ऐसे तत्त्वो का समावेश हो जाता है जो सामान्य पाठक को अजीब सी उलझन मे डाल देते है क्योकि अनुभूति की जिस गहराई से विवरण तथा वर्णन प्रस्तुत किए गए होते है उस गहराई तक पैठ पाना प्रत्येक पाठक के लिए न तो सरल ही होता है, न स्वाभाविक ही। परिणामस्वरूप ऊपरी दृष्टि से देखने पर आचलिक उपन्यास भावाभिव्यक्तियो का एक अजीब सा भण्डार लगने लगते हैं। यह भी कहा जाता है कि विवरणो एव वर्णनो की अस्पष्टता उपन्यास की रोचकता का हनन कर देती है और पाठक ऊब जाता है। अनुभूति की गहराई मे जो कुछ लिखा जाएगा उसमे ऐसा दोष आ जाना स्वाभाविक ही है परन्तु यदि अन्य दृष्टिकोण से देखा जाय तो आचलिक शिल्प कला की आवश्यकता के अनुकूल ही ठहरता है। दोष यदि कोई माना जा सकता है तो यही कि कही-कही अनुभूति आवश्यकता से अधिक गहन हो जाती है। आचलिक उपन्यासो की यह गहनता दो रूपो मे प्राप्त होती है—प्रथम, भाव तत्त्व की गहनता जिसके उदाहरण 'रेणु' एव शैलेश मटियानी के उपन्यासो मे मिल जाते हैं, द्वितीय, विचार-तत्त्व की गहनता जिसके उदाहरण नागार्जुन एव उदय-शकर भट्ट के उपन्यासो म प्राप्त हो जाते हैं। अन्य उपन्यासकारो की कृतियो मे इन्ही तत्त्वो की गहनता के भिन्न स्तर दिखाई देते हैं। इस प्रकार अन्तरग भाव को अनुकूल बहिरग प्रदान करने की अभिलाषा आचलिक उपन्यासकार की शिल्प विधि मे उन तत्त्वो का अनजाने समावेश करा देती है जिनका केवल बौद्धिक आधार पर मूल्याकन भ्रामक हो सकता है। आतरिक और बाह्य प्रक्रियाओ का सतुलित सयोग जो शिल्प विधि कहलाता है अपने स्वाभाविक रूप मे आचलिक उपन्यासो की ही अपनी विशेष उपलब्धि है।

आचलिक उपन्यासो के जन्म, विकास, विभिन्न प्रवृत्तियो एव उपलब्धियो पर विचार करने के उपरात हमारी यह धारणा पूर्णत पुष्ट हो जाती है कि यह औपन्यासिक विधा हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक अभिनव देन है जिसका

विकास पूर्ण वैज्ञानिक है, जिसकी प्रवृत्ति समयानुकूल है तथा जिसकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। अपने विकास से इन उपन्यासो ने उपन्यास-जगत् के जिस कुहासे को दूर किया तथा जिस गतिरोध को हटाया उसे देखते हुए इनका भविष्य अत्यत उज्ज्वल दिखाई देता है। उपन्यास साहित्य की यह नवीन विधा अगणित धाराओ मे प्रवाहित होकर भूली-बिसरी, तिरस्कृत-उपेक्षित, जन-संस्कृतियो को कलाभिव्यक्ति प्रदान करेगी ऐसा विश्वास दृढ हो जाता है। भारतीय जीवन एव सस्कृति हमारे अचलो मे ही सुरक्षित है। जन-जातिया तथा आदिवासी-समाज उसके प्रतीक रूप मे ही विद्यमान है। प्रतीक भोडे अथवा अनाकर्षक हो सकते हैं परन्तु उनके तत्त्व चिर-सुन्दर हैं। इन्ही तत्त्वो का अन्वेषण आचलिक उपन्यासो का लक्ष्य होता है इसलिए यह भी स्वीकार किया जाता है कि भले ही इन उपन्यासो को आचलिक कह कर सीमित घेरे मे रख दिया जाय "किन्तु अपनी विस्तार-क्षमता और अपनी सचेतना के कारण आचलिक जैसे सीमित घेरे मे नही बाधे जा सकते एक अचल की कथा को लेकर चलने के बावजूद भी अपने मूल उद्देश्य मे पूरे देश के है।"[१]

विद्वानो का मत है कि वैज्ञानिक विकास की गति इतनी तीव्र है कि धीरे-धीरे ये अचल समाप्त हो जाएगे, इनकी सस्कृति मिट जाएगी और तब आचलिक उपन्यासो की आधार भूमि भी समाप्त हो जाएगी। आचलिक उपन्यासो का यह धूमिल भविष्य अभी बहुत दूर है क्योकि भारत मे वैज्ञानिक विकास की गति भौतिक जगत् म तो मन्द है ही भाव-जगत् म और भी अधिक मन्द है। भारतीय सस्कृति की नीव इतनी गहरी है कि ऊपरी वैज्ञानिक झझावात मे वह इतनी जल्दी डोल जाएगी, विश्वास नही होता। फिर भी यदि कभी ऐसा समय आया तो उसके पूर्व अचलो की सपूर्ण सस्कृति विभिन्न आचलिक विधाओ म अपनी समग्रता मे सकलित करली जा चुकी होगी और यह साहित्य-सकलन भविष्य के अति-वैज्ञानिक समाज को कला की एक अनुपम भेंट होगा। उस भेंट में आचलिक उपन्यास का स्थान अपने विशिष्ट गुणो के कारण सर्वोपरि होगा यह कहने मे कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। इस सुदूर भविष्य की बात छोड-कर जब निकट भविष्य पर दृष्टि निक्षेप करते है तब वह अत्यत सुन्दर दिखाई देता है क्योकि यह औपन्यासिक विधा अभी पूर्ण सजीव है, विभिन्न दिशाए उन्मुक्त है, समर्थ कथाकार विद्यमान है और अनचीन्हे अचलो की खोज अभी शेष है लक्ष्य सम्मुख है, पथ सीधा है, चरणो मे गति है, गति मे बल है, और सारा दिन चलने को पडा है—आचलिक उपन्यास पथ-भ्रष्ट नही होगा, उसकी गति मद नही होगी, अपना लक्ष्य वह प्राप्त कर लेगा, इसमे सदेह नहीं।

१ श्री सीताराम शर्मा, 'स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहि

परिशिष्ट

(अ) आधार ग्रन्थ

१ अमृतलाल नागर	सेठ बांकेमल
	बूंद और समुद्र
२ आनन्द प्रकाश जैन	आठवीं भांवर
३ उदयशंकर भट्ट	सागर लहरें और मनुष्य
	लोक परलोक
४ उपेन्द्र नाथ अश्क	पत्थर अल पत्थर
५ ओम प्रकाश निर्मल	बहता पानी रमता जोगी
६ केशव प्रसाद	कोहबर की शर्त
७ गोविन्दवल्लभ पंत	मैत्रेय
८ जगदीश चन्द्र पाण्डेय	गंगा के तट पर
९ जय प्रकाश भारती	कोहरे में खोए चांदी के पहाड़
१० देवेन्द्र सत्यार्थी	ब्रह्मपुत्र
	रथ के पहिये
	दूध गाछ
११. नागार्जुन	बलचनमा
	बाबा बटेसरनाथ
	दुखमोचन
	नई पौध
	रतिनाथ की चाची
	उग्रतारा
	इमरतिया
१२. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	फागुन के दिन चार

१३ फणीश्वरनाथ 'रेणु'	मैला आंचल
	परती परिकथा
	जुलूस
	दीर्घतपा
१४ बलभद्र ठाकुर	आदित्यनाथ
	नेपाल की वो बेटी
	मुक्तावती
१५ भैरव प्रसाद गुप्त	गंगा मैया
	सती मैया का चौरा
१६ महन्त धनराज पुरी	अविरल आंसू
१७ मनहर चौहान	हिरना सांवरी
१८ रघुवर दयाल सिंह	त्रियुगा
१९ रांगेयराघव	कब तक पुकारूं
	काका
	विषाद मठ
२० राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'	जंगल के फूल
	सूरज किरन की छांव
२१ रामदरश मिश्र	पानी के प्राचीर
२२ राही मासूम रजा	आधा गांव
२३ लक्ष्मीनारायण लाल	बया का घोंसला और सांप
२४ विवेकी राय	बबूल
२५ शानी	शाल वनों का द्वीप
२६ शिवप्रसाद सिंह	अलग अलग वैतरणी
२७ श्री लाल शुक्ल	राग दरबारी
२८ शैलेश मटियानी	चिट्ठीरसैन
	चौथी मुट्ठी
	होलदार
२९. श्याम परमार	मोरझाल
३० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'	बहती गंगा
३१ सच्चिदानन्द धूमकेतु	माटी की मूरत
३२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	सोया हुआ जल
३३ सुरेन्द्रपाल	सोन माछ माई
३४ हिमांशु श्रीवास्तव	लोहे के पंख

(आ) सहायक ग्रन्थ

(क) हिन्दी

अमृतराय	नई समीक्षा
अरविन्द गुर्टू	: हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग
आनन्द नारायण शर्मा	हिन्दी के प्रयोग कालीन उपन्यास
डा० इंदिरा जोशी	हिन्दी उपन्यासों में लोक-तत्त्व
डा० इन्द्रनाथ मदान	आज का हिन्दी उपन्यास
डा० उदयभानु सिंह	अनुसंधान का विवेचन
डा० (श्रीमती) ओम शुक्ल	हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास
श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड	साहित्य प्रवाह
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
डा० (श्रीमती) कृष्णा नाग	हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास
डा० कान्ति वर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
डा० (श्रीमती) कैलाश प्रकाश	प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास
डा० गणपत चन्द्र गुप्त	हिन्दी साहित्य समस्याएं, समाधान
डा० गणेशन	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन
गंगाप्रसाद पाण्डेय	आधुनिक कथा साहित्य
गुलाबराय	काव्य के रूप
	सिद्धान्त और अध्ययन
डा० गोपालराम	हिन्दी उपन्यास साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव
डा० गोपीनाथ तिवारी	साहित्य सरोवर
डा० गोविन्द त्रिगुणायत	शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त
गोविन्द राम	हिन्दी साहित्य और उसकी प्रवृत्तियां
डा० चण्डी प्रसाद जोशी	हिन्दी उपन्यास—समाज शास्त्रीय विवेचन
डा० चन्द्रबली सिंह	लोक-दृष्टि और हिन्दी साहित्य
जगदीश चन्द्र जोशी	हिन्दी गद्य साहित्य सर्वेक्षण
जालादि विश्वमित्र	उपन्यास कला : एक विवेचन
जैनेन्द्र कुमार	साहित्य का श्रेय और प्रेय
ताराशंकर पाठक	हिन्दी के सामाजिक उपन्यास

	उपन्यास तत्व एवं रूप विधान
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी —	साहित्य सहचर

(ख) अंग्रेजी

ABBOTT, ELIZABETH	The French Novel
ABERCROMBIE, L	Principles of Criticism
ALDRIDGE,	Modern Fiction
ALLEN, WALTER	The English Novel
ARISTOTLE	Poetics
AUSTEN WARREN & WALLEK,	Theory of Literature
BAKER, E A	The History of English Novel
BENTLEY, PHYLLIS	The English Regional Novel
BROWN, E K	Rhythm in the Novel
CARRY, MARGARET WILLY	Literature and Life
CHURCH, RICHARD	The Growth of English Novel
CONNOR FRANK O'	The Mirror on the Road Way
CONNOR, VAN O	Forms of Fiction
COOMBS, HENRY	Literature And Criticism
CROSS, W L	The Development of English Novel
DAICHES, DAVID	Novel And The Modern World
	Literature And Society
	The Written Art
DOUBLEDAY, WALTER S	Writing Advices And Devices
FINKELSTEIN, SIDNEY	Art And Society
FORSTER, E M	Aspects of The Novel
FOX, RAULF	The Novel And The People
GRIMSDITCH, H B	Character And Environment in The Novel of Hardy
HAINES, HELEN E	What s In A Novel
HOGARTH, BASIL	The Technique Of Novel Writing
HUDSON, HENRY :	An Introduction To The Study of Literature
HUXLEY, ALDOUS	The Genius And The Goddess
JAMES, HENRY	The Art Of Fiction

KENNETH, MAC NICHOL	The Technique Of Fiction Writing
LATHROP, HENRY BURROWS	The Art Of The Novelist
LAVRIN, JANKO	An Introduction To The Russian Novel
LEGOUIS, EMILE	A Short History Of English Literature
LIDDELL	Treatise On The Novel
	Some Principles Of Fiction
LUBBOCK, PERCY	The Craft Of Fiction
LUKAS, GEORGE	Studies In European Realism
MACKENZIE AGNES MURE	The Process Of Literature
MARTIN, TURNOLL	The Art Of French Fiction
	The French Novel
MUIR, EDWIN	The Structure Of The Novel
MULLER, HERBERT	Modern Fiction
MURRAY, MIDDLETON	The Problems Of Style
NEILL, S D	A Short History of English Novel
OSBORN, A F	Applied Imagination
PITKIN, WALTER B	The Art And Business Of Writing
PLEANKHANOV,	Art And Social Life
PROCTOR, S K	Theory of Literature
REED, HERBERT	The Nature Of Literature
SCOTT JAMES R A	The Making Of Literature
SOARES, ANTHONY	An Introduction To The Study Of Literature
SHERMAN, EOFF	The Modern Spanish Fiction
TOLSTOY, COUNT LEO	What Is Art
VIVIAN, FRANCIS	Creative Technique In Fiction
VOTO, BERNARD DE	The World Of Fiction
WAGNEKNECHT,	Cavalcade Of English Novel

WALPOLE, HUGH : Tendencies Of Modern Novel
WALSH, W. . The Use Of Imagination
WARREN, ROBERT PENN : Fundamentals Of Good Writing
WEST, PAUL The Modern Novel
WORSFIELD, W.B Judgment In Literature

(इ) कोश एवं विश्व-कोशादि

(१) हिन्दी

हलायुध कोश (ग० १८७६ शकाब्द) सम्पादक जयशंकर जोशी
पद्मचन्द्र कोश (सन् १९२५) ,, प० गणेशदत्त शास्त्री
द प्रैक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (सन् १८९०) ,, वी० एस० आप्टे
द संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (सन् १९६३) ,, सर मोनियर विलियम
आदर्श हिन्दी संस्कृत-कोश (स० १९५७) ,, प० रामस्वरूप शास्त्री
हिन्दी राष्ट्र-भाषा कोश (सन् १९५२) ,, श्रीवास्तव एव चतुर्वेदी
भाषा शब्द कोश (सन् १९३७) ,, प० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
वृहत् हिन्दी कोश (स० २००९) ज्ञान मण्डल लिमिटेड बनारस
हिन्दी साहित्य कोश (स० २०२०) ज्ञान मण्डल वाराणसी
मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड) सन् १९६५ सम्पादक डा० नगेन्द्र
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) स० २०१७ ,, राहुल सांकृत्यायन एव डा० कृष्णदेव उपाध्याय
पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (सन् १९५९) चौखम्बा सीरीज
समसामयिक हिन्दी साहित्य (सन् १९६७) साहित्य अकादमी प्रकाशन

(२) अंग्रेजी

The Oxford English Dictionary.
The American College Encyclopedic Dictionary Vol II.

The World Book Encyclopedia Vol XV
The Encyclopedia Americana
Dictionary of World Literary Terms
The Oxford Companion to American Literature
Webster s New Twenteeth Century Dictionary
Reader s Encyclopedia of American Literature
Encyclopedia Britannica Vol XVI
The Imperial Gazetteer Of India Vol VII